लक्ष्मीकान्त वर्मा

नयी कविता के प्रतिमान

नयी

कविता

:

प्रतिमान

अनुक्रमणिका

तथा

कविता के प्रतिमान

★ परिप्रेक्ष्य

▲ नये धरातल

● मानववाद

⊙ मूल्यान्वेषण

लेखक :

लक्ष्मीकान्त वर्मा
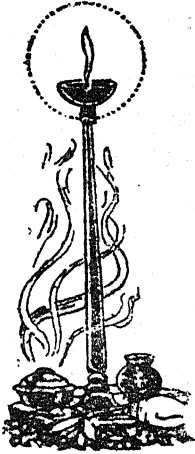
भारती प्रेस प्रकाशन

१०, दरभंगा रोड

इलाहाबाद ।

सावी को

उन काफी के प्यालों के उपलक्ष्य में

जिनके सहारे गृहस्थी की

चिन्ताओं से लेकर

साहित्यिक मूडों तक में रम

लेता हूँ

पुरोवचन

कई वर्षों से इस बात की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है कि नयी कविता के विकास के साथ-साथ उसका विवेचनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया जाय ताकि वे नये संदर्भ और नये भाव-स्तर समझे जा सकें जिनके आधार पर आधुनिक कवि की भावना परम्परागत शिल्प और कथ्य से पृथक् सर्वथा नये धरातल विकसित करना श्रेयस्कर समझती है। समय-समय पर आलोचकों की विचित्र और विभिन्न सम्मतियों को पढ़ते रहने से और उनके निष्कर्षों में निहित अपूर्ण और एकांगी सम्मतियों से मैं यह अनुभव करता रहा हूँ कि नयी कविता की आन्तरिक अथवा मूल प्रेरणा पर ध्यान न देकर बहुधा हमारे आलोचक इधर-उधर की बातों में उलझ जाते हैं और उसकी वास्तविक भाव-स्थिति को नहीं समझ पाते अथवा समझने की चेष्टा ही नहीं करते। किसी भी नयी प्रवृत्ति के विरुद्ध ऐसी प्रतिक्रिया का होना हमारे लिए कोई नयी बात नहीं है। साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसके प्रत्येक नये मोड़ के प्रति आलोचकों ने सन्देह प्रकट किये हैं, किन्तु उन मोड़ों में यदि ईमानदारी और सच्चाई रही है तो उन्हों ने कटु से कटु आलोचना के बावजूद भी अपना नया मार्ग प्रशस्त किया है। इसीलिए प्रवृत्ति से सहसा चौंकने वाले आलोचकों के लिए अधिक न्याय-संगत यह बात होगी कि वे उसकी गहराई में व्याप्त उन यथार्थ स्थितियों पर भी दृष्टिपात करें जिन से आन्दोलित होकर नयी भावाभिव्यक्ति को विकसित होने का

अवसर मिलता है। कोई भी प्रवृत्ति निर्मूल नहीं होती। उसकी मूल भावना सदैव सामाजिक एवम् सांस्कृतिक स्तरों में निहित होती है। उसके यथार्थ का आग्रह स्वयम् इतना सशक्त होता है कि उस से बचना उसकी यथार्थ सत्ता को अस्वीकार करना है। आज की नयी कविता की सशक्त प्रवृत्ति को जो इस दृष्टि से न देखकर केवल अपनी दृष्टि से सम्मतियाँ दे देते हैं वे यही नहीं कि उसकी मूल भावना के प्रति न्याय नहीं करते वरन् पूर्वाग्रहों द्वारा परिचालित होकर सर्वथा असंगत सत्यों का पृष्ठपोषण करते हैं। नयी कविता कोई आन्दोलन नहीं है : वह एक साहित्यिक प्रवृत्ति है जिस में आज का भावबोध अधिक व्यंजना के साथ अभिव्यक्ति पाता है।

मेरे कहने का यह आशय नहीं है कि नयी कविता में दोष नहीं है अथवा नयी कविता के नाम से जितना लिखा जा रहा है वह सब उच्च कोटि का साहित्य है। जैसे किसी भी साहित्यिक कृति में अच्छाइयाँ-बुराइयाँ होती हैं वैसे ही नयी कविता में भी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ दोनों ही हो सकती हैं। त्रुटियों की आलोचना और साहित्यिक आलोचना तो एक बात हुई किन्तु ऐसी आलोचना जिस में साहित्यिक दृष्टि की सीमायें झलकती हैं अथवा जिस में नयेपन के नाम से चौंकने की प्रवृत्ति मिलती है नयी कविता को समझ न सकने के कारण भी बहुधा ग़लतियाँ कर जाती है। वे जो नयी प्रवृत्ति को आँकने का कष्ट नहीं करते और आँकने के साथ-साथ जो नयी प्रवृत्तियों में निहित को देखने से इन्कार करते हैं वे स्वयम् भी बड़ी भूल करते हैं और उसकी सहजता और स्वाभाविकता को भी नहीं आँक पाते। बहुत सी चीज़ें जो अधूरी अधकचरी आलोचना की शिकार हो कर प्रस्तुत होती रही हैं उनके साथ मुख्य दुर्घटना मात्र इस कारण घटित होती रही है कि आज के भावबोध को उन्हीं मानदण्डों से देखने की कोशिश की जाती रही है जो आज के विकसित यथार्थ और दृष्टिकोण को वहन करने में असमर्थ रहे हैं। नयी कविता को उचित मात्रा में सहानुभूति न मिलने का एक यह भी कारण रहा है कि उसकी मूल प्रवृत्ति विद्रोह की प्रवृत्ति रही है। प्रवृत्ति के पीछे जहां अन्य कारण रहे हैं वहीं सब से बड़ा कारण यह रहा है कि नयी कविता ने यथार्थ की प्रकृति के साथ-साथ अनुभूतियों की समसामयिकता और उनके मानवीय पक्ष को सबल रूप में स्वीकार किया है। इसके विपरीत नयी कविता के पूर्व के समस्त आन्दोलन ने उदात्त और निरपेक्ष तत्त्वों को इतना महत्त्वपूर्ण मान लिया था कि उसके समक्ष कलाकार की ईमानदारी और सच्चाई को नये परिवेश में व्यक्त होने में सर्वथा रूढ़िगत आक्षेपों का सामना भी करना पड़ा है। आज जिस तेज़ी और वेग से नयी कविता का स्वर अधिक पुष्ट हो कर उभर रहा है उसका मात्र कारण यह है कि उसमें मानवीय तत्त्व अत्यधिक हैं और इसी कारण वह केवल सामान्य की वस्तु न होकर व्यक्ति-सत्य और मानवीय संवेदना

का सत्य बन कर अधिक अपनाप के साथ उभरा है। जीवन की असीमता की अपेक्षा नयी कविता ने उसके विराटत्व को मानवीय संबोधन एवम् उद्‌बोधन के रूप में यथार्थ की सापेक्षता के साथ अपनाया है। इसीलिए वह शाश्वत सत्य न होते हुए भी स्थिति-सत्य तो है ही और स्थिति-सत्य के समक्ष जीवन जिस किसी भी रूप में ग्राह्य होता है उसका ऐतिहासिक महत्त्व अपने आप बन जाता है। नयी कविता इसी ऐतिहासिकता के नाते हज़ारों रुकावटों के बावजूद दिनों-दिन अधिक सशक्त होती जा रही है।

अस्तु, हो सकता है कि नयी कविता के प्रतिमानों से सम्बन्धित यह पुस्तक बहुतों को पसन्द न आये; साथ ही यह भी संभव है कि गुरु गंभीर आलोचक इस में किसी विशेष शास्त्रीय गुण-दोष को दृष्टि में रख कर इस से कोई बड़ी आशा करें; किन्तु जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं इस पुस्तक को शास्त्रीय पुस्तक की अपेक्षा एक कृतिकार का दृष्टिकोण कहना ही अधिक उचित समझूंगा। स्वयं कवि होने के नाते मेरी भी कुछ धारणायें हैं जिन के कारण मैं आज की कविता को महत्त्व-पूर्ण समझता हूँ। मैं यह मानता हूँ कि आज के यथार्थ को अभिव्यक्ति पाने का यह एक मात्र साधन है। जब मैं यह कहता हूँ तो मेरा मतलब यह होता है कि आज की तेज़ गति (high tempo) काल जीवन के उपयुक्त न तो छाया-वाद का छन्द वहन कर सकती है न प्रगतिवाद का नारा। नयी कविता का अधिकांश जो इतना बिखरा-बिखरा सा लगता है उस के पीछे मानव-संघर्ष की वह स्थिति है जहाँ रीति, व्यवस्था, और क्रम-अनुक्रम की परम्परागत रूढ़ि को तोड़ना आवश्यक हो जाता है; क्योंकि बिना उसके टूटे नया अनुक्रम, नयी व्यवस्था देश की संगति के साथ अपना योग नहीं स्थापित कर सकती। नयी कविता का बिखराव एक नयी व्यवस्था और नयी अभिव्यक्ति की अकुलाहट है, उसका प्रयोग प्रगति का प्रतीक है और उसका रूखापन अथवा परम्परा से भिन्न उसका व्यापन स्वयम् में एक रस की सृजनानुभूति है।

आज के नये कवि के साथ कई प्रकार की विडम्बनाएँ एक-साथ कार्य करती हैं जिनमें से ● सर्वप्रथम तो यह है कि नयी कविता की विषय-वस्तु, उसकी आत्मा, उन समस्त मानव संघर्षों को स्वीकार करके आगे बढ़ी जो अत्यधिक आधुनिक थी। यह आधुनिकता का भावबोध ही था जिसने उसे उन सब परम्पराओं से वि-द्रोह करने के लिये बाध्य किया जो केवल एक मुरदे के से जीवन और उसके चारों ओर एक प्रकार की मिथ्या कला-व्यंजना के रूप में जीवित थीं। इसीलिए

● दूसरे यह कि नयी कविता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए उन प्रतीकों, बिम्बों और साधनों का प्रयोग किया है जो यथार्थ जीवन से उपजे हैं और जिनका सीधा सम्बन्ध उस वैयक्तिक भावस्तर से है जो प्रत्येक क्षण के सार्थक अस्तित्व के

साथ हमें आन्दोलित करता रहता है । हो सकता है कि सर्वथा नये होने के कारण आज यह उतने प्रेषणीय न हों; किन्तु दो बातों के प्रति सन्देह नहीं किया जा सकता—एक तो यह कि इन के नयेपन का अधिकांश काव्य-गुण-सम्पन्न है और दूसरे यह कि इन्हों ने नये शब्दों और भाव भंगिमाओं को स्वीकार करके अनुभूतियों को नया स्तर दिया है ।

● तीसरे यह कि नयी कविता के साथ उसका विश्वास उस मानव के प्रति है जो बड़ा भले ही न हो किन्तु लघु होने के साथ-साथ अपने प्रति जागरूक है। हो सकता है आज उसकी प्रत्येक बात नयी मालूम हो; किन्तु इस नयेपन में जो चीज़ सर्वथा नये रूप से विकसित हो रही है वह है इस लघुमानव और उसके परिवेश की प्रतिष्ठा-स्थापना । यह स्थापना आज के देश-काल को देखते हुए ऐतिहासिक दायित्व है जिसे आज की जर्जर मानवता एक बार नये तेवर के साथ उभारना चाहती है । हो सकता है कि इसकी दृष्टि में कुछ कमियाँ हों जो समय के साथ और निखर कर उभरें; किन्तु जो बात नितान्त सत्य है वह है इसकी प्रेरणा जिस के प्रति अविश्वास नहीं किया जा सकता ।

● चौथे यह कि नयी कविता का मूल भाव-स्रोत उस मनोवैज्ञानिक स्थिति के समर्थन से विकसित हुआ है जिसमें गत दो दशकों के बीच मानव इतिहास ने दो भयंकर युद्धों का साक्षात्कार किया है और उस साक्षी के नाते यह अनुभव किया है कि कहाँ-कहाँ किन-किन स्थलों पर पुराने मूल्य टूटे और बिखरे हैं और कहाँ-कहाँ सामाजिक सांस्कृतिक एवम् वैयक्तिक धरातलों पर मानव-सम्मान को अपमानित होना पड़ा है । हो सकता है इस संघर्ष की उपलब्धियाँ तीखी हों और उनका तीखापन कटु हो; किन्तु इस कटुता के पीछे जो आत्म-विह्वलता है वह मूल्यवान् है । इस विह्वलता में शंका, सन्देह और विदग्ध आत्मवेदना भी हो सकती है; किन्तु इन सब में एक बात स्पष्ट है कि आज की मानव-आत्मा अधिक आत्मविश्वास और आत्मसम्मान के प्रति जागरूक है ।

● पाँचवे यह कि नयी कविता के लघु परिवेश में उस छोटे से छोटे क्षण के प्रति भी आस्था है जिसे अब तक महत्त्वहीन समझ कर मानव इतिहास ने अवहेलनाकी दृष्टि से देखा था । जीवन के प्रवाह में इन महत्त्वपूर्ण क्षणों का औचित्य आज के सौन्दर्यबोध और भावबोध को अधिक व्यापकता और बहुलता प्रदान करता है । जीवन की यह दृष्टि और इस से सम्बद्ध उसकी उपलब्धियाँ उन समस्त कुण्ठाओं का परिष्करण भी करती है जो अन्यथा रूप में हमें यथार्थ से वंचित करके जीवन को मात्र एक भटकाव में उलझाने में समर्थ रही हैं ।

● छठे यह कि नयी कविता की विषय-वस्तु और उसका भाव-स्तर मिथ्या कला-प्रियता की अपेक्षा उस सत्य को कहीं श्रेयस्कर समझता है जो

महान् न होते हुए भी मानवीय हो सकता है । हो सकता है कि आज की कविता में कई चोटियाँ न दिखलाई पड़ें जिन्हें हम आरोह की प्रज्वलित शिखायें कह सकें, किन्तु यदि वे खण्ड दीपकों की टिमटिमाती लौ के समान पृथ्वी की ओर उन्मुख हैं तो निश्चय ही प्रकाश के इस पुंज का आलोक अधिक विस्तार पा सकेगा । आज के जीवन में चोटियों की अपेक्षा विस्तार की समानता की मांग अधिक तीव्र है । यदि यह समानता जीवन से अनुप्राणित है तो मुझे शिखरों का मोह नहीं लगता ।

यह तो हुई नयी कविता के मूल तत्त्वों से सम्बन्धित बात जिसने स्वयं एक कवि के नाते मुझे बार-बार इस बात की प्रेरणा दी कि मैं नयी कविता के विषय में कुछ ऐसा करूँ जिस से आज के मानव की मनःस्थिति और उन मनःस्थितियों में से विकसित काव्य के विभिन्न रूपों और माध्यमों को समझने का अवसर मिले; किन्तु शायद यह पुस्तक अधूरी ही रह जाती यदि मेरे मित्रों का प्रोत्साहन और उनका सहयोग न मिला होता । साहित्यिक स्तर पर श्री विजयदेव नारायण साही के लेख "नितान्त समसामयिकता का दायित्व" और डा० धर्मवीर भारती के लेख "साहित्य की नयी मर्यादा" का मैं साभार ऋणी हूँ जिन्होंने मुझे न केवल प्रेरणा वरन् मेरी अनुभूतियों को अधिक मुखर होने में सहायता भी दी है । यद्यपि इन दोनों लेखों ने दो विभिन्न स्तरों पर आधुनिक समस्याओं को उठाया है फिर भी इनके भीतर मुझे वह तड़प मिली है जिससे मैं अपनी इस पुस्तक को वर्तमान रूप देने में सफल हुआ हूँ । पुस्तक के गुण-दोष के विषय में पाठक एवम् साहित्य से रुचि रखने वाले मर्मज्ञ जानें । मैंने तो केवल अपने विचारों को एक आकार देने का प्रयास किया है । किया भी इसलिए नहीं कि मुझे नयी कविता की वकालत करनी थी, वरन् इस से भी अधिक यह कि मुझे आज के संदर्भ में व्याप्त जीवन-दृष्टि के प्रति आस्था है और मैं इस आस्था के प्रति अपना यह दायित्व समझता हूँ कि उसके तत्त्वों को जिस सीमा तक मैं समझ पाया हूँ वहाँ तक हिन्दी के पाठकों के सामने रखूं और उनका समर्थन एवम् विवेचन भी कर सकूं : उस नयी शक्ति को योग दे सकूं जो इतनी तीव्रता से अनेक संभावनाओं को लेकर विकसित हो रही है । जैसा कि मैंने ऊपर कहा है मेरे लिए नितान्त समसामयिक होकर अपने दायित्व को निभाने की धारणा—चाहे वह कितनी महत्त्वहीन क्यों न हो—अधिक मूल्य रखती है । इसीलिए मेरा यह दावा नहीं है कि मैं कोई शाश्वत ग्रंथ लिख रहा हूँ। मैं यह मानता हूँ कि शाश्वत ग्रंथ लिखने की आस्था न तो मानव-प्रगति में रहती है और न भविष्य में । मैं यह मान कर चलता हूँ कि मानव भविष्य अधिक जागरूक होगा और आज हम जिस सीमा तक सोच सके हैं अथवा जिस सीमा तक मेरे विचार आज विकसित हो सके हैं आगे चल कर निश्चय ही और अधिक विकसित होंगे । अस्तु वे आलोचक जो मेरी इस छोटी सी कृति को इस दृष्टि

से देखने का प्रयास करेंगे, संभव है कि उनको निराश होना पड़े; किन्तु जो आज के संदर्भ में इस पुस्तक को देखने की कृपा करेंगे हो सकता है वे मेरी छोटी स्थापनाओं से सहमत हों—यद्यपि मेरा आग्रह किसी के भी प्रति नहीं है और न उसके प्रति मेरा कोई मोह है।

एक बात जो इस सम्बन्ध में मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ वह है मेरी भाषा की सीमाओं और उसकी कमियों की। जिन दिनों ये लेख क्रमबद्ध रूप में 'राष्ट्रवाणी' में छप रहे थे कुछ पत्रों में मेरी भाषा के चक्करदार अथवा घुमावदार होने की टिप्पणियाँ छपी थीं और प्रेस में प्रतिलिपि देने के पूर्व मैंने एक बार इस पर पुनः विचार भी किया था; किन्तु मैं बार-बार इस निष्कर्ष पर पहुँचता रहा हूँ कि दोष भाषा का उतना नहीं है जितना उन विचारों का है जिन के साथ जीता-जागता हुआ मैं रहता आया हूँ। मेरे सामने मूल कठिनाई यह रही है कि मैं पुरानी शब्दावली से संतुष्ट नहीं हो पाता हूँ—कुछ तो इसलिए कि उनके साथ कुछ रूढ़ियाँ इतनी चिपकी हुई हैं कि उन से मुक्ति पाना कठिन है, और कुछ इसलिए कि नये भावों की विवेचना में कुछ नये शब्द अपने-आप उभर कर आ जाते हैं जो शायद काफ़ी हद तक उस संदर्भ को वहन करने में समर्थ भी होते हैं जो आवश्यकतानुसार विकसित हो कर प्रयुक्त होता है। कुछ तो रूढ़ियों से बचने के लिए और कुछ नयी भावनाओं को अधिक स्पष्ट रूप देने के लिए मेरी भाषा कहीं कहीं चक्करदार लग सकती है; किन्तु मैं नहीं मानता। मेरे एक सहज बन्धु ने कहीं यह भी लिखा था कि अंग्रेज़ी के शब्दों को हिन्दी में रूपान्तरित करने का मेरा यह प्रयास ग़लत और असंगत है। मैं उनसे सहमत नहीं हूँ क्योंकि मैं भाषा की इस सीमित संकीर्णता का समर्थक नहीं हूँ। मैं यह मानता हूँ कि शब्दों का रूपान्तरण हमारी भाषा को समृद्ध ही बनायेगा। इस समृद्ध शक्ति में बिरादरी और ग़ैरबिरादरी का प्रश्न उठता ही नहीं।

किन्तु मेरी लापरवाहियों और बहकावों के बावजूद भी 'राष्ट्रवाणी' के सम्पादक श्री वसंतदेव ने जिस सहृदयता का परिचय देकर पुस्तक के अधिकांश को अपने पत्र में क्रमशः छापते रहने का धैर्य दिखाया है उसे मैं शायद ही भूल पाऊँ। अनेक मित्रों के शाब्दिक एवम् हार्दिक प्रोत्साहनों के लिए चिर आभारी होते हुए भी उन्हें धन्यवाद देने की धृष्टता नहीं कर सकता क्योंकि ये सब मेरे इतने निकट हैं कि आभार प्रकट करने में भी मुझे संकोच हो रहा है। पुस्तक की प्रतिलिपियों के कुछ अंशों को पुनः पढ़ने और सुझाव देने के लिए भी अपने मित्रों का, विशेषकर रामस्वरूप चतुर्वेदी और डा० रघुवंश और डा० जगदीश गुप्त का

आभारी हूँ। समय-समय पर सहानुभूति रखने वाले मित्रों और परिचितों को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्हों ने अपनी चेतावनियों से मुझे सदैव सतर्क रखने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में मैं डा० धर्मवीर भारती को स्मरण करना नहीं भूलूँगा जिनकी मधुर चुनौतियाँ और बार-बार उकसाने की प्रवृत्ति मुझे इतना सक्रिय बना सकी कि मैं इस कार्य को भूमिका लिखने के अन्तिम दायित्व तक निभा सका।

अंत में मैं एक बार डा० हरदेव बाहरी के सुपुत्र देवेन्द्र बाहरी के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ जिन्हों ने इस पुस्तक को प्रकाशित करने में विशेष रुचि और तत्परता से कार्य कर के मुझे विशेष रूप से अनुगृहीत किया है। स्वयं डाक्टर साहब ने प्रेस कापी तैयार करने से लेकर उसको सम्पूर्णतः प्रस्तुत करने तक में जिस धैर्य का परिचय दिया है उसकी मुझे आशा नहीं थी।

प्रस्तुत पुस्तक से किसी का उतना लाभ हुआ हो या न हुआ हो, मैं स्वयम् इसे अपने अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण अंश मानता हूँ। इस पुस्तक को तैयार करने में मुझे जितना भी अध्ययन करना पड़ा उससे मुझे इतना लाभ हुआ है कि मैं उसका आभार कैसे प्रगट करूँ यह मेरी समझ में नहीं आता। प्रयाग विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी और डाक्टर बाहरी द्वारा उसको प्रयोग करने की सुविधा यदि न मिली होती तो शायद मैं इस ओर साहस भी न करता। एक बार फिर मैं इन समस्त समर्थनों और प्रोत्साहनों को स्वीकार करते हुए अपने ही को धन्यवाद देता हूँ—कि आखिर कुफ़ टूटा.....चाहे वह तलछट ही क्यों न हो.......

अस्तु...

सरजू कुटीर — लक्ष्मीकान्त वर्मा

मधवापुर, इलाहाबाद

१, श्रावण, २०१४

प्रथम खंड

परिप्रेक्ष्य

[१]

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

नयी कविता की पृष्ठभूमि में जिन विशाल बौद्धिक सांस्कृतिक और सामाजिक अन्तर्द्वन्द्वों, संघर्षों एवं चेतना-शक्तियों का योग रहा है उनकी व्याख्या किये बिना आज की नवीनतम प्रवृत्तियों की व्याख्या करना कठिन ही नहीं असंभव भी है। गत दो शतकों का साहित्य तो हमारी राजनीतिक और सामाजिक उथल-पुथल का ही प्रतिरूप है। इसके पूर्व का साहित्य भी उस बौद्धिक जागरण से विकसित हुआ है जिस में पुनरुत्थान, नवीन संगठन, नये दृष्टिकोण और नयी योजनाओं के स्वप्न देखे गये थे और जिन को सत्य करने के लिए कई पीढ़ियों ने अपने बल, साहस और अनुभूति का योग दिया है। यही कारण है कि आज के आधुनिकतम साहित्य से लेकर पिछले पांच शतकों के साहित्य में वे सभी तत्त्व मिलते हैं जिन में अर्द्धशताब्दी के मानसिक और सांस्कृतिक प्रयोगों और कुण्ठाओं की जागृत अभिव्यक्ति वर्तमान है। इन सब के माध्यम से ही आज की काव्य-प्रवृत्तियों और कला की मान्यताओं का सम्पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। देश, समाज और व्यक्ति की पृथक्-पृथक् समस्याएँ पृथक्-पृथक् रूप में व्यक्त हुई हैं और इन सब का मिश्रित प्रभाव हमारे साहित्य पर एक विचित्र रूप में पड़ा है। एक ओर यदि भारत-भारती के गीत हैं तो दूसरी ओर बंगला-साहित्य से प्रभावित एक नयी शैली और शिल्प है जिसमें रहस्यवाद है, छायावाद का स्वतन्त्र अस्तित्व है, नयी शब्द-योजना और नया छन्द-विन्यास है। एक ओर पुनरुत्थान

की भावना से इतिहास के स्वर्ण-युग की मान्यताएँ प्रसाद के नाटकों में व्यक्त हुई हैं तो दूसरी ओर अंग्रेज़ी-साहित्य से प्रभावित रोमैन्टिक कविताएँ हैं। राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति, वर्ग-संघर्ष, आदर्शवादी प्रवृत्तियां एक ओर जिस मानसिक स्थिति का निरूपण करती हैं वहीं दूसरी ओर उमर ख़ैय्याम के जीवन-दर्शन, हाला, प्याला का भी वर्णन है। कहीं राष्ट्रीय चेतना की कुण्ठा ने यदि घोर साहसिकता-वादी (adventurist) प्रवृत्तियों को जन्म दिया है तो वहीं ठीक उसी समय घोर निराशावादी प्रणय-गीत भी हैं। इसलिये आधुनिक हिन्दी-काव्य का वह स्रोत जो इन सब स्थितियों और प्रवृत्तियों से हो कर बहता है उसका सही और वैज्ञानिक दृष्टिकोण उस समय तक प्रस्तुत नहीं किया जा सकता जब तक इन सब का एक सन्तुलित अध्ययन हमारे सामने न आ जाय।

सर्वप्रथम भारतेन्दु-युग से जिस राष्ट्रीय चेतना ने जन्म लिया था और जिस के अन्तर्गत खड़ी बोली का गद्य-रूप प्रस्तुत हुआ था उस का एक विशेष महत्त्व है। रीतिकालीन मध्ययुगीन ब्रजभाषा का रूप गद्य के अनुपयुक्त तो था ही, पद्य में उस की अभिव्यक्ति रीति-नीति के बन्धनों में पड़ जाने के कारण तत्कालीन समस्याओं की पूर्ति में असफल थी। साहित्य में जिस रस, अलंकार और उद्बोधन को स्वीकार किया गया था उस का अभ्यास जीवन के व्यापक सत्यों और यथार्थ अनुभवों से पृथक् हो चुका था। न तो बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वह मध्यकालीन परम्पराएँ ही चल सकती थीं और न उनमें इतना दम ही था कि वह नयी चेतना को दबा कर पनप सकतीं। भारतेन्दु जी ने स्वयं खड़ी बोली को गद्य-रूप में स्वीकार कर लिया था किन्तु पद्य के क्षेत्र में वे परम्पराओं को तोड़ने में असमर्थ रहे; किन्तु ठीक वहीं यह विरोध था कि क्या साहित्य में गद्य और पद्य की भाषाएँ पृथक्-पृथक् रक्खी जा सकती हैं? इसका निराकरण हमें द्विवेदी-युग में मिलता है जब गद्य के साथ ही पद्य भी खड़ी बोली में लिखा जाने लगा और उसका विकास हुआ।

खड़ी बोली में पद्य-रचना का जहां अपने में एक नया प्रयोग था वहीं वह उस मानसिक स्थिति और बौद्धिक जागरण का भी प्रतीक था जिसके कारण देश में एक नयी चेतना की लहर दौड़ रही थी। यह बौद्धिक जागरण आधुनिकता की मांग थी और उस समस्त कलेवर को उतार फेंकने का प्रयास था जिस में तत्कालीन भाव और अनुभूतियां घुट रही थीं, एक नये पथ के अन्वेषण में तल्लीन होकर भी जो अपना रास्ता नहीं बना सकती थीं।

यह बौद्धिक जागरण भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम की प्रथम क्रान्ति के बाद से ही प्रारंभ होता है। सन् १८५७ का विद्रोह ऐतिहासिक रूप से राष्ट्रीय भावना का प्रदर्शन था जिस में स्वाभिमान, आत्म-गौरव, आत्माभिमान की भावना निहित थी। साहित्य पर इसका प्रभाव यों तो भारतेन्दु-युग में मिलता है किन्तु इस के पूर्व स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस भाषा में धार्मिक ग्रन्थों का भाष्य और टीका किया था उस में भी हिन्दी खड़ी बोली को प्रतिष्ठा मिल चुकी थी। आर्य-समाज ने यद्यपि धार्मिक आन्दोलन चलाया था और उस में आर्य-जाति की सत्ता को प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया था, किन्तु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वह एक बौद्धिक जागरण का प्रतीक था जिस में विभिन्न जातीय और कुल वैभव की अपेक्षा एक जाति, एक धर्म और एक संस्कृति की मांग की गयी थी। यह एक बौद्धिक जागरण का भी युग था क्योंकि इस विशिष्ट विचारधारा को प्रतिष्ठापित करने के लिये वेदों और उपनिषदों का अध्ययन, तथ्य और मिथ्या की खोज, रूढ़ियों का खण्डन, प्रगतिशील मानवीय भावनाओं का प्रतिष्ठापन भी किया गया था। आर्य-समाज ने वस्तुतः उस चेतना का सूत्रपात किया जिस में समस्त राष्ट्रीय भावनाओं के अंकुर प्रौढ़ हो रहे थे और एक बौद्धिक क्रान्ति का आन्दोलन उठ रहा था।

ब्रह्म-समाज ने एक सर्वथा नयी विचार-धारा को प्रश्रय देकर एक विशाल मानवतावाद को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया जो आर्यसमाज-आन्दोलन से सर्वथा भिन्न था एवं जो बौद्धिक रूप से आर्यसमाज-आन्दोलन से कहीं उदार और विशाल फलक पर आधारित था। किन्तु इसमें भी कहीं-कहीं विरोधाभास था और सबसे बड़ी त्रुटि यह थी कि समय को देखते हुए यह एक सर्वथा आधुनिक, संस्कार-रहित-सा आन्दोलन प्रतीत होता था। वर्णाश्रम के प्रति साधारण जनता में श्रद्धा और विश्वास था; इसलिये वह केवल कुछ बौद्धिक और पढ़े लिखे लोगों तक ही सीमित रहा। उस का विकास जनसाधारण में नहीं हो सका। किन्तु इस विचार-धारा ने मध्यवर्ग के चिन्तनशील समाज को प्रभावित किया और एक नयी निष्ठा लेकर आगे बढ़ने में इसने योग प्रदान किया। परोक्ष रूप से इसने भारतीय जीवन में उदार मनोवृत्तियों का प्रतिष्ठापन ठीक उतनी ही तीव्रानुभूति के साथ किया जितना कि आर्य-समाज ने पुनरुत्थान की दिशा में किया।

राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना ने जहां राजनीतिक और नागरिक अधिकारों के लिये अपना संगठन किया वहीं साहित्यिक क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उस साहित्यिक आन्दोलन का सूत्रपात किया जो परम्पराओं से भिन्न एक नयी चेतना का प्रतीक था। नायक-नायिका-भेद, अलंकार ग्रन्थों के सृजन की भावना के

अतिरिक्त साहित्य में भारतवर्ष की दुर्दशा का भी वर्णन होने लगा। पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित नवीन पद्धतियों का भी अनुकरण किया गया और हिन्दी साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों का विकास हुआ।

● राष्ट्रीय भावना का प्रतिष्ठापन भारतेन्दु जी ने ही किया और स्वयं उन्होंने तत्कालीन समस्याओं और परिस्थितियों में राष्ट्रीय भावनाओं की शिथिलता को साहित्य क माध्यम से अंकित करने की चेष्टा की। सर्वप्रथम ही साहित्य में यथार्थ-दर्शन का प्रयास किया गया और उन सभी विक्षिप्त तत्त्वों का विवेचन भी हुआ जिनमें हमारी राष्ट्रीय भावनाएँ कुण्ठित एवं पतित हो रही थीं।

● आलोचनात्मक गद्य का भी विकास भारतेन्दु जी के काल में ही हुआ। साहित्यिक मूल्यों का सर्वथा नवीन संस्करण प्रस्तुत करने का प्रयास भारतेन्दु जी के तत्कालीन लेखों में मिलता है। उर्दू-साहित्य का गद्य और पद्य उस समय तक काफी प्रौढ़ रूप में सामने था और उसके समक्ष हिन्दी के गौरव की प्रतिष्ठा के लिए विभिन्न प्रकार का गद्य लिखने का भी प्रयास किया गया। यही नहीं; यात्राएँ, डायरी इत्यादि जो आधुनिक साहित्यिक रूप माने जाते हैं उनका भी प्रयोग किया गया।

● खड़ी बोली के स्फुट प्रयोग स्वयं भारतेन्दु जी की रचनाओं में मिलते हैं। व्यंग, हास्य, विनोद और लास्य में भी खड़ी बोली के प्रयोग हुए हैं। इससे तो स्पष्ट ही हो जाता है कि उस समय तक वे आधुनिक तत्त्व हिन्दी साहित्य में प्रस्तुत हो चुके थे जिनका आधार आधुनिक साहित्यिक आन्दोलन के लिए आवश्यक था।

● जातीय गौरव एवं आत्माभिमान की अभिव्यक्ति साहित्य में विभिन्न प्रकार से हुई:—

(१) देश—दशा—वर्णन के रूप में;
(२) अतीत की गौरव-गाथा में; एवं
(३) आत्म—प्रवंचना के रूप में।

फलस्वरूप हिन्दी साहित्य में और भारतीय जीवन में नये सिरे से जीवन, धर्म, ज्ञान, शिक्षा, विद्या, रीति, नीति, आचार-विचार को समझने और जानने की प्रवृत्ति बढ़ी और इस प्रवृत्ति ने पृथक्-पृथक् रूपों, भिन्न परिस्थितियों और सर्वथा नवीन मान्यताओं को स्थापित किया। आर्य-समाज ने गुरु-कुलाश्रम, पुनरुत्थान-वादी प्राचीन पद्धति को स्थापित करने के लिए एक

अखिल भारतीय आन्दोलन चलाया। स्थान-स्थान पर डी० ए० वी० स्कूलों की स्थापना की गयी। आर्य-समाज के वाचनालय, पुस्तकालय स्थापित किये गये। प्राचीन वैदिक साहित्य के अनुवाद, भाषान्तर और रूपान्तर प्रस्तुत किये गये जिसका परिणाम यह हुआ कि समस्त बौद्धिक जागृति को चिन्तन और मनन सूत्र के साथ-साथ एक कल्पना भी मिली जिसने उनको गौरव और आत्म-सम्मान के अतिरिक्त स्वाभिमान भी प्रदान किया।

एक दूसरा आन्दोलन भी ठीक इसी समय विकसित हुआ जिसमें पौराणिक और ऐतिहासिक महापुरुषों की जीवनी, उनके चरित्र और इस प्रकार की कृतियों को प्रोत्साहन दिया गया। स्वयं भारतेन्दु जी ने कृष्ण को उपास्यदेव के रूप से अधिक राष्ट्र-नायक के रूप में स्थान-स्थान पर चित्रित किया है। यह आन्दोलन आर्य-समाज के आन्दोलन के बाद उठा और कुछ अंशों में यह आर्य-समाज के आन्दोलन से इस अर्थ में भिन्न भी था कि इसमें पौराणिक और ऐतिहासिक नायकों को भगवान् के अवतार के रूप में न चित्रित कर के उनका मानवीय चित्रांकन किया गया और उनके माध्यम से उन समस्त मानवीय भावनाओं को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की गयी जो समय के लिये आवश्यक थीं।

बंगला साहित्य के माध्यम से और अन्य प्रान्तीय साहित्यिक आन्दोलनों से हिन्दी में भारत-भूमि खण्ड को एक मूर्त्त, सप्राण देवांग के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया गया। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के 'वन्दे मातरम्' ने देश के समृद्ध वैभव और उन्नत अतीत की भावना को जागृत किया। स्वयं बंकिम बाबू ने भारतमाता की सशक्त देवी के रूप में ही वन्दना की है किन्तु उसमें इस भावना की झलक है कि भारतवर्ष धन, धान्य, वैभव में किसी का आश्रित नहीं है, अपने में सम्पूर्ण है और प्रकृति का अमित भण्डार इसकी अपनी निधि है। इसी भाव के अन्तर्गत श्रीधर पाठक का काश्मीर-वर्णन, प्रकृति-वैभव, एवं स्वयं भारतेन्दु जी द्वारा प्रस्तुत यमुना छवि और इस प्रकार की अन्य कविताएँ मिलती हैं जिनमें इस नये विचार का समर्थन हुआ है।

बंगाल में चैतन्य महाप्रभु का आन्दोलन प्रचलित था जिसका प्रभाव वहां के साहित्य और जीवन पर बहुत गहरा पड़ा। हिन्दी साहित्य में वे चीज़ें कुछ तो अनुवाद के माध्यम से आयीं और कुछ राजनीतिक राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्पर्क में प्रस्तुत हुईं। माइकेल मधुसूदन की शैली का 'विरहिणी व्रजांगना' के रूप में अनुवाद भी उस सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक है जिसमें पाश्चात्य जीवन-दर्शन की उपेक्षा की गयी है और भारतीय जीवन की पुनःस्थापना करने का प्रयास है।

इसी बीच राष्ट्रीय रंगमंच पर बालगंगाधर तिलक, गोखले और गान्धी का

आगमन हुआ जिन्होंने तीन विभिन्न विचारों को प्रस्तुत करके समस्त सामाजिक और मानसिक चेतना को विभिन्न दिशाओं का संकेत प्रदान किया। बालगंगाधर तिलक ने 'गीता रहस्य' के माध्यम से कर्मप्रधान जीवन की ओर संकेत किया और एक कर्मठ राजनीतिज्ञ के नाते उन संस्कारों को जगाने की चेष्टा की जो कर्मप्रधान हो कर मर्यादा की रक्षा करें। दूसरी ओर महात्मा गांधी ने सत्य और अहिन्सा के आधार पर नैतिक शक्ति को संगठित करके विदेशी शासन-सत्ता को राष्ट्र से हटाने में योग प्रदान किया। इन दोनों महापुरुषों ने एक ही बात को दो विभिन्न तरीकों से सामने रक्खा। बालगंगाधर तिलक का दृष्टिकोण महाभारत काल की नीति से प्रभावित था। महात्मा गांधी के विचार बुद्ध, गीता, ईसा, टालस्टाय इत्यादि से अनुप्राणित थे। साहित्य में इसका प्रभाव दो विभिन्न रूपों में आया —एक तो पुनर्जागरण (Revivalism) के रूप में तिलक से प्रभावित था और दूसरा प्रगति का पोषक बन कर गांधी की विचार धारा से प्रभावित होकर आदर्श मानववाद के रूप में व्यक्त हुआ। प्रेमचन्द जी के उपन्यास, बाबू मैथिली-शरण गुप्त के 'यशोधरा', 'अनघ' और 'साकेत' उसी आदर्शवादी पृष्ठभूमि में आते हैं। हरिऔध जी का 'प्रिय प्रवास', स्त्री-समाज-सेविका राधिका का चरित है। रामनरेश त्रिपाठी के दो खण्डकाव्य 'पथिक' और 'स्वप्न' उस नवीन राष्ट्रीय आत्मानुभूति के प्रतीक हैं जिसके अन्तर्गत राष्ट्रीय जीवन में नयी शक्ति संचरित हो सकी थी।

इसके साथ-साथ एक और धार्मिक आन्दोलन देश में आया जो थियोसोफिस्टों की विचार-धारा से प्रभावित था। एक ओर गांधी जी का सर्वधर्म समभाव था और दूसरी ओर थियोसोफिस्टों का धार्मिक आन्दोलन था जिसमें एक ईश्वर, एक निष्ठा को विभिन्न धर्मों में देखने का प्रयास किया गया था। एनिबेसेन्ट का यह नया आन्दोलन राष्ट्रीय आन्दोलन से इतना मिला जुला था कि इन दोनों का एक विचित्र समन्वय सा देखने में आता है। साहित्य में इस जागरण ने सर्वमानववादी प्रवृत्तियों को सशक्त और बलवान् बनाया। गांधी ने एक क्रान्तिकारी जीवन-चर्या प्रदान की, एक नयी विचार-धारा दी जिसने समस्त राष्ट्र के जीवन-दृष्टिकोण ही को बदल डाला।

ठीक इसी बीच रवीन्द्रनाथ टैगोर की रचनाएँ भी अंग्रेज़ी और हिन्दी अनुवादों के माध्यम से हिन्दी जगत् में आईं। टैगोर ने उगती हुई खड़ी बोली को सर्वथा नया विषय दिया और उसके लिये नये शब्द और नयी भावनाओं की अभिव्यक्ति भी प्रदान की। इस नयी जागृति से खड़ी बोली में छायावाद और रहस्यवाद का उदय हुआ जो आगे चलकर अंग्रेजी साहित्य की रोमैन्टिक कविता की भाँति सर्वथा नवीन विचार–शैली और चिन्तन-परंपरा के

साथ धार्मिक आदर्शवाद, अतिमानवतावाद और रूढ़ियों का खण्डन करके सर्वथा नयी भावना के माध्यम से जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करने में समर्थ हुआ ।

इन विभिन्न सांस्कृतिक आन्दोलनों का प्रभाव हमारी सामाजिक व्यवस्था पर भी पड़ा और उन रूढ़िवादी परंपरागत प्रचलनों के प्रति एक बौद्धिक अनास्था धीरे-धीरे बढ़ने लगी । इस बौद्धिक संघर्ष की छाया साहित्य में अधिक मार्मिक ढंग से व्यक्त हुई । स्वतंत्रता और राष्ट्रीय चेतना के साथ सदाचार-युक्त आदर्श जीवन की कल्पना भी की गयी और उन आदर्शों को जीवन में उतारने की बात भी सोची गयी । बंगला में बंकिम बाबू ने 'आनन्दमठ' जैसी रचना प्रस्तुत की; शरत् चन्द्र जी ने 'गृहदाह', 'पथेर दावी' और इस प्रकार की छोटी-छोटी कथाएँ लिखीं, रवीन्द्रनाथ ने 'गोरा' की रचना की और प्रेमचन्द जी ने 'रंगभूमि,' 'सेवासदन' और 'प्रेमाश्रम' जैसे उपन्यासों में उस आदर्श को चित्रित करने का प्रयास किया ।

(१) यह **आदर्शवाद** सैद्धान्तिक रूप से निम्नलिखित बातों को प्रतिष्ठित करना चाहता था—

● पुरानी रुढ़िग्रस्त जीवन पद्धति की आलोचना प्रस्तुत करके सर्वथा नवीन मानववादी सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने का आयोजन ही इस प्रवृत्ति का उद्देश्य था । सामाजिक कुरीतियों, अत्याचारों, अनाचारों की निन्दा करके नये सामाजिक मूल्यों को प्रस्तुत करना इनका एकमात्र ध्येय था । परम्परा के प्रति अनावश्यक मोह के विरुद्ध तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक क्षेत्र में व्यक्त और अव्यक्त रूप से एक जीवित आन्दोलन जन्म ले रहा था ।

● आदर्शवाद का एक और यह भी प्रयास था कि पतन-ग्रस्त भारतीय जीवन की हतोत्साहित मन:स्थिति को एक नैतिक प्रधानता देकर उसको स्वच्छ और पवित्र आत्मशक्ति प्रदान करने के साथ इच्छा-शक्ति दे । प्रेमचन्द के उपन्यासों में प्राय: ऐसे ही नायकों को प्रस्तुत किया गया है ।

● समस्त जीवन के विभिन्न पहलुओं को नवीन चेतना प्रदान करके आत्मगौरव और स्वाभिमान की सजीव मान्यताएँ प्रतिष्ठापित करना भी इस आदर्शवादी आन्दोलन का परिणाम था । इन सजीव मान्यताओं के कक्ष में राष्ट्रीय अभ्युत्थान से लेकर व्यक्तिगत जीवन तक के मूल सैद्धांतिक पक्ष फिर से आँके गये और मूल्यों को प्रोत्साहित किया गया ।

● विदेशी वस्तुओं और पाश्चात्य संस्कृति के विरुद्ध आन्दोलन चलाने से विशुद्ध भारतीय जीवन की महत्ता में विश्वास भी आदर्शवादी आन्दोलन का प्रतिरूप था। राष्ट्र-नायकों का निर्माण और ऐतिहासिक महापुरुषों की जीवनियां प्रायः इन्हीं प्रवृत्तियों की द्योतक हैं। इन्हीं आदर्शवादी सिद्धान्तों ने अपने चरमोत्कर्ष में अतिमानववादी विराट् मानव की कल्पना प्रस्तुत की जिसका प्रभाव तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियों पर भी पड़ा।

(२) **अतिमानवतावाद** के अन्तर्गत वे सभी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ आती हैं जिन्होंने मनुष्य में मनुष्य के व्यक्तित्व को समझने की चेष्टा की, उसके ऊपर से अनावश्यक संस्कारों के लदे आवरण को उतार कर मनुष्य को उसके हृदय और कर्म के बन्धनों को स्वीकार करते हुए भी सोचने और समझने का पथ दिखलाया। इसके तीन परिणाम हुए—

● मानव-प्रधान रचनाओं का विकास हुआ। यहाँ तक कि पौराणिक कथाओं और देवताओं के चरित्र में भी मानव-प्रधान गुणों को देखने और चित्रित करने का प्रयास किया गया।

● जाति-भेद, वग-भेद और वर्ग-भेद को मिटाने की चेष्टा की गयी। समस्त मानव जाति को एक वर्ग कहा गया। जाति-नायक अथवा वर्ग-नायक को महत्त्व मिला।

● अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास हुआ। राष्ट्रीय विचारों का विकसित रूप अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शवाद में परिणत हुआ जिस में व्यापक मानवीय पक्षों को प्रोत्साहन मिला।

(३) इसी आदर्शवादी विचार-धारा के अंतर्गत **गांधीवाद** का विकास हुआ जिसमें समन्वयवादी दृष्टिकोण, आत्म-शुद्धि की भावना, सत्य, अहिंसा, नैतिक जीवन के आदर्श पर काफी ज़ोर दिया गया। सामाजिक चेतना पर इसका प्रभाव समाज सुधार आन्दोलन के माध्यम से व्यक्त हुआ; अछूतोद्धार, मद्य-निषेध, स्वावलंबी जीवन में निष्ठा और इस प्रकार अन्य भावों में इसका व्यक्तीकरण हुआ। आर्थिक जीवन पर गाँधीवाद का विशेष महत्त्व स्वदेशी आन्दोलन, खादी आन्दोलन, कुटीर उद्योग के रूप में रचनात्मक कार्यक्रम के माध्यम से व्यक्त हुआ जिसमें भोग-विलास, सामंतवादी परंपराओं की निन्दा की गयी। राजनीतिक जीवन में स्वतंत्रता-आन्दोलन का राष्ट्रीय रूप नैतिक आवश्यकता में बहुत कुछ बदल गया। समस्त स्वतंत्रता के आन्दोलन में जिस चीज़ पर अधिक जोर दिया गया, वह था आत्मोत्सर्ग, रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, स्वस्थ और स्वावलंबी जीवन। इस विचार-धारा का भी कई प्रकार से हमारी चिन्तन-शक्ति पर प्रभाव पड़ा—

सर्वप्रथम तो हमारा दृष्टिकोण बाह्य-प्रधान आदर्श में रहा, किन्तु यथार्थ में आन्तरिक विवेचन की ओर अधिक अग्रसर हुआ। इस आन्तरिक प्रवृत्ति (Introspection) ने हमारी चिन्तन-धारा को निश्चय ही एक नयी दिशा का संकेत दिया।

दूसरा प्रभाव इसका व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों में व्यक्त हुआ। जहां राष्ट्रीय आन्दोलन में सामूहिक चेतना को शक्ति मिली वहीं नैतिक जीवन में व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों को प्रश्रय मिला।

तीसरा प्रभाव हमारे जीवन में एक कुंठा के रूप में व्यक्त हुआ। वैज्ञानिक विकास की चरम सीमा एक ओर थी और स्वावलंबी व्यक्तिवादी विचार-धारा दूसरी ओर। इसके बीच कुछ कुण्ठाएँ स्वाभाविक रूप से बनी रहीं; कहीं विज्ञान की निन्दा की गयी तो कहीं उससे समन्वय स्थपित किया गया।

चौथा प्रभाव हमारे आर्थिक जीवन पर पड़ा और एक नकारात्मक (Negative) दृष्टिकोण उन सब चीज़ों के प्रति बढ़ने लगा जिन्हें हम किसी भी कारण से प्राप्त करने में असफल थे।

(४) उधर बंगला साहित्य में **रवीन्द्रनाथ टैगोर** ने विशुद्ध सांस्कृतिक आन्दोलन का सूत्रपात किया। गीतांजली में उन्होंने मानवात्मा की सूक्ष्म अनुभूतियों में व्याप्त 'पूर्ण' की तृष्णा को महत्त्व दिया। कबीर के रहस्यवाद का प्रतिष्ठापन करके उन्होंने भारतीय जीवन को सम्प्रदायवाद से हटाकर सूक्ष्म मानववाद की ओर प्रेरित किया। श्रम के प्रति उदार भाव (Dignity of labour) का आदर्श उन्होंने उपस्थित किया।

सांस्कृतिक मान्यताओं के नये मूल्य मिले। टैगोर ने भारतीय जीवन की समन्वयवादी प्रवृतियों को अधिक उभार कर रक्खा। उनका यह मत था कि भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जो कि विरोधी तत्त्वों में संतुलन स्थापित करके विश्व की व्याप्त विभिन्नताओं के होते हुए भी स्थायी मानवीय आदर्शों को प्रतिष्ठापित करने की प्रेरणा दे सकता है। उनके विचारों से समाज के शिक्षित वर्ग में सहिष्णुता और उदार मनोवृत्ति को बल मिला और सांस्कृतिक जीवन में एक नयी विचार-धारा पनपने लगी।

साहित्यिक मान्यताओं को आधुनिकता प्राप्त हुई। अभी तक प्रायः सभी भारतीय साहित्य अत्यधिक मध्यकालीन प्रवृत्तियों के प्रतीक थे। उपन्यास में तिलस्मी कहानियाँ और काल्पनिक कहानियों का ही प्रयोग किया जाता था; उनको मानवीय भाव-भूमि नहीं मिल पायी थी। काव्य के क्षेत्र में

रीतिकालीन आडंबर वैसा ही चला आ रहा था। नाटक के क्षेत्र में पारसी थियेटरों ने रंगमंच को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। टैगोर ने इन सब दिशाओं में नये मूल्य और नयी मान्यताएँ प्रदान कीं।

● चित्रकला में प्राचीन पद्धति के साथ नवीनतम प्रयोगों का संमिश्रण हुआ। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने शुद्ध भारतीय चित्रकला की काल्पनिक सूक्ष्म अभिव्यक्ति को पाश्चात्य यथार्थवाद (Realism) से परिचित कराया। जापानी चित्रकला के (wash) पुट से उन्होंने एक नये स्कूल की नींव डाली जो काफ़ी नयी और सशक्त थी।

● पूर्व और पश्चिम की भाव-धारा को समन्वित करने की चेष्टा की गयी। यीट्स ने और किपलिंग ने भारतीय जीवन से सम्बंधित साहित्यिक रचनाओं के माध्यम से पूर्व के बौद्धिक विकास का पश्चिम से परिचय कराया। थियोसोफी आन्दोलन और ब्रह्म समाज के तत्त्वों ने पश्चिम से सम्पर्क स्थापित करने की प्रेरणा ग्रहण की। एक ओर भारतीय जीवन के दृष्टिकोण को समझने और समझाने की प्रवृत्ति जागृत हुई और दूसरी ओर पाश्चात्य भाव-धारा को भी समझने की जिज्ञासा हुई। फलस्वरूप:—

● मध्यकालीन मान्यताओं का अन्त हुआ। भाषा के आडम्बर से निकल कर साहित्य भाव-क्षेत्र की ओर बढ़ा। बंगला में तो इसका बड़ा प्रभाव पड़ा किन्तु हिन्दी ने इन विचारों को अपने ढंग से स्वीकार किया। एक ओर मध्यकालीन प्रवृत्ति थी दूसरी ओर यथार्थ के प्रति उपेक्षा के भाव थे, और तीसरी ओर आधुनिक जन-जीवन का जागरण हो रहा था। इन सब के बीच से होकर जिन साहित्यिक प्रवृत्तियों ने हमारे जीवन को प्रभावित किया उनमें कुछ बातें महत्त्व की हैं—

● हिन्दी के उपन्यास-क्षेत्र में शरत्चन्द्र के उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत हुए जिनमें घरेलू जीवन की आलोचना, सामाजिक कुरीतियों की निन्दा, नये मूल्यों की माँग, भारतीय आदर्श-जीवन की व्याख्या, सामाजिक और नैतिक उत्थान से प्रभावित एक नये समाज की कल्पना, जागृत हुई।

● प्रेमचन्द ने सर्वप्रथम इन समस्याओं पर प्रकाश डाला। उनका विषय है वर्तमान का चित्रण जो इनके उपन्यासों में काफी मिलता है। गांधी-वाद, टैगोर का संस्कृतिवाद और शरत्चन्द्र का यथार्थवाद—इन तीनों का मिश्रित रूप प्रेमचन्द में मिलता है। यह तीनों विचार-धाराएँ उस काल के राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रतीक थीं। जो प्रवृत्ति बंकिमचन्द्र में थी उसी का एक रूप हिन्दी साहित्य में प्रसाद के नाटकों में मिलता है। जो शरत्चन्द्र

का दृष्टिकोण था, उससे मिलता जुलता प्रेमचन्द का भी था। इसी प्रकार हमें गुजराती मराठी में भी यह प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।

● काव्य के क्षेत्र में कुछ नयी प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। छायावादी और रहस्यवादी प्रवृत्तियों की मानसिक पृष्ठभूमि रोमैन्टिक काव्य-पद्धति के अंतर्गत व्यक्त हुई, किन्तु इन पर बंगला काव्य का भी काफी प्रभाव पड़ा। रहस्यवाद के पुनरुत्थान के कई कारणों में से बंगला साहित्य का भी हाथ है। जिस काव्य-शैली में आधुनिक हिन्दी कविता प्रौढ़ हुई वह काफी अंशों में उन सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जागरण की प्रतीक थी जिनके अन्तर्गत समस्त राष्ट्र की चिन्तन-धारा व्यक्त हो रही थी। इसलिये आधुनिक हिन्दी-काव्य में भी वे सभी प्रवृत्तियाँ मिलेंगी जो उस समय के राष्ट्रीय वायु-मण्डल में रीझ और सीझ रही थीं।

राष्ट्रीय चेतना की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं—ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान और आदर्श मानववाद की सफल प्रतिक्रिया। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान का साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा। काव्य में यह चीज़ अनेक प्रकार से व्यक्त हुई।

● वर्तमान असन्तोष के कारण एक प्रवृत्ति इतिहास के गौरव से अनुप्राणित होकर अतीत गौरव-गाथा में सन्तोष ढूँढ़ने लगी।

● दूसरी प्रवृत्ति प्रकृति के परिपूर्ण कोष से अपनी जिज्ञासाएँ शान्त करने की ओर अग्रसर हुई और उसने प्रकृति को सर्व संपूर्ण भाव का प्रतीक माना।

● तीसरी अन्तर्मुखी (introspective) प्रवृत्ति ने रहस्यंवादी आत्म-संबोधन और सन्तोष का माध्यम स्वीकार किया जिसमें आत्म-निरीक्षण और आत्मानन्द की प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं।

● चौथी प्रवृत्ति ने एक आदर्शवादी कल्पना-जगत् की रचना करने का प्रयास किया जिसमें नये मनुष्य, नये समाज और सृष्टि की व्यवस्था-व्यवधान के भाव व्यक्त हुए।

(१) **आदर्शमानववाद** हिन्दी काव्य में कई प्रकार से व्यक्त हुआ। बालगंगाधर तिलक के 'गीता रहस्य' ने और महात्मा गान्धी के जीवन-दर्शन ने समस्त भारतीय दृष्टिकोण में एक बौद्धिक क्रान्ति पैदा की जिस में कर्म-प्रधान जीवन-दर्शन को स्थापित करने की चेष्टा की गयी और फल की इच्छा के बिना कर्त्तव्यपरायणता पर जोर दिया गया।

कर्मवाद के सिद्धान्त ने आत्मशक्ति और आत्म-निर्भर होने की शौर्य भावना से जन्म पाया। एक ओर गान्धीवाद ने आत्मशक्ति के विकास में हृदय परिवर्तन के आदर्शों को सर्वमान्य माना और दूसरी ओर उसी से तिलक ने कर्मठ कर्मवाद की भावना को फलाफल की अवहेलना करके स्वीकार किया। इन दोनों के बीच ही एक आदर्शवादी प्रवृत्ति जागृत हुई जिसमें गाँधीवाद का नैतिक पक्ष और तिलक का कर्म-पक्ष व्यक्त हुआ।

मर्यादा पुरुषोतम राम के जीवन पर और कृष्ण के जीवन पर आधारित दो महाकाव्यों में इस समन्वय का पूर्ण रूप मिलता है। हरिऔध जी ने जिस कल्पना के आधार पर कृष्ण और राधिका का चित्रण किया है उन दोनों में इन दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय एक आदर्शवादी मान्यता बन कर उभरा है।

बौद्धान्दोलन का भी सूत्रपात इसी काल में हुआ। पुनरुत्थानवादी सिद्धान्तों ने जहाँ राम और कृष्ण के कर्म-प्राधान्य को आदर्शरूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की है वहीं बौद्ध धर्म और गाँधी जी के सिद्धान्तों के माध्यम से उस युग-चेतना को बल दिया जिसमें सत्य, अहिंसा इत्यादि सिद्धान्तों को स्थापित करके एक पूर्ण जीवन की मर्यादा को निभाया जा सके। ऐसा लगता है कि जीवन और दर्शन दोनों की नयी व्याख्या करने का प्रयास उस सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन का परिणाम था जो भारतवर्ष में आधुनिकता से अनुप्राणित था, किन्तु जिस पर बाह्य प्रभावों ने भी भ्रम डालने की चेष्टा की थी।

(२) **आनन्दवाद** एक ओर पुनरुत्थानवादी आन्दोलन का सक्रिय रूप अपनी चरम सीमा पर था किन्तु दूसरी ओर आत्म-विश्लेषणवादी अन्तर्मुखी चेतना भी बड़ी तीव्र गति से बढ़ रही थी। इसका सफल समन्वय बाबू जयशंकर प्रसाद में मिलता है जो उनके नाटको में राष्ट्रीय चेतना बन कर उभरा है। उनकी कविता में वही तत्त्व अन्तर्मुखी आनन्दवाद का सूत्रपात भी करता है। इस आनन्दवाद की पष्ठभूमि में चाहे जितना बड़ा दार्शनिक तथ्य क्यों न हो किन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि उनकी रचनाओं में आनन्दवाद की अभिव्यक्ति नाटकों की भाँति राष्ट्रीय नहीं हो पायी थी। कविताओं में वैयक्तिक अनुभूतियों के व्यक्तिवादी तत्त्व ही विशेष मिलते हैं। स्वयं प्रसाद जी में राष्ट्रीय विचार-धारा और व्यक्ति-प्रधान भावनाओं का होना इस बात को स्पष्ट करता है कि इस युग में ये प्रवृत्तियाँ प्रौढ़ होकर अपना पथ बना चुकी थीं।

(३) **उमर खैय्याम के भाग्यवाद** ने इसी काल में फिटजेराल्ड के अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से विभिन्न हिन्दी कवियों का ध्यान आकृष्ट किया;

और शुष्क दार्शनिक तत्त्वों, प्रकृतिवाद, आनन्दवाद के समक्ष अन्तर्मुखी विषाद और दुःख की उपेक्षा की भावना एवं भाग्यवादी खैय्याम की विचार-धारा एक वर्ग में प्रश्रय पाने लगी। यों तो यह भाव-धारा स्वच्छन्दतावादी वातावरण का एक आवश्यक अंग थी; किन्तु उसके साथ इस प्रवृत्ति में यथार्थ की उपेक्षा, वर्तमान को भोग कर भविष्य की कल्पना, और नियति के हाथ में अपने को छोड़ देने की भावना तीव्र थी।

(४) **निराशावाद** और इसी सीमा से संलग्न वह निराशावादी भावनाएँ भी पनप कर प्रौढ़ हो रही थीं जो छायावादी और रहस्यवादी आधार छोड़ कर केवल दुःख और पीड़ा के आश्रित अपनी काव्य-अभिव्यक्ति में सन्तोष ढूंढ़ने का प्रयास कर रही थीं। निराशावाद उस समय की प्रतिक्रिया थी जब समस्त वातावरण में दूसरे युद्ध के आक्रान्त परिणामों ने सामाजिक, आर्थिक और नैतिक जीवन की मान्यताएँ बदल डाली थीं और सिवा निराशा, अन्धकार या ग्लानि के भारतीय जीवन के पास कुछ भी नहीं रह गया था।

(५) **अतिसाहसिकतावाद के** अन्तर्गत बालकृष्ण शर्मा नवीन, स्नेही और माखनलाल चतुर्वेदी की राष्ट्रीय भावनाएँ इस काल में विकसित हुईं और उन्होंने एक ओर तो राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेने की शपथ ली और दूसरी ओर समाज के विकृत रूप के विरुद्ध संघर्ष की भावना को अधिक बल दिया। जहाँ भावना ने साहस, हर्ष, आशा का उद्रेक किया वहीं इसने कुछ ऐसी शब्दावली और अज्ञेय सांस्कृतिक मान्यताएँ भी दीं जिनमें केवल लड़ने और संघर्ष करने का वातावरण ही रह गया। लक्ष्य, समय, स्थान, इसका भेद-भाव बिल्कुल छूट ही सा गया। दिनकर और उनके बाद के अन्य राष्ट्रीय कवियों में यह प्रवृत्ति बड़ी तेजी से विकसित हुई और अतिसाहसिक चेष्टाओं में उलझकर खो गई।

(६) **आदर्शवाद की प्रतिक्रिया** के रूप में इन सभी प्रवृत्तियों में केवल एक ही चीज़ सब के लिये मान्य थी और वह थी प्राचीन आदर्शों को पुनः संगठित करने की भावना। इससे कई वर्ष बाद धीरे-धीरे रहस्यवाद के आत्मानन्द, छायावाद के शब्दजाल, एवं भाग्यवादी, निराशावादी तथा अतिसाहसिकवादी भावनाओं को तीव्र और जीवन के कटु सत्यों से टकराना पड़ा। अब तक मार्क्सवाद का प्रभाव भी भारतीय चिन्तन में प्रवेश पा चुका था। औद्योगिक व्यवसाय भी भारतीय जीवन में धीरे-धीरे विकसित हो रहे थे। काँग्रेस ने १९३१ के लगभग अपने प्रस्तावों द्वारा स्वतंत्र भारत की एक रूपरेखा भी प्रस्तुत की थी जिसमें श्रम और पूंजी जैसी समस्याओं पर थोड़ा बहुत प्रकाश डाला गया था।

(७) **यथार्थवाद के** विकास के साथ समस्त जीवन से मिथ्या दार्शनिक और पलायनवादी प्रवृत्तियाँ हटने लगीं। सुख, सन्तोष, समृद्धि की कल्पना के

साथ-साथ व्याप्त असन्तोष, निराशा, शोषण, असुविधा की पृष्ठभूमि में उस तड़पते हुए जीवन पर भी दृष्टि पड़ी जो सर्वथा उपेक्षित और वर्जित माना गया था। गाँधी जी ने सामाजिक जागरण का वातावरण पैदा किया था, विज्ञान ने रहस्य की अनेक ग्रंथियाँ सुलझा दी थीं, फलस्वरूप उस समय के कवि को ऐतिहासिक नायकों और सांस्कृतिक चेतनाओं से ही सन्तोष नहीं हुआ। उसने अतीत की स्वर्ण कल्पना के साथ-साथ वर्तमान की विद्रूप पूर्ण विकृति को भी देखा। इन दोनों का समन्वय स्थापित करना इस युग का दायित्व था किन्तु सर्वप्रथम उन आदर्शवादी संस्कारों की प्रतिक्रिया भी होनी स्वाभाविक थी जिसमें कल्पना ही कल्पना थी, स्वप्न ही स्वप्न थे; वर्तमान से उबरने की प्रेरणा तनिक भी नहीं थी। इन सब का परिणाम यह हुआ कि जीवन के सौन्दर्य की अपेक्षा वीभत्स, क्रूर, कठोर और वस्तु-स्थिति ही अधिक व्यंजना देने लगी। इस व्यंजना में भी एक दर्द था, एक पीड़ा और संवेदना थी जिसमें निहित आकाँक्षा एकमात्र यह थी कि आखिर इन सब से मुक्ति कैसे मिल सकती है, कैसे उस शिव का मुकुट इस विकृति के मस्तक पर रखा जा सकता है। फलतः दो विचार-धाराएँ साथ ही साथ बढ़ने लगीं।

अब तक की समस्त काव्य-धारा में केवल आदर्श मनुष्य की कल्पना ही प्रस्तुत की गयी थी। कवि अथवा कलाकार ने उस आदर्श मानव को त्रस्त-शोषित मानव समूह में से ढूंढ़ने की प्रेरणा नहीं पाई थी। यथार्थवाद ने जहाँ कल्पना की उड़ान छोड़ कर वास्तविक जीवन के दृष्टिकोण को जागरूक किया वहीं उसने आज के मानव को संभावित रूप देने की चेष्टा की। भाव-भेद से पृथक्, शोषण-प्रतिहिंसा से भी अलग एक आदर्श मनुष्य, आज का मनुष्य क्या होना चाहिये, उसका क्या रूप हो सकता है? उसकी कौन सी भाव-भूमि सशक्त है? इस पर विचार-भाव भी व्यक्त किये गये।

विकृतियों की ओर एक विशेष आकर्षण और दूसरी सीमा पर विकृत जीवन कवि और कलाकार के ऊपर एक आतंक-जन्य प्रभाव के केवल अशिव ही की प्रतिष्ठा बढ़ाने लगा। नग्न सत्य, वीभत्स कूड़ा-कर्कट, संडासों में सड़े हुए मनुष्य, हाट-बाज़ार में शीत-घाम में श्रम करने वाले श्रमिक की कुण्ठाएँ, फुट-पाथों पर मरते हुए भिखारी, वेश्याओं का अभिशाप—सब ने जैसे कला का लक्ष्य केवल वस्तु-स्थिति में ही उलझा कर छोड़ दिया। इस मनःस्थिति में केवल वह सहानुभूति ही व्यक्त हुई जिसमें कवि ने उस का वर्णन तो किया किन्तु कोई सन्देश, कोई सूझ देने में वह असमर्थ ही रहा। इस भाव-धारा ने हिन्दी काव्य को कुछ अच्छे स्केच ही दिये, और

कुछ नहीं किन्तु इसीके अन्तर्गत एक विशुद्ध निरपेक्ष वस्तुवाद (objective realism) भी जागा जिसने वस्तु-वर्णन को केवल अपने मनोभावों से अलग देखने की चेष्टा की। ऐसी शैली में कल्पना और भाव हीनता के कारण कोई दम नहीं आ सका। वह केवल ऊपर से देखी-सुनी गयी, भीतर से उस में पैठने की बात न तो आतंक-जनक कलाकारों में ही व्यक्त हो सकी और न इन निरपेक्ष वस्तुवादियों में ही।

(८) इस पृष्ठभूमि में **साम्यवादी विचार-धारा** के अन्तर्गत वर्गहीन समाज की स्थापना और 'प्रोलेतेरियत' शासन-पद्धति की कल्पना ने भारतीय जीवन को स्पन्दित किया। राष्ट्रीय उत्थान के साथ ये समस्याएँ भी जागरूक होने लगीं। डारविन, कैन्ट, हीगेल और अन्य दार्शनिकों की प्रेरणाओं ने 'सूक्ष्म' से 'यथार्थ,' 'आत्मा' से 'भौतिक' आधार पर समस्त मानव-जीवन का इतिहास और भविष्य उधेड़ कर रखना चाहा। मार्क्स ने (Dialectical Materialism) के आधार पर इतिहास की नयी व्याख्या प्रस्तुत की जिसके माध्यम से उसने समस्त सामाजिक, आर्थिक और नैतिक जीवन की मान्यताओं में शोषक और शोषित का विश्लेषण प्रस्तुत किया और प्रचलित परंपराओं को वैज्ञानिक तर्क द्वारा खण्डित करके एक ऐसे समाज की व्यवस्था की कल्पना प्रस्तुत की जिसमें शोषित वर्ग का राज्य बन सके।

प्रथम महायुद्ध का अन्त होते-होते योरोप में 'रूस के ज़ार' से पीड़ित जनता का संगठित विद्रोह लेनिन के नेतृत्व में सफल हुआ। वहाँ मार्क्सवाद के आधार पर एक शासन-सत्ता स्थापित हुई जिसने समस्त संसार में एक सर्वथा नया दृष्टि-कोण और नयी जीवन-गति-विधि का स्वप्न दिया। भारतवर्ष में इसका प्रभाव पड़ा और स्वयं कांग्रेस में एक वर्ग समाजवाद के नाम से संगठित हुआ जिसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोग देते हुए एक वर्गहीन समाज की कल्पना को साकार करने का प्रयास किया। किन्तु राष्ट्र की भावनाएँ कांग्रेस और महात्मा गाँधी के साथ थीं जिसके कारण एक विशिष्ट युवक-समुदाय ही उस संगठन से प्रभावित हो सका।

इस नवीन विचार-धारा का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर कई रूपों में पड़ा—

● पहला प्रभाव विषय-वस्तु पर पड़ा। किसान, मजदूर और सर्वहारा वर्ग प्रगतिशील काव्य-धारा का विषय-वस्तु बन कुछ दिनों तक छाया रहा। यथार्थ के प्रति राष्ट्रीय भावनाओं को जागरूक करने में अधिक शक्ति मिली।

● दूसरा प्रभाव प्रचलित आस्था के समक्ष वैज्ञानिक आस्था को स्थापित करके रूढ़ि-ग्रस्त सामन्तवादी मान्यताओं को तोड़ कर नयी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने की प्रेरणा में व्यक्त हुआ ।

● तीसरे, मनुष्य को केवल मनुष्य के रूप में ग्रहण करने का आग्रह किया गया । धर्मगत, संस्कारगत, जातिगत और अन्य विभाजनों की अपेक्षा यथार्थ सामान्य जीवन की अभिव्यक्ति को मान्यता मिली ।

● समाज-व्यवस्था में धर्म के स्थान की निन्दा और उस समाज की प्रशंसा की गयी जिसमें मनुष्य विज्ञान के आधार पर सुख, अवकाश और चिंता-मुक्ति पाकर जीवन बिता सके ।

● पाँचवें, आशावादी साहित्य की ओर प्रगतिशील साहित्य ने विशेष जोर दिया और इस आशावाद की परंपरा में उस साहसिकतावाद का विकृत रूप अपनाया गया । परिणाम-स्वरूप आक्रोश-पूर्ण, खीझ से भरी एक दूसरे प्रकार की निराशावादी प्रवृत्ति विकसित हुई जो गजानन मुक्तिबोध और नेमिचन्द में मिलती है ।

● छठे, रूप-गठन और विषय-वस्तु में संघर्ष, उत्कर्ष के प्रति अधिक आस्था बढ़ाने की बात उठायी गयी । कहीं-कहीं यह संघर्षात्मक प्रवृत्ति साहित्यिकता की हत्या करके भी आगे बढ़ने में अधिक निष्ठा दिखलाने लगी । रूप-गठन और विषय-वस्तु को लेकर भी काफ़ी मतभेद उठे ।

● सातवाँ प्रभाव यह पड़ा कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि-कोण का विकास भी इसी प्रगतिशील आन्दोलन द्वारा साहित्य में विकसित हुआ । कविता केवल देश के विषय तक ही बँधी नहीं रह सकी । उसने देश की सीमा के बाहर भी अपना विस्तार किया ।

● आठवें, क्रान्तिकारी अराजकतावादी प्रवृत्तियाँ सामाजिक, राज-नीतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में बड़ी तीव्र गति से बढ़ने लगीं । एक ओर उस सत्ता को प्रतिष्ठित करने की बात भी उठायी गयी जो सर्वहारा-वर्ग को नया जीवन दे सकती, दूसरी ओर वर्तमान व्यवस्था के प्रति विद्रोह भी जागृत किया गया जो बहुत दिनों तक राष्ट्रीय आन्दोलन के माध्यम से व्यक्त हुआ और फिर विद्रोह के रूप में परिणत हो गया ।

(६) दूसरे महायुद्ध के आस-पास मार्क्सवादी विचार-धारा के अन्तर्गत **साम्यवादी आन्दोलन** विकसित हुआ । इस राजनीतिक आन्दोलन ने भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना विशेष स्थान बनाना चाहा । साहित्य, कला, नृत्य, संगीत इत्यादि विभिन्न क्षेत्रों में साम्यवादी विचार-आन्दोलन व्यक्त हुआ । साहित्यिक क्षेत्र में प्रगतिशील आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा

और सर्वप्रथम एक साहित्यिक मंच की व्यवस्था हुई जिसके द्वारा लेखक वर्ग ने अपने बौद्धिक योग से समस्त देश और राष्ट्र में उस बौद्धिक आन्दोलन का सूत्रपात करना चाहा जो विदेशी शासन-व्यवस्था के साथ-साथ पूंजीवादी व्यवस्था का विरोध करते हुए इस बात की लक्ष्य-साधना का प्रतिगामी बना कि समस्त देश-काल के बन्धनों से मुक्त हो रूस की शासन-प्रणाली का अनुसरण ही समस्त विश्व में जनवादी सत्ता को प्रतिष्ठित कराने में योग दे सकता है।

सामन्तवादी शोषण का विरोध करने वाला साम्यवादी आन्दोलन चीन-क्रान्ति के पूर्व तक कृषि-प्रधान देश के लिये स्पष्ट नहीं हो पाया था।

सांस्कृतिक रूढ़ियों का विरोध करते हुए जो कुछ भी संस्कृति के रूप में इस आन्दोलन ने स्वीकार किया वह केवल जन-शक्ति को अपने मतानुकूल बनाने तक ही सीमित रह गया।

(१०) किन्तु मार्क्सवाद के उग्र रूप के अतिरिक्त एक दूसरी विचार-धारा (**समाजवादी दृष्टिकोण**) भी विकसित हुई जिसने साम्यवादी एकाधिपत्य regimentation) के विरुद्ध कुछ स्वाभाविक और देश-काल के माध्यम से मर्यादित बात चलायी। इस दृष्टिकोण में एकाङ्गी अनुसरण का भाव नहीं था वरन् इसमें साधारणीकरण की ओर अधिक ज़ोर दिया गया था। मार्क्सवाद के अन्तर्गत उस आन्दोलन ने साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं को स्वीकार करते हुए नया आन्दोलन चलाया, जिस में राष्ट्रीय भावना को सुरक्षित रखते हुए भी एक स्वतंत्र समाजवादी नीति का अनुसरण किया गया जिसके माध्यम से उसने अपनी मान्यताओं और लोक-जीवन के अतिरिक्त मार्क्सवाद को प्रतिष्ठित करने की बात को संगत ठहराने की चेष्टा की। एक ओर घोर पलायनवादी साहित्य की उसने निन्दा की, और दूसरी ओर अति नियंत्रित व्यक्तिगत दासत्व की अवहेलना करके मर्यादित व्यक्तित्व की निष्ठा के प्रति आस्था प्रकट की।

सांस्कृतिक चेतना के प्रति इस दृष्टिकोण ने सर्वमान्य लोक-जीवन में जनतांत्रिक सत्ता को स्वीकार करते हुए व्यक्तिगत स्वतंत्रता को माना और समस्त तत्त्वों के साथ मार्क्सवाद को स्वीकार करने का आग्रह किया। इस विचार-धारा में सर्वमान्य वस्तु यह थी कि उसने राष्ट्रीयता को स्वीकार किया और उसको आदर-सूचक भाव दिया।

साहित्यिक मान्यताओं के प्रति उदारता का पक्ष स्वीकार करते हुए समाज-वस्तु (social content) पर ज़ोर दिया गया। साम्यवादी आन्दोलन में उदार दष्टिकोण का अभाव ही उसके शक्ति-शैथिल्य का कारण बना।

इस दृष्टिकोण ने कलाकार की मान्यता (objective) को स्वीकार तो किया किन्तु उस को सिद्धान्त-विशेष से बाँध रखना उसने स्वीकार नहीं किया ।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सापेक्ष दृष्टिकोण से देखते हुए भी इस विचार-धारा ने साहित्यिक रुचि को सनक (cynicism) की हद तक बढ़ने से रोकने का प्रयत्न किया ।

प्रगतिशील ग्रान्दोलन जब केवल राजनीतिक वाद का शस्त्र बन कर ही रह गया और उसकी वस्तुपरकता (objectivity) में विस्तृत मानव-अनुभूतियों की एवं संकीर्णतावादी दलगत विचारों की ही पुष्टि होने लगी तो इसकी प्रतिक्रिया भी साहित्यिक प्रवृत्तियों पर पड़ी। प्रश्न था क्या सफल भावानुभूतियों के लिये साहित्य में सर्वथा निरपेक्षित ग्रान्दोलन उचित है ? क्या व्यक्ति का अस्तित्त्व किसी भी स्थिति में इतना तरल हो सकता है कि उसमें केवल बाह्य जगत् ही चित्रित हो और अन्तर्जगत् कुछ भी न रहे ? इसका प्राप्त प्रमाण हमें पंत जी के साहित्य में मिलता है। क्या कारण है कि 'ग्राम्या' और 'युग-वाणी' का कलाकार एक विराम के बाद अरविन्द-दर्शन का आश्रय लेता है ?—और इस प्रवृत्ति के स्वरूप साहित्य में इस प्रकार व्यक्त हुए—

पहला रूप यह था कि साहित्य में साहित्यिक मान्यताओं को जीवित रखने का आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा। वह साहित्य जो केवल किसी भावना-विशेष के उद्वेग को अनियंत्रित नारों में परिवर्तित करके प्रस्तुत किया गया उसके प्रति स्वाभाविक अनास्था बढ़ने लगी। साहित्य और पत्रकारिता के सिद्धान्त जब टकराने लगे तब नयी प्रवृत्तियां और आस्थाएँ भी बनने लगीं ।

दूसरा रूप उसका मार्क्सवाद के विरोध में व्यक्ति-निष्ठा पर ज़ोर देने में व्यक्त हुआ। सब कुछ समाज नहीं है, कविता का विषय केवल किसान-मज़दूर ही तक सीमित नहीं रह सकता, मनुष्य की और अनुभूतियों को भी व्यक्त होना है और उनको शक्ति देना है, इस पर भी काफ़ी विचार-विनिमय किया गया और इसके आधार पर एक व्यक्तिवादी प्रवृत्ति भी विकसित हुई जो स्वयं प्रगतिशील लेखकों में ही उभर कर सामने आई ।

तीसरा रूप राष्ट्रीय दृष्टिकोण में व्यक्त हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धारा के पोषक राष्ट्रीय विचार-धारा को बल न देकर बहुत कुछ विदेशी भावों को विषय-वस्तु बनाने लगे । खासकर दूसरे महायुद्ध में यह चीज़ अधिक

उभर आई, क्योंकि उस समय के प्रगतिशील आन्दोलन ने समस्त राष्ट्रीय चेतना के विरुद्ध उस लड़ाई में योग देने की बात उठाई जिसमें अंग्रेज़ी शासन-सत्ता को मित्र-रूप में स्वीकार करना पड़ा। विशुद्ध राष्ट्रवादी विचार-धारा वाले व्यक्तियों में और प्रगतिशील आन्दोलन में यही संघर्ष की चरम सीमा विकसित हुई।

(१) परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार की **व्यक्तिवादी प्रवृत्तियां** विकसित हुईं। एक ने तो आत्मविश्लेषण की परम्परा को अपनाया, घोर अन्तर्मुखी भावनाओं ने समस्त साहित्यिक आन्दोलन को अपने पंजे में दबा लिया। समाज, देश, राजनीति, बाह्य जगत्, प्रकृति सब की मान्यताएँ साहित्य में टूटने लगीं और उनके विभिन्न आकार-प्रकार विशेष-रूप से हिन्दी-साहित्य में उभर कर आने लगे। इस प्रवृत्ति की कुछ विशेष अच्छाइयाँ थीं जिनमें से निम्नांकित उल्लेखनीय हैं —

- भावनाओं के प्रति ईमानदारी की ओर अधिक ध्यान दिया गया। केवल कुछ पारिभाषिक शब्दावली तक ही मनोभावों को सीमित नहीं रखा गया। इसके विपरीत नये प्रयोगों और विस्तृत भाव-क्षेत्र को अपनाने की चेष्टा की गई।

- अनुभूतियों की वास्तविक अभिव्यक्ति की स्वाभाविकता पर अधिक ज़ोर दिया गया। सहज-रूप से काव्याभिव्यक्ति ही श्रेयस्कर मानी गयी। छन्द, रस और वस्तु के चयन में सिद्धान्त की अपेक्षा सूझ को आश्रय दिया गया।

- साहित्यिक गुणों की रक्षा इस दिशा में स्वाभाविक ढंग से न होकर चमत्कार के रूप में भी व्यक्त होने लगी। प्रयोगों के नये-नये रूप प्रस्तुत हुए। कुकुरमुत्ता से लेकर आधुनिकत्तम प्रयोगों में इसका प्रमाण स्पष्ट रूप से मिलता है।

(२) किन्तु इस साहित्यिक मनोवृत्ति के कुछ दोष **विकृत अहम्** आदि भी उभर कर आये। व्यक्तिवादी सीमा में भावनाओं का तीव्रतम (intense) रूप तो व्यक्त हुआ, किन्तु उसको व्यापक कैनवेस नहीं मिल सका। इसका प्रमाण हमें कई रूपों में मिलता है। बंगाल के अकाल पर किसी भी उच्च साहित्यिक कृति का न मिलना इनमें से एक है। इसी प्रकार से १९४२ की जन-क्रान्ति जैसी चीज़ का हिन्दी-काव्य में विशेष कर कोई उल्लेख नहीं है। उपन्यास और कथा-साहित्य में भी इन दो घटनाओं का न होना व्यक्तिवादी विकृति का प्रतीक है।

- छायावाद, रहस्यवाद का अन्त-सा हो चुका था। प्रगतिशील भावधारा एकांगी सी हो गयी थी। इन सब का परिणाम यह हुआ कि

दो भावधाराएँ साथ-साथ जन्म पाने लगीं--पहली थी इन तीनों के प्रति उपेक्षा और दूसरी सर्वथा नये विषय-वस्तु की खोज और उस वस्तु-चयन में उपेक्षित अहं को प्रतिष्ठित करने की अभिव्यक्ति। दोनों धाराएँ अराजकता-वादी प्रवृत्ति में विकसित हुईं।

● इस अराजकतावादी तत्त्व के पीछे-पीछे अपने प्रति एक गहरी असन्तोष की भावना भी थी, जिसने अनास्था, भ्रम और अस्पष्टता को बड़े ही तीखे रूप में उभार कर सामने रखा। इसी नृशंसता का परिणाम यह था कि १९४० से लेकर १९५० तक के कवियों में अपनी व्यक्तिवादी सीमित कुण्ठाओं को व्यक्त करने के लिये रूप-गठन (form) का चमत्कार ही सर्वोपरि रहा।

● छायावाद का कल्पनाजगत् टूट चुका था। इसलिये समस्त काव्य-धारा भौतिक यथार्थ की ओर उन्मुख हो गयी और इस उन्मुख प्रवृत्ति ने इन समस्त तत्त्वों को अपने में समेटना चाहा जो मानव जीवन से सम्बंधित होकर उसको प्रभावित करते थे और उनमें शक्ति प्रदान करते थे।

● किन्तु इसी के साथ-साथ व्यक्तिगत कुण्ठाएँ भी जन्म पा रही थीं। ये कुण्ठाएँ काव्य में विभिन्न प्रकार से व्यक्त हुईं। एक ओर आतंकित व्यक्तित्व और दूसरी ओर व्यापक जगत् का कटु यथार्थ—इन सब ने जिस सैद्धान्तिक अस्पष्टता को प्रश्रय दिया था वह कुण्ठाओं के रूप में व्यक्त हो कर एक विचित्र भावधारा ही बन गया।

● युद्ध ने सौन्दर्य को विकृत तो किया ही साथ ही उसने कुछ तीखी पाशविक शक्तियों को भी जन्म दिया। युद्ध-साहित्य पर इसका प्रभाव 'विकृत सेक्स'-प्रधान कृतियों में उभरा।

(३) **पलायनवादी साहित्यिक प्रवृत्ति** (poise) के रूप में इस विकृत अहं ने शिल्प की दिशा में अनेक भ्रांतियों और प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जिस से वस्तु की उपेक्षा हुई और रूप की ओर विशेष ध्यान दिया गया। साहित्यिक कृतित्त्व में प्रत्येक कथ्य को अजीब ढंग से कहने की बात, नयी सूझ और नयी मान्यताओं को प्रश्रय देने की बात उठायी गयी जिनकी अभिव्यक्ति निम्न-रूपों में हुई—

चमत्कार तृष्णा की वृद्धि ने संक्षेप में ही सब कुछ निचोड़ लेने की प्रवृत्ति को अधिक बल दिया। कहीं-कहीं यह प्रयास पूर्ण रूप से व्यक्त हो कर कला की अवहेलना करने में भी सफल हुआ। एक दिशा में तो भावनाओं

को समेटने की बात उठायी गयी और दूसरी ओर भावनाओं की अभिव्यक्ति के बारे में सहजता की अपेक्षा सजगता को महत्त्व दिया गया ।

हृदय-पक्ष का ह्रास भी इसी कारण से हुआ । कला केवल अभिव्यक्ति के माध्यम में ही लिपटी रह गयी । उसकी आत्मा में संवेदना कम थी; बनावट, शृंगार और अचम्भे में ला देने की बात ही अधिक ज़ोर पकड़ने लगी । हृदय-पक्ष की रागात्मकता काफी हद तक कट-छँट कर सामने आने लगी ।

बौद्धिक विचार-विकास का परिणाम दूसरे रूप में हुआ । काव्य की स्वाभाविकता तो नष्ट हुई ही, विचित्र प्रतीकों, उपमाओं-उपमानों को भी प्रयोग किया गया जिससे ज्ञेयता, स्पष्टता, सहजता के स्थान पर बुद्धि का अधिक प्रयोग किया जाने लगा । समस्त काव्य-शैली में शिल्प ही शिल्प रह गया । उसके सामने वस्तु हल्की पड़ गयी, और निश्चय ही यथार्थ से हट कर एक पलायनवादी प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ने लगी । इस प्रवृत्ति में मान्य-अमान्य रूप एवं विषय-वस्तु तो आये ही, साथ ही सर्वथा नयी अभिव्यंजना के माध्यम को भी स्वीकार किया गया । इधर संस्कार-गत रूढ़ि का मोह टूट चुका था किन्तु छायावाद और रहस्यवाद में स्थिति से पृथक् होकर शाँति की प्राप्ति संभव थी; उधर अपने चारों ओर के जीवन के प्रति जागरूक होते हुए भी वह प्रगतिशील तत्त्वों के अपरिपक्व (crude) रूप को नहीं अपना पाते थे ।

(४) इस व्यक्तिवादी अति का प्रभाव हिन्दी **गीत-शैली** पर कुछ विचित्र रूप में उभरा । गीत में तीव्रानुभूति की व्यंजना कम पड़ने लगी और केवल शिल्प प्रयोग, चमत्कार और रूप के लोभ को युग का गीतकार भी संवरण नहीं कर पाया । नयी गति, नये छन्द और नयी तुकों में गीत के गठित तत्त्व भी बिखरने लगे । एक वर्ग केवल संगीत का आधार लेकर जीवित रहने का प्रयास करने लगा, दूसरे में केवल चमत्कार ही चमत्कार रह गया; किन्तु इन दोनों अतिवादों के बीच एक समन्वित स्वस्थ गीतकार का विकास भी हो रहा था विशेषकर शंभूनाथ सिंह, गिरिधर गोपाल, केदार नाथ सिंह और कोकिल जैसे गीतकारों में न तो केवल प्रयोग की धुन रह गयी थी और न मिथ्या रोमाँसवादी प्रवृत्ति ही विकृत रूप में व्यक्त हुई थी । इन्होंने गीत-तत्त्व को सुरक्षित रखते हुए उसकी शैली को परिमार्जित किया । प्रयोग-रूप में उतना ही स्वीकार करने के लिये चष्टा की जो स्वाभाविक था ।

● **रहस्यवादी गीत**—इस अहंवादी गीत-शैली में रहस्यवाद का 'अज्ञात' स्वप्नदेवता सबसे पहले पराजित हुआ । महादेवी के गीतों में जो रहस्यवाद सन्तुलित, स्वस्थ और सौन्दर्य-युक्त रूप में प्रस्तुत हुआ था वही गीत-

कारों के प्रयोगों में गली-गली घूमने वाला निम्नकोटि का— 'रोमान्सवादी' छिछला और निम्नकोटि का गायक बन कर उभरा। कम से कम दस वर्ष तक (१९४० से १९५० तक) गीत-शैली का यह विकृत रूप बच्चन और महादेवी, इन दो सीमाओं से टकराता हुआ चूर-चूर होता रहा। उसमें पल्ले पड़ने वाली चीज नहीं के बराबर रही।

● **रोमाण्टिक तत्त्व**—छायावाद ने जो रोमांटिक अनुभूति हिन्दी-काव्य को दी थी वह शिथिल होकर रीति-कालीन प्रणय, एवं भोग-विलास में बन्दी होकर छटपटाने लगी। उसमें न तो वह दृष्टिकोण रह गया और न वह तीव्र अनुभूति; केवल एक विकृत संस्कार-मात्र रह गया जिसे ढोने में मध्य-वर्ग के कलाकार ही साधन बने रहे। गीतों से अधिक अनुभूत्यात्मक काव्य मुक्तक के रूप में लिखे गये, जिनमें अत्यधिक परिमार्जित और प्रौढ़ भावों को अभिव्यक्ति मिली। रोमाण्टिक तत्त्व उस दिशा में अधिक सफल हुए। इस मुक्तक और गीत-परम्परा के साथ ही गीत का पुन:संस्कार भी आगे चल कर हुआ।

● **विकृत अहंवादी गीत**—जिस विकृत अहंवाद ने यथार्थवाद और प्रगतिशील भाव-धारा के विद्रोह-रूप में अपना स्थान बनाया था, गीतों में वह अपरिपक्व, अराजकतापूर्ण और अनियंत्रित-असन्तुलित रूप मे व्यक्त हुआ। युद्ध के कुछ दिनों पूर्व से उसके बाद तक गीत-काव्य ही विशेष रूप से प्रचलित होकर स्वीकार किया गया था, किन्तु इसके प्रति अनास्था, अविश्वास और अजीर्ण का-सा अनुभव भी होने लगा था। वस्तुत: सामाजिक व्यवस्था और आर्थिक संकटों ने गीत का वातावरण ही समाप्त कर दिया था। व्यवस्थाएँ विशृंखल हो चुकी थीं, मान्यताएँ टूटने लगी थीं और इन सब में मनुष्य की रागात्मक प्रवृत्ति अधिक विवेचनशील, तर्क-प्रधान एवं विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियों में गुँथ गयी थी।

इसी पृष्ठभूमि में आज की नयी कविता का विकास हुआ। इसके ऊपर आधुनिकता की सबसे अधिक छाप केवल इसलिये है कि आधुनिक कविता के प्रमुख कवि सजग नागरिक थे, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विचार-धारा से प्रभावित थे, अपना एक दृष्टिकोण चाहते थे, पुरानी परम्पराओं के बनाव-चुनाव से ऊब चुके थे, और इस तथ्य के आधार पर ही वे अति आधुनिक कविता को भी स्वीकार कर सके थे।

हिन्दी-काव्य में इस आधुनिकता को सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन ने समझा और इसको प्रोत्साहन भी दिया, किन्तु इसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति निराला के कई गीतों में पहले ही हो चुकी थी। 'कुकुरमुत्ता' में वे सभी तत्त्व मिलते

हैं जो आधुनिक काव्य की भाव-व्यंजना को स्वीकार करते हुए उन समस्त सामाजिक, आर्थिक और नैतिक मान्यताओं को अंगीकार करते हैं जिनमें वस्तु का नयापन, शिल्प का प्रयोग और सर्वथा नयी परम्परा का सूत्रपात मिलता है। निराला के 'नये पत्ते' काव्य-संग्रह में इस दृष्टिकोण से विषय-वस्तु की आधुनिकता का बीज आरोपित होकर व्यक्त हुआ, किन्तु अज्ञेय के सम्पादन में 'प्रतीक' (त्रैमासिक) में यह काव्य-शक्ति अधिक सशक्त रूप में विकसित हुई। 'पहला सप्तक' जिसमें अधिकांश कवि प्रगतिशील भाव-धारा के पोषक थे किसी-न-किसी रूप में इन समस्त प्रवृत्तियों से प्रभावित थे जिन्होंने तत्कालीन काव्य-शैली के 'रूप' और 'वस्तु' दोनों के प्रति विद्रोह किया था। यद्यपि पहले सप्तक में काफी भ्रम और अस्पष्टता (confusion) कवियों में मिलती है किन्तु फिर भी उसकी चार विशेषताएँ ऐसी हैं जिनसे उनका स्थान आधुनिकतम प्रवृत्तियों से सदैव सम्बद्ध रहेगा—

१. विषय-वस्तु की नवीनता।
२. स्वस्थ व्यक्तित्व और व्यंजना के प्रति ईमानदारी।
३. बौद्धिक आधार।
४. सर्वथा नयी मान्यताओं के प्रति आग्रह।

बहुधा लोग नयी कविता को सीधा यूरोपियन या **अंग्रेजी प्रभाव** से ओत-प्रोत मानते हैं। जिस प्रकार से इतनी आसानी के साथ यह बात कह दी जाती है उतनी सरल वह है नहीं। आधुनिक कविता पर अंग्रेजी साहित्य के १९१८ से १९४० तक के साहित्यिक आन्दोलन का भी बड़ा प्रभाव दीख पड़ता है। डी० एच० लारेन्स, टी० एस० इलियट इत्यादि ने, प्रथम महायुद्ध के साथ एडवर्डियन और जार्जियन कवियों ने विक्टोरियन आत्म-बोष, और आडंबर की परंपरा को तोड़कर उस स्थिति के अनुकूल नवीनता को अपनाया और सीधी अनुभूतियों में भाव-चमत्कार को, शिल्प-चमत्कार को अपने रूप में ग्रहण किया। यद्यपि ये कला को चिर-नवीन रूप देने के पक्ष में थे, फिर भी ये अपनी नवीनता के अधिक पोषक थे। इनकी कविताओं में, कलाकृतियों में, प्रतिबोधन (perception) अधिक है, केवल संवेदना का रूखा रूप (crude form) नहीं है। हिन्दी कविता भी इससे आंशिक रूप में प्रभावित हुई।

● **रोमांटिक काव्य-धारा** की परम्परा समय के साथ नहीं टिक सकी। महायुद्ध के बाद से दूसरे महायुद्ध तक की अंग्रेजी-काव्य-शैली में प्रतीकवाद (symbolism), (surrealistic) और इस प्रकार अन्य शिल्पगत प्रयोग अधिक किये गये। इसका भी प्रभाव आधुनिक कवियों पर किसी न

किसी रूप में व्यक्त हुआ है पहले सप्तक में गिरिजाकुमार माथुर वास्तव में रोमांटिक गीत-तत्त्वों के प्रतिनिधि होते हुए भी अपनी काव्य-गत मान्यताओं में इन प्रवृत्तियों से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। अज्ञेय एक सजग शिल्पी हैं। गजानन मुक्तिबोध में उनका 'अहंवाद' व्यक्तिवादी संघर्ष बन कर उभरा है। नेमिचन्द जैन में एक छोर पर ओढ़ा हुआ प्रगतिवाद है तो दूसरी ओर उनका रोमाण्टिक कवि। वही चीज भारतभूषण में भी है; किन्तु इनकी रचनाओं में अत्यधिक तीव्रता है। इन तत्त्वों के होते हुए भी सब प्रमुख्यता प्रयोगवादी ही हैं।

इनके साथ ही हिन्दी-काव्य में क्या, समूचे साहित्य में एक तीखी अनुभूति **वैज्ञानिक भाव-धारा** को लेकर उठी, जिसने परंपरागत मान्यता में एक विशिष्ट प्रकार को विश्लेषणात्मक प्रेरणा दी। इस विश्लेषणात्मक मनोवृत्ति ने आलोचना को अधिक प्रौढ़ बनाने का प्रयत्न किया। आधुनिक हिन्दी-कविता को समझने का दृष्टिकोण अभी बन नहीं पाया है; और जब तक यह दृष्टिकोण प्रस्तुत न किया जाय, उसके लिये एक रुचि को अपनाया न जाय, अधिकांश चीजें समझ में नहीं आ सकतीं। यह चीज छायावादी कविता के साथ थी जैसा कि महादेवी जी ने 'दीपशिखा' की भूमिका में लिखा है कि छायावाद को एक सहृदय आलोचक की आवश्यकता है। ठीक उसी प्रकार से आज की अधिकांश कविताओं को समझने के लिये उनकी पृष्ठभूमि को विशेषरूप से समझने की, उसके सौन्दर्य को व्यक्त करके रखने और मान्यताओं की नवीन व्यंजना-शक्ति को व्यक्त करने की आवश्यकता है।

इधर कुछ आलोचकों ने, विशेषकर श्री नंददुलारे वाजपेयी ने अपने 'हिन्दी-साहित्य' लेख-संग्रह में प्रयोगवाद की कटु आलोचना प्रस्तुत करते हुए उसको उपहासास्पद बनाने की चेष्टा की है, किन्तु उसकी आलोचना प्रस्तुत करने के पूर्व उन्हें इन परिस्थितियों को देखना चाहिए था जिनमें छायावाद का अंत हुआ। उसके कारणों में ही इस नयी कविता के विकास का मूलाधार मिलेगा।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने आधुनिक काव्य-प्रवृत्तियों की कटु आलोचना करते हुए उनको केवल चमत्कार अथवा पथ-भ्रष्ट प्रयोगवादी ही माना है और इससे यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि आधुनिक कवियों में से अधिकांश केवल कलाहीन कवि हैं जिनका न तो पथ निश्चित है और न उद्देश्य ही निश्चित है। पता नहीं श्री नन्ददुलारे वाजपेयी इन निष्कर्षों पर कैसे पहुँचे; क्योंकि तथाकथित प्रयोगवाद के प्रमुख कवि और प्रेरक, अज्ञेय जी, ने स्वयं कहा है—
"प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है। और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो

वह सत्य के जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेरणा की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग-द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है।"—फिर जिस प्रकार की शंकाएँ वाजपेयी जी ने उठायी हैं उनका महत्त्व कहाँ है? पहले या दूसरे सप्तक के कवियों में से किसी ने भी चमत्कार अथवा निम्नकोटि की तृष्णा का पालन नहीं किया है। सभी सांस्कृतिक मान्यताओं को स्वीकार करते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि वे परंपरागत जर्जरता को ढोने के पक्षपाती नहीं हैं। वे नवीन तत्त्वों को स्वीकार करते हैं और उन तत्त्वों को अपनी स्वाभाविक अनुभूति के माध्यम से व्यक्त करने में उन्हें कोई संकोच भी नहीं होता। न तो उन्हें परंपरा के जीर्ण कलेवर को ढोने का मोह है और न ही उससे घृणा। उनमें आधुनिकता के प्रति उपेक्षा नहीं है—हो सकता है, इसीलिये वह परंपरा-वादियों को प्रिय न हो। नयी कविता के आलोचकों ने निम्नलिखित आधार पर उसकी आलोचना की है और यह बतलाने की चेष्टा की है कि आधुनिकत्तम प्रवृत्तियों में काव्यगत तत्त्व कुछ भी नहीं हैं केवल व्यक्तिगत अतिवाद ही है जिसे अनावश्यक ढंग से प्रश्रय दिया जा रहा है। इस वर्ग की आलोचना इस प्रकार है—

१. तार सप्तक के कवि साधारणीकरण का सिद्धांत नहीं मानते;
२. वे परंपरा के विरोधी हैं;
३. वस्तु और शिल्प के प्रति उदासीन हैं;
४. वे चमत्कार-तृष्ण हैं;
५. उनकी भाषा दोषपूर्ण है;
६. वे सांस्कृतिक मान्यताओं की उपेक्षा करते हैं।

इसके अतिरिक्त एक वर्ग उनका भी है जो अपने को जनवादी कहते हैं और जब तक जनवाद की आड़ में किसी विशेष राजनैतिक उद्देश्य में सहायता न मिले तब तक वे साहित्य को असफल समझते हैं। उनका कहना है कि आधुनिक कविता में—

● सामाजिक तत्त्वों (social realities) का व्यापक रूप वस्तुपरकता (objectivity) नहीं है। केवल विकृत आत्माभिव्यंजना (subjectivity) ही है।

● व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ अधिक हैं जिनके कारण कवि, समाज और जनवादी प्रवृत्तियों से पृथक अपनी कला का सृजन करना चाहता है। इन व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में यथार्थ से पलायन करने की प्रेरणा है।

● कविताओं में रूप-गठन (form) के प्रयोग अधिक हैं। वस्तु पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है जिसके कारण आधुनिक कविता में केवल चमत्कार भावना ही प्रधान है।

● विषय-वस्तु का फलक (canvas) उतना विशाल या सर्वप्रिय नहीं है। केवल व्यक्तिगत चमत्कार अधिक है। इसीलिये इन कविताओं में एकांगी प्रतीकों और भावों का प्रदर्शन अधिक किया गया है।

● रूप-गठन के कारण प्रत्येक नयी कविता केवल तृष्णा बन कर रह जाती है। उसमें काव्य-गुण अधिक नहीं उभरे हैं।

● अधिकांश कविताएँ बुद्धिवादी हैं। उनमें हृदय-पक्ष को बल न मिलकर केवल बौद्धिक विलास का समर्थन मिलता है।

उपर्युक्त दोनों वर्गों के आलोचक कविता को दो विभिन्न स्तरों से देखते हैं। एक तो काव्य को केवल परंपरा से जकड़े रखना चाहते हैं और दूसरे परंपरा को तोड़कर कविता को ऐसा रूप देना चाहते हैं जो केवल एक हाज़मे की पुड़िया के समान समाज के तमाम रोग और विकार को नष्ट कर दे। वस्तुतः इस प्रकार वे दो विभिन्न स्तरों से आधुनिक नये प्रयोगों को देखते हैं । इसके विपरीत आधुनिक कविता का रूप तो इन दोनों के बीच में विकसित हुआ और अधिकांश रूप में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक कविता दो विभिन्न प्रवृ-तियों की प्रतिक्रिया है जिसमें प्रथम परंपरावादी कवि हैं जिन्होंने शब्दजाल और छन्द को ही कविता माना है और दूसरे वे जनवादी हैं जिन्होंने साहित्य और कला को केवल एक विशेष 'उपयोगिता' का रूप देकर उसकी व्यापकता को नष्ट करना चाहा है। इसके विपरीत नयी कविता को समझने के लिये इन दोनों अतिवादों की भावभूमि से हट कर विवेचना करने की आवश्यकता है।

सबसे पहली बात तो यह है कि आधुनिक कविता की पृष्ठभूमि में उन तत्वों को देखना होगा जिनके आधार पर सर्वथा नयी शैली, नया छन्द, नये शब्दों और नयी अनुभूतियों का विकास हुआ और जिसके अन्तर्गत ही वे सभी तत्त्व सप्राण रूप से प्रयोग के रूप में सर्वथा नयी प्रवृत्ति लेकर आगे बढ़े। और इन तत्वों की जड़ें छायावाद के दुरूह और खोखले शब्दाडम्बर के वातावरण में निहित मिलेंगी।

दूसरी बात यह है कि परंपराओं के प्रति सहसा विद्रोह की भावना क्यों उठी ? क्या परंपराएँ स्वयं में पूर्ण हैं, अथवा वे देश-काल के अन्तर को एवं युग की मान्यताओं को स्वीकार करती हैं? आधुनिक कविता की आलोचना की पृष्ठभूमि में यह सदैव याद रखना चाहिए कि संसार को दो विश्व-महायुद्धों का अनुभव है और इन दोनों महायुद्धों ने किसी विशेष जाति या

वर्ग पर ही अपना प्रभाव नहीं छोड़ा है वरन् सीधे या टेढ़े तरीके से उसका प्रभाव मनुष्य और उसके आदर्शों पर समान रूप से पड़ा है और एक सैद्धांतिक भूडोल में नयी कविता के स्वर फूटे हैं।

तीसरी बात यह है कि आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य की भावनाओं को सामंतवादी मध्यकालीन मान्यताओं में बाँधना असंभव है, क्योंकि आज के जीवन के सामाजिक, आर्थिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं इसलिये आज के दिन विषय और वस्तु दोनों के रूप एक ओर टूट रहे हैं और दूसरी ओर नये सिरे से बन रहे हैं। इस नयेपन में नये शब्दों, नये भावों, नये छन्दों का होना स्वाभाविक है।

चौथी बात यह है कि वर्तमान युग स्वयं आदर्शों के संघर्ष का युग है। राजनीतिक क्षेत्रों में तो शब्द अपने अर्थ और भाव दोनों ही नष्ट कर चुके हैं। प्रमाण के लिये 'शान्ति' के ही प्रश्न को ले लीजिये। इधर अमरीका और उधर रूस, दोनों शान्ति का आन्दोलन खड़ा करके युद्ध का आवाहन करते हैं। ऐसी स्थिति में कौन शान्ति का रक्षक है, कौन अशान्ति का पोषक, इसको समझने के लिये बुद्धि लगानी ही पड़ती है।

पाँचवें, यह मानना पड़ेगा कि समाज, देश, राष्ट्र और इन सबके अतिरिक्त भी मानव जीवन का एक व्यक्तिगत स्तर है, भावभूमि है। वह कुछ देर के लिये अपनी दृष्टि से भी सोच सकता है, समझ सकता है और हो सकता है कि वह अत्यधिक व्यक्तिवादी भी हो। फिर यह कहना कि कला का व्यक्तिवादी रूप सर्वथा त्याज्य होना चाहिये सर्वथा भ्रामक और असत्य है।

छठी बात यह है कि प्रयोगवाद या नयी कविता के पीछे कोई वाद नहीं है। यह केवल सत्य और तथ्य के साध्य और साधन को स्वीकार करता है और उन्हीं के आधार पर ही उसके प्रयोग भी हैं।

नयी कविता की आलोचना प्रस्तुत करते समय हमें इन बातों को अवश्य ध्यान में रखना होगा। प्रगतिवादी आलोचकों में उनका 'वाद' इतना छा जाता है कि वे प्रत्येक बात में केवल सन्देह ही पाते हैं। छायावादी युग के आलोचक परम्पराओं से चिपक कर नयी कविता पर दृष्टि डालते हैं। किन्तु इन दोनों के अति से बचकर यदि स्वतंत्र रूप से और निरपेक्ष objective दृष्टिकोण से देखा जाय तो निश्चय ही नयी कविता में वे तत्त्व मिलेंगे जिनमें साहित्य और कला पक्ष दोनों ही का निर्वाह किया गया है।

[२]

परिप्रेक्षण की नवीनता

किसी भी कला की नयी दिशा यह स्वीकार करती है कि मूल तत्त्वों का वर्गीकरण* करना अथवा बाह्य आरोपित मतवाद के अन्तर्गत उसकी स्वाभाविकता में अनावश्यक सीमाएँ स्थापित करना उसकी मुक्त अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगाना है। लेकिन इसके साथ ही इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रत्येक सृजन की मूल प्रवृत्ति परिस्थिति, वातावरण, दृष्टिकोण, ऐतिहासिक दायित्व और परम्परा आदि विभिन्न रूपों से प्रभावित रहती है और उन प्रभावों में देश, काल, सभ्यता, संस्कृति के वे उपादान निहित रहते हैं जिनमें एक प्रकार की अनिवार्यता होती है। जो भी कला-प्रवृत्ति इस आवश्यक परिवर्तन को स्वीकार नहीं करती वह पुनरावृत्ति की स्थिति में केवल शब्दाडम्बरों, प्रतीकों, और रूढ़िगत बिम्बों की ऐसी अस्थि बनकर रह जाती है जिसका स्तूप भव्य भले ही लगे किन्तु न तो वह प्रेरणा देने में समर्थ होती है और न दे ही सकती है। यही कारण है कि कसी भी कलाकृति की विशेषता उसके आकार-प्रकार पर आधारित न होकर

---

*The work of art is a product of the relationships which exist between the individual and a Society and no great art is possible unless you have as corresponding and contemporary activities the spontaneous freedom of the individual and the passive coherence of a society.—HERBERT READ

सौन्दर्य-बोध के उन बौद्धिक तत्त्वों पर आधारित होती है जिनमें किसी भी भाव सत्य के रूपान्तरित अनुभूति का साक्षात्कार करने और कराने की क्षमता मूल रूप में है। इसके विपरीत जो कलाकृति केवल परम्परा की प्रचलित क्रिया मात्र होती है उसमें जागरूकता नहीं होती और इसी जागरूकता के अभाव में वह उस प्रेरणा-शक्ति से वंचित रहती है जिसकी वास्तविकता कला की मौलिकता के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक है। परिणामस्वरूप यह कला-सृजन नये सन्दर्भों और धरातलों के अभाव में केवल जड़ परम्परा की रूढ़ियों की प्रेत-काया मात्र बनकर जीवित रहती है। कला का ह्रास इन्हीं रूढ़ियों के आधार पर ही पनपता और बढ़ता है क्योंकि नयी व्यंजना और नयी अभिव्यक्ति के अभाव में केवल परिचित शिल्प शैली का परिमार्जन और उसका चमत्कार विषय-वस्तु की विकासोन्मुख प्रवृत्ति पर हावी हो जाता है और कला केवल कृत्रिम बन्धनों में बँधी-बँधी टूटने लगती है। यह विशृंखलता अथवा रूढ़िवादिता कला से उसके जीवन्त तत्त्व छीन लेती है।

इस दृष्टिकोण से आज की नयी कविता के मूल तत्त्व में उस नये तत्त्व की चिर विकसित प्रवत्ति निहित है जिनमें सर्वथा नये आयामों का विकास होता है और उसकी सौन्दर्यानुभूति की बौद्धिक चेतना अभिव्यक्ति पाती है। ऐसा लगता है कि यह प्रवृत्ति आत्मसत्य और वस्तुसत्य के साथ-साथ परम्परा के जीवन्त तत्त्वों की सर्वथा नयी परिप्रेक्षित दृष्टि प्रदान करके उस स्तर को अन्वेषित करने में प्रयास-शील है जिसमें संस्कार और यथार्थ का उचित योग मिल सके। लेकिन इस योग को समन्वय और समझौता नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस तथ्य में वह सभी सम्भावनायें निहित हैं जो विकास-क्रम के साथ सम्बद्ध हैं। हो सकता है कि इस प्रयास में कुछ अनावश्यक विक्षिप्त भ्रान्तियों, वैयक्तिक कुण्ठाओं और अमर्यादित संवेदनाओं का संस्कारच्युत रूप भी विकसित हो गया हो लेकिन मात्र यह आभास उसकी आत्मसत्य अनुभूति और निर्भीक अभिव्यक्ति पर अपवाद बनकर नहीं छा सकता; क्योंकि आज की नयी कविता में एकआधारभूत ईमानदारी है जिसके कारण उसका विकास होना अनिवार्य है। इसमें सन्देह नहीं कि ईमानदारी ही उसके गतिशील विकासोन्मुख तत्त्व का प्राण है जो आज की कटुता, विद्रूपता और कठोरता को स्वीकार करते हुए नये सौन्दर्यबोध के प्रति आस्थावान है, और यह सौन्दर्य-बोध, एकांगी अथवा पलायनवादी सौन्दर्य-बोध नहीं है वरन् इसमें कटुता के प्रति आस्था समान रूप से मौजूद है।

प्रस्तुत आधार पर जब हम किसी भी काव्यकृति को "नयी कविता" के नाम से सम्बोधित करते हैं तो उस "नयी" की पृष्ठभूमि में स्थापित उन मूल तत्त्वों के वृहत्
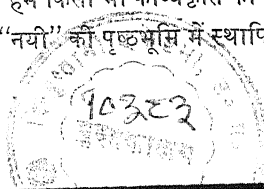
अर्थ की ओर संकेत करते हैं जिनपर उसकी नवीनता आधारित होती है।* यही नहीं कि वे मूल्य ही उसे कविता बना देते हैं वरन् यह कि उन मूल तत्त्वों में वह नया स्तर भी प्रतिष्ठित है जो आज की विवादग्रस्त स्थितियों के बीच पनपने की चेष्टा कर रहा है। सारांश यह कि जब हम "नयी कविता" को स्थापित करते हैं तो उसके पीछे विभिन्न सामाजिक, दार्शनिक एवं ऐतिहासिक स्थितियों का संकलित रूप भी हमारे सामने होता है जो आज के व्यापक जीवन का अंग बन चुका है। अस्तु, नयी कविता का मूल वृत्त उन बिन्दुओं का समूह है जिसमें वे सभी तत्त्व समन्वित हैं जो नये सौन्दर्य-बोध से विकसित होते हैं। यही कारण है कि "नयी कविता" से हमारा आशय होता है,

१. उसकी नयी परिप्रेक्षणीयता,
२. अनुभूतियों के नये रूपान्तरण और उनके नये अनुभव-क्षेत्र,
३. सौन्दर्य-बोध के नये धरातल,
४. परम्परागत विकृत मूल्यों के परिष्करण,
५. मतवादी भ्रान्तियों से मुक्ति पाने की कामना,
६. तदात्म सत्य की वे परिधियाँ जिनमें हमारा रागात्मक रसबोध नये आयामों का अन्वेषण करने की सामर्थ्य पाता है।

यह नवीनता निश्चय ही अनुभूतियों का अन्वेषण नहीं है। वरन् भाव-वहन की उस सामर्थ्य का प्रतीक है जिसमें मूल्यों की नयी धारणायें विकसित होती हैं। अन्य शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि नवीनता से हमारा आशय इस तत्त्व के उस प्रस्फुटन एवं रसाभास के उस अवतरण से है जिसकी खमीर में अनुभूतियाँ पकती हैं, सीझती और संकलित होती हैं। यह वह मानसिक स्थिति है जिसमें अनुभूतियाँ अनुभव-स्तर की गहराइयों को समाहित करना चाहती हैं। ये गहराइयाँ व्यापक मानव-निष्ठा की परिचायक होती हैं। अनुभव के स्तर भी इन्हीं के माध्यम से बदलते हैं। आज के व्यापक जीवन में संस्कारहीन शब्दों और भावों की अस्पष्टता इस बात के लिए हमें बाध्य करती है कि हम उन लोगों से पृथक सोचें और अनुभव करें जो केवल पुनरावृत्ति के रूप में परम्परा से सम्बद्ध होने का अभिनय करते हैं। शान्ति, दया, दुःख, विषाद, वेदना आदि शब्दों का सन्दर्भ आज वह नहीं है जो आज से पचास वर्ष पहले था। आज मानव-समाज में इन स्थायी भावों के रूपों में भी विकृतियाँ आ गयी हैं। शान्ति ही को लीजिये। आज इसका मूल अर्थ

*But the modern artist has a right to claim that before the philosophers have a right to speak, science must first be asked to tell us all she can as to ascertain fact and provisional hypothesis.—JAMES FEANES.

क्या है और इसकी प्रवृत्ति क्या है—दोनों में बड़ा व्यावहारिक अन्तर भी आ खड़ा हुआ है। रूस भी शान्ति की स्थापना चाहता है और अमरीका भी; लेकिन शान्ति के इन दो रूपों में किसी एक को स्वीकार करना शान्ति के साथ कहां तक न्याय करना होगा यह भी स्पष्ट है। दया, क्षमा इत्यादि भावनाओं के समक्ष भी यही एक स्थिति है। इन भावनाओं को तिरस्कृत करके चलने का अर्थ पलायनवाद हो सकता है किन्तु इनकी प्रतिवादी विकृतियों से मुक्त होकर वास्तविक सन्दर्भ और अर्थ की मूल निष्ठा को स्वीकार करना, उसके नए अनुभव क्षेत्र में हस्तान्तरित करना उन सबको अपरिचित और अरुचिपूर्ण लग सकता है जो अपनी विकृत संस्कार-रूढ़ि के कारण पृथक् रूप से सोचने में असमर्थ हैं। नयी कविता इन अतिवादी विकृत परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह का स्वर है। यह नयापन बहुतों को अपरिचित लग सकता है लेकिन मात्र अपरिचित होने के नाते उसकी आस्था को तिरस्कृत नहीं किया जा सकता। उसे समझने के लिए आवश्यक है कि :

● सामाजिक चेतना के उस स्तर के प्रति उदारता बरती जाये जिसमें परम्पराओं के कृत्रिम रूप को नष्ट करके नये दृष्टिकोण स्थापित किये जा रहे हैं।

● वस्तुसत्य के कटु यथार्थ की उस सामर्थ्य को स्वीकार किया जाये जो आज के मानव जीवन के सन्दर्भ में निहित होकर उसके विस्थापित मनोभावों को नया स्तर देना चाहती है।

● संवेदनाओं के बाह्य और आन्तरिक पक्षों की मनोवैज्ञानिक सार्थकता को स्वीकार किया जाये और उन मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों को माना जाये जो आज के जीवन की जटिल मन:स्थितियों का विश्लेषण-सत्य प्रस्तुत करते हैं।

● निरपेक्ष आदर्शोन्मुख जीवन और सापेक्ष वस्तुसत्य के संघर्ष में विकसित नये मूल्यों और नयी आस्थाओं की विकास-प्रवृत्ति को सहानुभूति की दृष्टि से देखा जाये ताकि जीवन से सम्बद्ध सत्य, आदर्श की समर्थ सूक्ष्म सत्ता को, वस्तुसत्य के साथ वहन कर सके।

लेकिन यह सब उस समय तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक हम वर्तमान युग की आधुनिकता के प्रति उदार दृष्टि नहीं रखेंगे। यह आधुनिकता मात्र सभ्यता से सम्बन्ध नहीं रखती। आधुनिक का तात्पर्य है समकालीन विकासशील मान्यताओं और प्रतिमानों के प्रति सहृदयता रखना। इस सहृदयता के अभाव में वे सभी मान्यतायें जो आधुनिक तत्त्वों के साथ विकसित होती हैं असंगत और त्रुटिपूर्ण लगती हैं। विशेषत: भारतीय जीवन की आधुनिकता की पृष्ठभूमि में उन मूल्यों का विघटन है जो दो महायुद्धों एवं राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभावों से सम्बन्ध रखता है।

छायावाद इस आधुनिकता का प्रथम चरण था लेकिन वह केवल उन परम्पराओं से मुक्त होकर उदात्त आदर्शवाद की ओर अधिक झुक गया जिसके कारण वह अपने में वे तत्त्व नहीं समाहित कर सका जो देश और काल की सीमा में विकसित होकर पनप रहे थे। यही कारण था कि छायावाद में कई प्रकार की विकृतियाँ भी आ गयीं जिनका चरम विकास रहस्यवाद में व्यक्त होकर समाप्त हो गया। ये विकृतियाँ छायावाद में आनी स्वाभाविक थीं क्योंकि परम्परा की रूढ़िगत मान्यताओं के प्रति विद्रोह करने के बावजूद वह स्वयं किसी ऐसे धरातल का निर्माण नहीं कर सकता था जहाँ उदात्त भावनाओं का विशुद्ध मानवीकरण हो पाता। इस असमर्थता का मुख्य कारण था देश-काल की वास्त-विक महत्ता के प्रति छायावाद की उपेक्षा। यही नहीं, छायावाद की समस्त भावुकता, उदात्त चेतना, केवल एक ऐसा वृत्त बनकर रह गयी जिसमें उस सहज और स्वाभाविक परिचयात्मक जिज्ञासा का विकसित होना कठिन था। छायावाद इसी लिए केवल एक अमरबेल के समान विकसित होकर रह गया। उसकी उदात्त भावना ऊपर की ओर इसलिए नहीं बढ़ सकी क्योंकि उसका धरातल* स्थूल नहीं था, उसमें मानवीकरण करने की असमर्थता थी। वह ठोस पृथ्वी के आधार के बिना केवल एक आन्दोलन बनकर शान्त हो गया।

प्रश्न उठता है कि आधुनिकता की वास्तविक मूल्य-मर्यादा क्या है। स्पष्ट है कि आधुनिकता कोई बाह्यतः आरोपित वस्तु नहीं है वरन् वह देश-काल की अनुभूत स्थिति की अभिव्यक्ति है। इसीलिए आधुनिकता केवल सभ्यता में नहीं व्यक्त होती वरन् मानवीय° संस्कृति के उपकरणों में अभिव्यक्ति पाती है। यह उपकरण विचार और धारणा के आधार पर बनते हैं। ज्यों-ज्यों विचार का विकास होता है धारणायें भी उसी के अनुकूल ढलती हैं। विचार क्रमशः अनुभव के आधार पर विकसित होता है, और अनुभव की सहज प्रवृत्ति उस तत्त्व का परि-त्याग करके नये तत्त्वों को ग्रहण करना है जो कालान्तर में अपनी प्रेषणीयता नष्ट कर चुके होते हैं। आधुनिकता आज की सापेक्षता में मूल्यों और मर्यादाओं को नयी दृष्टि देने में है। इसीलिए आज जो केवल समसामयिक है वह आधुनिक नहीं भी हो सकता।

---

*Then Culture will have to grow again from soil. I do not mean that it will be brought into existence by any activity of political demagogues. —T. S. ELIOT.

° Culture may even be described as that which makes life worth living. And it is that which justifies other peoples and other generations in saying, when they contemplate the remains and the influence of an extinct civilization that it was worth while for the civilization to have existed.—T. S. ELIOT.

कलाकार इस अनुभव के प्रति और अनुभव के आधार पर आधुनिकता के प्रति जागरूक रहता है। यह जागरूकता विचारों और धारणाओं में व्यक्त होकर जब मानवीय मूल्यों में परिवर्तन उपस्थित करती है तो बहुधा उससे मात्र अपरिचित होने के कारण साधारणतः ग्राह्य नहीं होती। इस अग्राह्यता में अन्ध विश्वास, रूढ़ि और परम्परा का बहुत बड़ा हाथ रहता है। आधुनिकता इन रूढ़ियों और गलित परम्पराओं का परित्याग करके नयी स्थापनायें प्रस्तुत करती है क्योंकि वह गत स्थितियों की अपेक्षा अधिक बौद्धिक और विवेकशील होती है। उसका जीवन से गहरा सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार आधुनिकता के मुख्य लक्षण हैं:

- बौद्धिक जागरूकता के आधार पर आधुनिकता वर्तमान रूढ़ियों के समक्ष विद्रोही के रूप में प्रस्तुत होती है। आज का युग इस बौद्धिक तत्त्व को स्वीकार करके चलता है।

- वैज्ञानिक विश्लेषण में विश्वास इसलिए आवश्यक है कि आज का युग किम्वदन्तियों का युग नहीं रह गया है। आज जीवन के मूलभूत तत्व प्रायः इस विश्लेषण की महत्ता पर ही आधारित होने की चेष्टा कर रहे हैं।

- विघटित मूल्यों का तिरस्कार और नये मानव-मूल्यों की स्थापना प्रस्तुत दो मान्यताओं का निष्कर्ष है। यही निष्कर्ष उन अन्वेषित और मुक्त अनुभवों के आधार पर स्थापित होते हैं जिन्हें समय की गति और ज्ञान की परिधि अपने विस्तार के साथ मनुष्य को प्रदान करती है।

इसीलिए किसी नयी कला-प्रवृत्ति को समझने के लिए आधुनिक दृष्टि अनिवार्य रूप से आवश्यक है। साहित्य में और विशेषतः नयी कविता को समझने में इस आधुनिक बौद्धिक पृष्ठभूमि का होना नितान्त आवश्यक है। और आज का युग इसलिए और भी सर्वथा नया लगता है क्योंकि आज हमारे विचार और हमारी धारणा एक सीधी रेखा के रूप में न तो विकसित होते हैं और न व्यक्त हो पाते हैं, क्योंकि जीवन की विभिन्न अनुभूतियाँ एक दूसरे पर इतनी आधारित होकर विकसित होती हैं कि बहुधा एक अनुभूति केवल एक गति देकर समाप्त हो जाती है लेकिन उस एक गति से अनेक नयी अनुभूतियाँ अपने आप ही विकसित होकर व्यक्त होने लगती हैं। वस्तुतः आज कोई भी अनुभव या अनुभूति मूल रूप में स्थापित ही नहीं हो पाती, क्योंकि मनोवैज्ञानिक आधार पर कोई भी मूल भावना अथवा संवेदना मात्र भावना और संवेदना बनकर रह नहीं पाती। इसमें संसर्ग (association), स्मृति (memory), विचार (idea), अनुभव (experience) इत्यादि इस प्रकार एक-दूसरे से गुथे हुए व्यक्त होते हैं कि बिना इन समस्त स्थितियों को ग्रहण किये

किसी भी भावानुभूति को समझना कठिन लगने लगता है।* आधुनिक जीवन इस अपवाद, इसकी सीमाओं और सम्भावनाओं को स्वीकार करके चलता है। जीवन और यथार्थ की परिभाषायें भी इस देश-काल के अन्तर्गत बँधती हैं। विशेषतः इस युद्धजन्य संक्रामक युग में जहां विभिन्न मूल्यों और प्रतिमानों का कलेवर स्वतः नष्ट हो रहा है, यह आवश्यक है कि हम अपनी अनुभूतियों की ईमानदारी को स्वीकार करने के बाद भी उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति को उसके अनुकूल होने और उसकी मर्यादा का भार वहन करने की चेष्टा करें जिसमें युग की नयी चेतना विकसित हो रही है।

यह तो हुई उस साहित्यिक सहानुभूति की बात जो किसी भी साहित्यिक कलाकृति को समझने के लिए आवश्यक है किन्तु उस परिप्रेक्षण° (perspective) के मूल तत्त्व कौन से हैं जिनके माध्यम से हम नए को पुराने से पृथक् करते हैं? यह उसी सहानुभूति का एक अनिवार्य अंग है। वस्तुतः परिप्रेक्षण की दृष्टि से नयी कविता उस अभिव्यक्ति का समर्थन है जिसमें उदात्त अनुभूति भावान्तरित होकर रूढ़ि और काव्य-चातुर्य की अपेक्षा जीवन की सहजता और उसकी स्वाभाविकता पर बल देती है अर्थात् जो रागात्मक रहस्यानुभूति या छायावादी शब्दानुभूति की अपेक्षा सत्यानुभूति के जीवन्त सम्पर्कात्मक तत्त्वों को प्रतिष्ठित करती है। और जीवन की सम्पर्कात्मक अनुभूति उस **चेतना की स्वाभाविक चेष्टा** है:

- जो जीवन के निरपेक्ष मूल्यों की अपेक्षा उसकी सापेक्ष वस्तु-स्थिति द्वारा व्यक्त मूल्यों के प्रति आस्था का नया स्तर निर्माण करना चाहती है;

---

*Ideas from the various departments of thoughts cross-fertilize each other and it is sometimes a good idea to discuss one kind of thought in terms of other.

—LAWRENCE DURELL.

Man is simply a box labelled personality...A reality which is beyond the reach of intellectual qualification, a reality which even the greatest art is incapable of rendering.

—THE SAME

°It is not clearly either a romantic or a classical age nor are the categories of romantic or classical tradition applicable to it. In the circumstances, the poet has no alternative but to rely on a certain inward perspective, a coherence of the personality based on the widest evidence of the senses.

—H. READ

● जो अनुभूत सत्य की मर्यादा को शास्त्रीय एवं निर्धारित काव्यगत मूल्यों की अपेक्षा मानव सत्य, और मानवीय संवेदनाओं पर अधिक आधारित रखना चाहती है ;

● जो वैयक्तिक चेतना की मूल प्रेरणा को व्यापक स्तर पर स्वीकार करने की क्षमता ग्रहण करना चाहती है ; समूह और समाज के दायित्व को स्वीकार करते हुए जो वैयक्तिक स्वतंत्रता को जीवन के विकास के लिए मूल सिद्धान्त मानती है ;

● जो जीवन के तदात्म सत्य को उस महत्त्वपूर्ण अनुभूत क्षण में अवतरित करना चाहती है जिसमें देश, काल और अन्य मर्यादायें उस सत्य के माध्यम से अभिव्यंजना ग्रहण करने की चेष्टा करती हैं, जिसमें ईमानदारी और सहृदयता दोनों का साम्य रहता है। इस महत्त्वपूर्ण अनुभूत सत्य की सहज सम्भावना नयी कविता का स्वर है ;

● जो मानव जीवन के बदलते हुए सन्दर्भों को नये मानदण्ड प्रदान कर सकती है। ये मानदण्ड ऐतिहासिक सत्य के रूप में जिस हद तक जीवन को प्रभावित करते हैं उतना सब नयी कविता के वृत्त में आ सकता है। वह अंश जिसमें वैयक्तिक कुण्ठाओं और अतिवादी संकीर्णताओं का समावेश है, वह भी नयी कविता से पृथक् नहीं है क्योंकि वह जीवन का सापेक्ष सत्य है।

यह चेतना कहीं से आरोपित अथवा अनावश्यक रूप से प्रतिष्ठित भावना नहीं है। यह आज के युग की सहज विकसित प्रवृत्ति है। आज जीवन न तो किसी अतिवादी संकीर्णता में पनप सकता है और न ही वह प्रतिक्रियावादी भाग्य-वाद के आधार पर विकसित हो सकता है। वस्तुतः आज का समूचा दृष्टिकोण उस विद्रोह से विकसित होता है जहां समाज और शासन के चक्र में मनुष्य का व्यक्तित्व ही सारहीन-सा प्रतीत होता है। एक ओर अधिनायकवादी विचार-धारा जीवन के सूक्ष्म दृष्टिकोण तक को सामूहिक सामाजिक चेतना के नाम पर प्रशासित करने का प्रयास कर रही है और दूसरी ओर वर्तमान परिस्थिति से पलायन करने के लिए दूसरी शक्तियाँ वैयक्तिक कुण्ठाओं और संकीर्णताओं को आदर्श मानकर मानव व्यक्तित्व को कृत्रिम बनाने के प्रयास में लगी हुई हैं। आज की समस्त कला-चेतना और सौन्दर्यानुभूति इन्हीं दो विभिन्न स्थितियों में अपने को अस्तित्वहीन-सी महसूस कर रही है। नयी कला-चेतना इन दोनों की अनावश्यक कृत्रिम आकांक्षा के प्रति विद्रोह करती है। भाव-क्षेत्र की सृजनानुभूति वैयक्तिक स्वतंत्रता के बिना सम्भव नहीं है। कला की सूक्ष्म आन्तरिक प्रेरणा को अना-वश्यक ढंग से प्रशासित करने की कोई भी योजना एक असफल प्रयास है, जिसके विरुद्ध आज की समस्त बौद्धिक और वैयक्तिक चेतना जागरूक रूप से

विद्रोही है। मूल मानव अनुभूतियां जहां भी इन अतिवादी मन:स्थितियों से प्रशासित हुई हैं वहाँ की कला आत्महीन और प्राणवंचित होकर रह गयी है। जीवन की व्यापक अनुभूति आरोपित समाजवाद अथवा अध्यात्मवाद अथवा भाग्यवाद को स्वीकार नहीं करती। यही कारण है कि अभिव्यक्ति में एक प्रकार की अराजकता, वैयक्तिक* भावसत्ता की नृशंसता भी दिखलाई पड़ती है जो सहसा समस्त मानदण्डों के विरोध में व्यक्त होती है लेकिन यह मात्र विरोध भी नहीं है क्योंकि आज की साहित्यिक एवं कला चेतना के समक्ष कुछ इतना मर्मान्तिक अनुभव है कि जो स्वतः कृति में प्रतिबिम्बित होकर व्यक्त होता है और अपनी निष्ठा भी संचालित करता है।

यहां पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि वह कौन सी निष्ठा है जिसको आज का कलाकार स्वीकार करता है। लेकिन यह प्रश्न भी अपने में अधूरा है क्योंकि एकनिष्ठ अधिनायकत्व को आज की नयी चेतना न तो स्वीकार करना उचित समझती है और न इस प्रकार की घोषणा कला के विकास के लिए आवश्यक है। इसके विपरीत आज की नयी कला-चेतना उस व्यापक दृष्टिकोण को स्वीकार करती है जिसमें समस्त मानव अनुभूति स्वतः समाहित होकर अपनी मूल प्रकृति के साथ व्यक्त होती है। किन्तु यह सारी परिप्रेक्षण-दृष्टि जिन मूल मान्यताओं में पूर्व कला-प्रवृत्तियों से भिन्न है वह एक मात्र उस आयाम का परिवेश है जहाँ से हम आज के वस्तु-जीवन के विभिन्न अनभूति-स्तरों को सहानुभूति की दृष्टि से देखते हैं। इस नये आयाम का सार्थक अर्थ है वह नयी दृष्टि जो भावानुभूति-वहन के क्षणों में हम अपनी मन:स्थिति के साथ प्राप्त करते हैं। प्रत्येक आदर्श, प्रत्येक मान्यता, प्रत्येक बोध, प्रत्येक दर्शन, चिन्तन और निष्कर्ष उस मन:स्थिति में पक कर नया रूप ग्रहण करता है। इस नये रूप में केवल वस्तु-दृष्टि अथवा वस्तु-स्थिति मात्र ही नहीं होती वरन् प्रत्येक भावस्थिति में निहित उस वेदना को समझने की चेष्टा की जाती है जो स्नेहवंचित संस्कारों से पृथक् केवल, सूक्ष्म मानव से वेदना की शुद्धता लेकर विकसित होती है। इसलिए इस नए दृष्टिकोण, परिप्रेक्षण और आयाम से हमारा आशय उस नयी मर्यादा से है :

● जो असाम्प्रदायिक मानव सत्य को ग्रहण करने की दृष्टि प्रदान करती है और अनुभव-स्तर में उन परिवर्तनों को स्वीकार करती है जिनका व्यापक अस्तित्व समस्त मानव चेतना में स्थित है।

*Obscurity in poetry cannot be regarded as merely a negative quality, a failure to attain a state of perfect clarity. It is a positive value but more, it is a whole series of such values.
—HERBERT READ.

● जो अनुभूति की सापेक्षता के साथ नय दृष्टिकोण को केवल आदर्श और सामाजिक चेतना के स्तर से न देखकर एक तीसरे स्तर से भी देखने की चेष्टा करती है और वह है वैयक्तिक दृष्टि, स्वानुभूति की दृष्टि, अथवा देश-काल के साथ आत्मदर्शन की दृष्टि।

● जो सत्य, सुन्दर और शिव की मान्यता को सीमाबद्ध नहीं करती। यह दृष्टि जीवन के साथ सम्बद्ध अशिव, असत्य और असुन्दर को भी मानवीय दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करती है ; पूर्वाग्रहियों की तरह उससे पलायन करना कला के लिए आवश्यक नहीं मानती वरन् वह अशिव और अशोभन जीवन-सत्य को जागरूक, आस्थामय वस्तु के रूप में स्वीकार करके उसे वहन भी करती है।

इसके अतिरिक्त यह नया दृष्टिकोण हमें साहित्य के माध्यम से, अथवा कला के माध्यम से जीवन के सामाजिक मूल्यों को देखने का अवसर देता है। अभी तक तो समाज के माध्यम से साहित्य को देखने की प्रक्रिया साहित्य-दर्शन और कला की बौद्धिक भावना का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी किन्तु आज के युग में यह सत्य है कि साहित्य के माध्यम से समाज को देखा जाये क्योंकि आधुनिक साहित्य की यह विशेषता है कि वह समस्त सामाजिक संवेदना को वहन करते हुए भी सामाजिक विकृतियों के प्रति ममतामय नहीं है—यह बात थोड़ी उल्टी लग सकती है किन्तु इस दृष्टि से साहित्य और समाज दोनों को देखने की आवश्यकता है।

इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज के दृष्टिकोण में विशेषतः बौद्धिक अनुभूति ही प्रधान है। यह बौद्धिक अनुभूति केवल बुद्धि-विलास नहीं है वरन् मूल्यों में स्थित संक्रमण का विवेकपूर्ण विश्लेषण है। यह विश्लेषण जिन निष्कर्षों को स्थापित करता है उनके प्रति जागरूकता इसका मन्तव्य है। यही कारण है कि आज की सौन्दर्यानुभूति के साथ यह बौद्धिक चेतना भी समान रूप से व्यक्त होती है।

इसके अतिरिक्त परिप्रेक्षण की दृष्टि से आधुनिक युग की कला-भावना केवल वस्तुस्थिति के चित्रण मात्र से सन्तुष्ट नहीं होती। उसमें वह गहराई और व्यापकता भी प्रदान करना चाहती है जो एक छोर पर व्यक्ति की आत्म-संवेदना को व्यक्त कर सके किन्तु दूसरी ओर वह उदात्त मानवानुभूति कायम रक्खे जो किसी भी कला द्वारा अपेक्षित है। केवल अनुभूति उस समय तक सार्थक नहीं होती जब तक उसमें १. अनुभव (experience), २. आत्मसाक्षात्कार (realization), और ३. अनुभवगत अभिवृद्धि (adding new links of experiment) व्यक्त होकर उसको नहीं सँवारते।

अस्तु, नयी कविता का मूल अभिप्राय अनुभूतियों को वस्तु-सत्य के सन्दर्भ के साथ अनुभवबद्ध करना है। इसके साथ ही नयी कविता और आज की नयी कला-अभिरुचि प्रत्येक अनुभव को देश, काल, मानसिक स्थिति, तथा विवृत्ति के आधार पर स्वीकार करती है। आज का नया कवि उस धरातल पर है जहाँ वह प्रत्येक अपवाद, प्रत्येक विषमता को स्वीकार करता हुआ जीवन के सचेत परमाणुओं को एकनिष्ठ करने में प्रयासशील है। छायावाद की भांति नयी कविता केवल उदात्त अनुभूति-चित्रण में विश्वास नहीं करती। वह आरोपित मतवाद को भी स्वीकार नहीं करती है। इसीलिए इसमें विद्रोह है, पीड़ा है, उदात्त भावनाओं को मानव मर्यादा के साथ सम्बद्ध करने की निष्ठा है। दूसरे शब्दों में छायावाद और रहस्यवाद ने जिन मानवीय मूल्यों को सूक्ष्म दर्शन और वैयक्तिक कुण्ठा के भ्रमजाल में खो दिया था, नयी कविता उन मूल्यों को मानवीय सन्दर्भ में व्यक्त करने का प्रयास करती है। नयी कविता मिथ्या साहसवाद (ultraheroic adventurism)* और अनावश्यक आदर्शवाद की विपरीत व्याख्या है। प्रत्येक भावना जो नैसर्गिक आस्था के अन्तर्गत मानव जीवन के उपकरणों से पृथक् अपना जाल रचने का प्रयास कर रही थी, उस घने कुहासे को भेदकर एक नए आलोक की स्वीकृति हमें नयी कविता में मिलती है जो हमारे जीवन से, स्थूल यथार्थ एवं सापेक्ष सौन्दर्यानुभूति से द्रवित है।

नयी कविता में सामाजिक चेतना° का स्तर भी यथार्थ की परिधि स्वीकार करते हुए अतिवादी प्रवृत्तियों से पृथक् है। नयी कविता सामाजिक स्तर पर भी मानव की व्यक्तिनिष्ठा को स्वीकार करती है। व्यक्ति की निष्ठा, व्यक्ति की अनुभूति तथा व्यक्ति की विशिष्टता (sanctity), जो प्रत्येक कला की चेतन शक्ति है, उन सभी भाव-स्तरों को अपना निजी स्वर प्रदान करती है; यह स्वर उस आत्मबोध का प्रतिष्ठित स्वर होता है जिस में बाह्य आरोपण की अपेक्षा आत्मानुभव पर अधिक आस्था व्यक्त की जाती है। यही कारण है कि नयी कविता की सामाजिक चेतना का स्तर उस सामाजिक चेतना से भिन्न है जो विषय-

*He who is depressed or made only to feel a shrinkin fear by some desolate scene, a landscape strewn with barre rocks, for example...cannot be aware of anything beautifu in it.

—PERSUER

°Remember that the sentimentalist is always a cynic at heart. Indeed sentimentality is mere the Bank-Holiday of cynicism. And delightful as cynicism is from its intellectual side.........it can never be more than a perfect philosophy for a man who has no soul.

वस्तु और भावनानुभूति को तथाकथित सामाजिक दर्शन के अन्तर्गत उसके रस-बोध एवं भावबोध को एकांगी बना देती है। **सारांश यह कि नयी कविता सौंदर्य-बोध की उस गहराई की अभिव्यक्ति है जिसमें वस्तु, भाव, सत्य और अनुभवसत्य की लय (tune) में सम्पर्कात्मक स्वाभाविकता एवं सहजता है।** आज जीवन का नया अनुभव उन दिशाओं को स्थापित करता है जिन में बदलते हुए सन्दर्भों के साथ नये मूल्यों की स्थापना की जा सके।

इस प्रकार मलतः नयी कविता की धारणा-शक्ति सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के साथ-साथ व्यापक सत्य को भी ग्रहण करती है। नयी कविता सत्य को केवल जड़, गतिहीन मर्यादा के रूप में नहीं स्वीकार करती। जीवन का प्रत्येक अनुभव अभिव्यक्ति की सीमाओं को विस्तृत करके उस में नयी सम्भावनायें पैदा करता है। अपनी स्थिति में ये सम्भावनायें स्थापित मूल्यों में भी परिवर्तन पैदा करने में समर्थ होती हैं। यही कारण है कि आज प्रत्येक रस अपना स्थायी महत्त्व का विस्तृत परिवेश खो चुका है क्योंकि उसके अन्तस् में वर्तमान जीवन की विभिन्नतायें अत्यन्त निकट रूप से समाहित हैं। प्रत्येक अनुभूति के इतने कोण विभिन्न रूपों में प्रस्तुत होते हैं कि उन का परम्परागत रूप वर्तमान सम्वेदनाओं को वहन करने में असमर्थ-सा प्रतीत होता है। इसीलिए आज की नयी दृष्टि उस परम्परा को ढोने में समर्थ नहीं है। उस में मात्र अनुकरण की अपेक्षा सत्यान्वेषण की जिज्ञासा अधिक तीव्र है। यह जिज्ञासा नयी चेतना की उन समस्त स्थितियों को नयी कविता में समाहित करती है जिन में जीवन की नई आस्थाएँ पनप रही हैं। आज के जीवन का तीव्रगामी परिवर्तन उन मानवीय मूल्यों को स्थापित करना चाहता है जो जीवन के अपवादों और विभिन्नताओं को स्वीकार करते हुए व्यक्ति की प्रतिष्ठा और उसकी सत्यनिष्ठा को बल दे सके, उनको सन्तुलित अनुभूतियाँ प्रदान कर सके, आत्मनिष्ठ धरातल पर कला के जीवन्त तत्त्वों को जीवन के निकट संस्थापित कर सके, और जीवन में उस व्यापक मानव मर्यादा की आस्था को अंकुरित कर सके जो उसके समस्त सुख, दुःख, विषमताओं और अपवादों को सहन करते हुए मनुष्य का विश्वास अडिग, अटूट और अपराजित बनाये रखे।

यही आधार है जिस के बलपर नयी कविता मात्र शिल्पगत प्रयोग न होकर विषयवस्तु के नयेपन के कारण अपरिचित लगती है। वस्तुतः नयी कविता की विषय-वस्तु मात्र चमत्कार न होकर एक साक्षात्कार किया हुआ जीवन-सत्य है। नयापन उसकी विषय-वस्तु में है जो शास्त्रों में निरूपित मृतप्राय मान्यताओं के प्रति विद्रोही है। यही नहीं, अपने इसी आत्मसाक्षात्कार के कारण नयी कविता शिल्पगत रूढ़ियों और प्रयोगों की अपेक्षा वस्तुगत अनुभूति की कुण्ठारहित

अभिव्यक्ति है । इस में सन्देह नहीं कि इस नयी अभिव्यक्ति में जीवन के तत्त्वों का वह सजीव अंकन है जिस के माध्यम से नयी अभिरुचि का विकास होता है । अर्थात् नयी कविता की शिल्पगत नवीनता विषय के साथ पूर्ण सामंजस्य रखती है । और तब परम्परा और इस नवीनता के बीच संघर्ष उठ खड़ा होना स्वाभाविक भी है किन्तु यह संघर्ष परम्परा का न होकर नूतन और पुरातन का है । जो लोग यह सन्देह प्रस्तुत करते हैं कि नयी कविता में परम्परा को वहन करने की क्षमता नहीं है वे अनुमान में ग़लती करते हैं । जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है उसको सुरक्षित रखने की, और उसके दायित्व को वहन करने की क्षमता नयी कविता में स्वतः है । हाँ, नयी कविता परम्परा को रूढ़ि रूप में नहीं स्वीकार करती । उसकी नयी प्रेषणीयता का दृष्टिकोण नवीन अवश्य है और यह नवीनता ही उसकी प्राण-शक्ति है । किसी भी गतिशील जीवन्त कला में परम्पराओं के स्वस्थ और दृढ़ तत्त्व ही रक्षित हो पाते हैं । ठीक उसी प्रकार नयी कविता भी कला के दृढ़ जीवन्त तत्त्वों को अपने परिवेश में ग्रहण करती है । संस्कारच्युत, देशकालहीन, अनावश्यक विस्थापित मूल्यों के प्रति नयी कविता का कोई भी मोह नहीं । यही नहीं, उसकी रक्षा करना या उसकी माँग करना स्वयं अपने में रूढ़िवादी एवं प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति का प्रतीक है जिस के माध्यम से मात्र आत्मचेतना का अभाव ही व्यक्त हो सकता है ।

इस लिए नयी कविता की दृष्टि असन्तुलित मर्यादा की ओर नहीं है । वह ऐतिहासिक दायित्व, परम्परा का विकास, अनुभूति की यथार्थ सत्ता एवं देश-काल के बन्धन को स्वीकार करती है । अन्तर महज़ इतना है कि कला के क्षेत्र में उसके लिए ईमानदारी से अनुभव की हुई कोई भी स्थिति अस्पृश्य नहीं है, और इसीलिए वह सामान्य मानव स्थितियों और अनुभूतियों के प्रति भी श्रद्धावान है । यही उसकी सबसे बड़ी सफलता भी है ।

[३]

मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

नयी कविता की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के साथ आधुनिक युग के मानव जीवन की विषाक्त, जर्जरित एवम् कठोर परिस्थितियों का एक विशद सम्बन्ध है। आज के युग में, खासकर दो महान् युद्धों की पृष्ठभूमि में रख कर देखने से ऐसा लगता है कि, मूल्यों और आस्थाओं की वह परम्परा जो आज से बीस वर्ष पूर्व ग्राह्य थी आज के जीवन-वृत्त से बिलकुल ही पृथक् है। यही नहीं विगत परम्परायें, मान्यतायें और प्रतिमान आज के जीवन की स्थितियों को वहन करने में पूर्णतया असमर्थ भी हैं। लेकिन इससे बढ़ कर भयंकर स्थिति यह है कि विगत मान्यताओं के खंडित होने के साथ अधिकांश लोगों की जीवनदृष्टि में केवल दो ही चीजें व्याप्त हैं—पहली तो विगत परम्पराओं के प्रति मोह और दूसरी वर्तमान के प्रति असंतोष। यह सत्य है कि आज विगत जीवन का संदर्भ नष्ट हो चुकने के बाद नयी आस्थाओं को तेजी से प्रतिष्ठित होना चाहिए था जिनका जन्म इस संक्रमण में हुआ है। लेकिन ये नयी आस्थायें यदि काल के क्रमिक विकास के साथ विकसित होतीं तो संभवतः आज का व्याप्त भ्रम अधिकांश रूप में न पैदा होता। ऐसा न होने से वे मूल्य और वे आस्थायें केवल उस विक्षत वातावरण में डूबी सी लगती हैं; लेकिन उनका विकास अंधकार के गर्भ में ही रहेगा ऐसा कहना अनुपयुक्त होगा। आज यद्यपि एक ओर अतिवादी टोटेलिटेरियनिज़्म और पूर्वनिश्चयवादी प्रवृत्तियों का ह्रास उन्मुख दिग्भ्रम-जनित अपवादों के साथ स्वच्छ मानवीय

निराश की दुविधा और आशंका के वातावरण से गृहीत करना चाहता है, लेकिन इन सब के बावजूद आज वह मानववादी मूल्यों की परम्परा विकसित हो चुकी है जो आने वाले युग में इन अतिवादी विकृतियों को नष्ट करके जीवन के सर्वथा नये प्रतिमानों को प्रतिष्ठित करने में सफल होगी।

अस्तु युद्ध-जनित स्थितियां पृष्ठ में होने के कारण आज की मनःस्थिति अधिक जटिल और विषम रूप से व्यक्त हुई है। विशेषतया आज की मनःस्थिति अन्तरिम काल के परिवेश से आबद्ध है इसीलिए उसमें परम्परा के प्रति अनावश्यक मोह और वर्तमान के प्रति असंतोष दोनों ही समान रूप से व्याप्त हैं। यह असंतोष भविष्य के प्रति अनास्थावान् होने के नाते ही संभव है। अतीत परम्परा के प्रति अनावश्यक मोह भी ऐसे ही लोगों का है। जो लोग भविष्य के प्रति आस्थावान् थे, जिन्हों ने मानव जीवन की सद्भावनाओं के प्रति विश्वास और आस्था रखने का प्रयास किया है उनका ही स्वर नयी कविता में व्यक्त हुआ है।

वास्तव में आज मनुष्य के मनोवैज्ञानिक संक्रमण का कारण सामाजिक एवम् सांस्कृतिक मूल्यों का विघटन है। समाज की एकात्मानुभूति ही इन दोनों महायुद्धों में भयंकर रूप से विशृंखल हुई है—एक ओर सामाजिक एवम् वैयक्तिक सीमाओं का टूटना और दूसरी ओर नैतिक मान्यताओं में विकृति। इन दोनों के बीच में पड़ कर मानव जीवन की सरल, गतिमयी आस्थायें अनेकों कुण्ठाओं से परिपूर्ण हो उठी हैं। युद्ध के भयंकर अपवादों में वे बहुत से रागात्मक सम्बन्ध जो परम्परा के आधार पर विकसित हुए थे और चले आ रहे थे, सहसा कल्पना के स्वप्न लोक से यथार्थ के धरातल पर आ खड़े हुए। ईश्वर, नीति, सामाजिक रीति, व्यवहार और आचारों को जब कटु यथार्थ से संघर्ष करना पड़ा तो वे अधिक टिकाऊ नहीं रह सके। बीसवीं शताब्दी का आदर्शवाद भी इसके सामने खोखला प्रमाणित होने लगा। संशय और अपवाद की यह पृष्ठभूमि जिस मानसिक स्थिति को जन्म देती है उसका प्रभाव हमारे सांस्कृतिक जीवन पर भी पड़ता है। सामाजिक मूल्यों के विघटन और नई आस्थाओं के प्रस्फुटन में संस्कृति सापेक्ष रूप में बहुत कुछ प्रभावित होती है। उसकी बहुत सी मान्यतायें टूटती हैं और उनके विस्तार में नयी संभावनायें विकसित होती हैं।

सांस्कृतिक स्तर पर वे मान्यतायें जो सामन्तकालीन और मध्यकालीन परम्परा से द्रवित थीं, असमर्थ प्रतीत होने लगीं। प्रमाण के लिए रीति के प्रति मोह मध्य-कालीन युग की एक देन थी, जो आधुनिक युग में मनुष्य के व्यापक जीवन के गहन दायित्व को वहन करने में असमर्थ सिद्ध हो गई। मनुष्य के व्यक्तित्व की बहुत सी जटिलतायें विज्ञान ने मिटा दीं। जीवन का परिवेश भी काफी विस्तृत

हो गया। परिणाम स्वरूप उन आधारों को हटाना पड़ा जो अब भी अंध-विश्वास और दैविक विश्वासों पर ही अवलम्बित थे—

अज्ञेय : नयी व्यंजना :

संसृतियों की संस्कृतियों की
तोड़ सभ्यता की चट्टानें
नयी व्यंजना का सोता बस
इसी तरह से बह सकता है।

युद्धोतर एवम् युद्धकालीन परिस्थितियों में मौलिक रूप से निम्नलिखित परिवर्तन हुए—

● यर्थाथवादी मान्यताओं की स्वीकृति इस नये धरातल का मूल सन्देश थी। उदात्त एवम् सूक्ष्म दैविक मान्यतायें स्वतः बिखर कर यथार्थवादी सीमाओं की ओर अग्रसर होने लगीं।

● सामाजिक मूल्यों की स्थापना में व्यक्ति की सापेक्षता को अनिवार्य अंग मान कर चलना नयी कविता का केन्द्र विन्दु है। जहाँ एक ओर फ़ासिस्टवाद का सामाजीकरण आतंक को प्रश्रय देता था वहीं साम्यवादी व्यवस्था ने भी उसी आतंक को प्रश्रय देना चाहा। परिणाम स्वरूप नयी कला-रुचि इन दोनों से ऊपर व्यक्ति के प्रति निष्ठावान् हो कर रहने में अपनी आस्था प्रकट करने लगी।

● रीतिगत व्यवस्था के जाल में मानव व्यक्तित्व की हीनता मनुष्य को अपमानित प्रतीत होती थी, इसलिए उसका विद्रोह और आत्मरक्षा का स्वर यथार्थ के साथ मिल कर अधिक प्रौढ़ रूप में व्यक्त होने लगा।

● भावनाओं की स्वतंत्र सत्ता में कलाकार की आस्था आरोपित अथवा बाह्यतः प्रेरित मतवादों से भिन्न आत्मसूचित तत्त्वों से प्रेरित होने लगी। वैयक्तिक स्वतंत्रता को जहाँ वह सामाजिक आवश्यकता समझता था वहीं भावनाओं की स्वतंत्रता में वह अपनी आत्म-आस्था के प्रति अधिक निष्ठावान् भी होने का प्रयास करने लगा।

● नैतिक स्तर पर भी मूल परिवर्तनों में अन्तर आना अनिवार्य था। नैतिकता की सापेक्षता व्यक्ति से है या समाज से या शासन-सत्ता से या निरपेक्ष मूल्यों से—ये कुछ ऐसे प्रश्न थे जिन्होंने नयी विचार-धारा को प्रेरित किया।

● यहीं पर उस अहम्वाद का भी विकास हुआ जिसने आधुनिक अभिरुचि को साधारणीकरण एवम् सामाजीकरण के साथ प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। यह चेष्टा इस बात की विद्रोहात्मक भावना की अभिव्यक्ति थी कि मनुष्य केवल यंत्रवत चलना नहीं चाहता। उसकी एक अपनी निजी चेतना है जिसे समाज और

साधारण अभिरुचि के साथ सम्बद्ध होना है । अस्तु, नयी कला के भावबोध में बौद्धिक तत्त्व की प्रधानता इसी अहम्वाद की देन है ।

अज्ञेय : नयी व्यंजना :

रहने दो वह नहीं तुम्हारा
केवल अपना हो सकता जो
मानव के प्रत्येक अहम् में
सामाजिक अभिव्यक्ति पा चुका

इन परिस्थितियों में यह अनिवार्य था कि अपनी अभिजात मनोभावनाओं को व्यक्त करने के लिए आज का कवि नये शब्द, नयी व्यंजना, नया सौन्दर्य-बोध, नये प्रतीकों और बिम्बों का प्रश्रय ले, उनको नये रूप और नये प्रकारों से व्यक्त करे । इस नयेपन के पीछे वह मनोवैज्ञानिक स्थिति है जो कलाकार को घिसे-पिटे शब्द, टूटी-फूटी व्यंजनाओं और प्रतिमानों को तोड़ कर सर्वथा असंस्कारी शब्दों, विशुद्ध प्रतीकों और बिम्बों का आधार ले कर अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए बाध्य करता है । यही कारण है कि छायावाद की शब्दावली और नयी कविता की शब्दावली में ज़मीन और आसमान का अन्तर है । छायावाद या उसके बाद के काल की शब्दावली, प्रतीक और बिम्ब आज की मन:स्थिति को व्यक्त करने में असमर्थ होने के कारण विशृंखल एवम् भावच्युत हो गये थे ।

समवेत रूप से इन समस्त स्थितियों का जो प्रभाव समूचे जीवन पर पड़ा उसने इस बात के लिए बाध्य किया कि आज के अनुभव के उपयुक्त शैली और शिल्प का भी निर्माण हो । शिल्प-सौष्ठव का वह भाव और वह मन्तव्य जो हमें रीतिकालीन या छायावादकालीन कविता में मिलता है वह आज के विशृंखल, अस्त-व्यस्त जीवन के भार को कभी वहन ही नहीं कर सकता था । इसीलिए जहाँ नयी कविता को समझने के लिए रुचि और बोध के साथ सद्भावना होना आवश्यक है वहीं उसके वास्तविक संदर्भ और दृष्टिकोण को भी ग्रहण करना आवश्यक है । यही नहीं, उसके साथ उस ऐतिहासिक सत्य को भी ध्यान में रखना ज़रूरी है जो देश-काल की परिस्थितियों का निर्माण करता है, जो एक विशेष प्रकार की धारणा को प्रश्रय दे कर उस मनोवैज्ञानिक सत्य को उद्घाटित करता है जिससे अनुभवों के स्तर ही में नहीं वरन् अभिव्यक्ति के माध्यमों में भी बहुत बड़ा परिवर्तन आ जाता है ।

नयी कविता की पृष्ठभूमि में इन्हीं कुछ ऐतिहासिक सत्यों का प्रभाव है जिसने आधुनिक कला-जिज्ञासा को सर्वथा नये उपादानों के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास किया है । वस्तुत: अन्य किसी भी नयी प्रवृत्ति की भांति नयी कविता भी

नयी मानसिक स्थितियों, अनुभूतियों और संवेदनशील तथ्यों से आबद्ध है। विचारबोध और संस्कार-निष्ठा दोनों ही नये स्तरों पर आकर सर्वथा नये से लगने लगते हैं। इसीलिए नयी कविता की नवीनतम प्रवृत्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि परम्परा में बहुत कुछ ऐसा है जो चेतनाहीन, निष्प्राण, निर्जीव, प्रेत-काया-सा जीवन के उन जीवन्त तत्त्वों से चिपका हुआ है जो स्वतंत्र न होने के कारण अपनी संज्ञा और अर्थ की संभावनाओं को भी नष्ट कर रहा है। उन समस्त अनिष्टकारी रूढ़ियों के प्रति नयी कविता का मनोवैज्ञानिक असामंजस्य उचित ही है क्योंकि ज्ञानबोध का मूल स्रोत संवेदन और उस संवेदन में निहित अर्थ और संदर्भ का बोध है। यदि कोई भी संवेदना उस नये संदर्भ को ग्रहण करने में असमर्थ है जो देश और काल की गति के साथ विकसित होती है तो उसका महत्त्व भी कुछ नहीं के बराबर ही रह जाता है।

इस सम्बन्ध में 'लॉक' का यह मत था कि प्रत्येक ज्ञान का मूलकेन्द्र दो भाव-स्तर हैं—पहला संवेदना-स्तर और दूसरा संदर्भ-स्तर। लेकिन ये दोनों मानसिक क्रियाशीलता के आधार पर विकसित होते हैं और इस मानसिक स्तर की प्रक्रिया आन्तरिक चेतना से सदैव सम्बद्ध रहती है। उसका यह भी कथन है कि कल्पना का बहुत बड़ा अंश हमारे विचारों से संचालित होता है और विचार स्वतः अनुभव से विकसित होते हैं इसलिए प्रत्येक ज्ञान, प्रत्येक बोध-तत्त्व अनुभव के परे हो ही नहीं सकता। अस्तु, ज्ञानबोध के आवश्यक अंग हैं— १. संवेदना, २. संदर्भ-अर्थ, ३. विचार-कल्पना, ४. अनुभव, और ५. मानसिक स्तर पर अन्तश्चेतना की सापेक्षता। अर्थात्

१. आज की संवेदनशील अनुभूतियों का विश्लेषण।
२. संदर्भ-अर्थ का मतलब, विचार के तथ्य और नयी कविता।
३. नयी कल्पना और विचार तथ्य।
४. नये अनुभव की मानसिक स्थिति।
५. मानसिक स्तर पर अन्तश्चेतना की सापेक्षता।

वर्तमान संवेदनशील अनुभूतियाँ आज की रचना में मात्र आन्तरिक प्रस्फुटन से विकसित नहीं होतीं। उनका एक बाह्य स्तर भी है। यह बाह्य स्तर आज के जीवन के उस सत्य से सम्बद्ध है जिस में समस्त मानव की अन्तर्वेदना हमारी संवेदना से सम्बद्ध हो कर व्यक्त होती है। युग की प्रवृत्ति उस समष्टि के सुख-दुःख, राग-अनुराग, अभिशाप और वरदान से हमारे वैयक्तिक जीवन को संबद्ध करती है और हम उससे संचालित एवम् प्रभावित होते हैं। हमारी विचार-शक्ति, धारणा-शक्ति, अनुभूति के स्तर पर व्यापक ऐवम् विराट् मानव की भवितव्यता के प्रति उन्मुख होती है; उससे द्रवित और प्रभावित होती है।

मानव व्यक्तित्व की यह सामूहिक वेदना, देश-काल की सीमा में अपने-अपने रूपों के माध्यम से व्यक्त होती है। प्रमाण क लिए पिछला युद्ध ही लीजिये। भारत किसी भी रूप में उस युद्ध से सम्बद्ध नहीं था। उसने उस अमानुषिक बर्बरता का शतांश भी नहीं झेला है, लेकिन उस युद्ध की व्यापक विभीषिका ने हमारे जीवन को प्रभावित किया है। उसने हमारी चेतना को सर्वथा नया स्तर दिया है, मानव जीवन की विषमता को अनुभूतियों की गहराई में पिरोया है। समस्त अनुभव को एक बार वह चेतना प्रदान की है जिस क माध्यम से हम उन समस्त स्थितियों को जागरूक हो कर ग्रहण करते हैं जो इस अर्ध-शताब्दी में समस्त विकलांगता, अमानुषिकता और बर्बरता को जन्म देती रही हैं। यह सह-धर्मी और यह सहभोक्ता की अनुभूति वह मनोवैज्ञानिक स्तर है जहाँ से हम छायावाद एवम् रहस्यवाद के भावक्षेत्र से व्यापक यथार्थ की ओर अग्रसर होते हैं, उन सारी संवेदनाओं को वहन करते हैं जिन्होंने गत दो दशकों में समस्त मानव संदर्भ को ही बदल डाला है और उसके भाव, अनुभव, और संवेदना को नयी संभावनाओं के साथ प्रेरित किया है।

जब हम मानव जीवन के संदर्भ की बात करते हैं तो इस संदर्भ से हमारा स्पष्टतया यह मतलब होता है कि आज इस वर्तमान युग का जीवन और उसके आस-पास का वातावरण आज से २० वर्ष पहले के व्यवधान से सर्वथा भिन्न है। प्रत्येक कलाकार अपने वैयक्तिक चरित्र और अपने वातावरण का सम्वेत रूप अपनी कला में किसी-न-किसी प्रकार व्यक्त करता है। कलाकार का व्यक्तित्व भी वातावरण से विकसित होता है लेकिन स्वयम् वह वातावरण की प्रतिक्रिया मात्र नहीं रहता वरन् अपनी आत्मानुभति के आधार पर वह भी वातावरण को कुछ-न-कुछ देता है, उसके अंकुरित विश्वास को समाहित करता ह और फिर अपने भावों को नये आयामों और संभवनाओं के साथ व्यक्त करता है। जहाँ यह आदान-प्रदान सत्य है वहीं कोई भी कलाकृति मात्र इतने ही से संतुष्ट नहीं होती। उसके साथ भावान्तरण (transformation of emotion) की प्रक्रिया भी सम्बद्ध है। वह उस संवेदन-भावना का आत्मसाक्षात्कार कर के उसे नये संदर्भ में प्रयुक्त भी करता है। इसीलिए संदर्भ से हमारा आशय है: वर्तमान स्थिति और उसकी भावगत परिणति में संभावित कल्पना और विचार (idea and imagination) का उल्लेख।

कल्पना स्वतः विचार (idea) के आश्रित रहती है। किसी भी कल्पना का जब तक प्रस्फुटन नहीं होता तब तक वह असंभावी प्रतीत होती है। विचारों की पृष्ठभूमि में अनुभव (experience) का बड़ा हाथ होता है। ये विचार और अनुभव सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्तरों से विकसित

होतें हैं। उन में व्यक्ति के आंतरिक और बाह्य जीवन के विभिन्न अन्तरालों की प्रस्तावना निहित रहती है और यह अन्तराल हमारे मनोवैज्ञानिक भावों के आधार पर बनते बिगड़ते हैं। अनुभव-क्षेत्र की सार्थकता में ही संस्कार और परम्परा परिष्कृत हो कर व्यक्त होते हैं। इसी परिष्कृति का परिणाम "नयापन" के साथ व्यक्त होता है क्योंकि जीवन के आचार, विचार, मर्यादा और मूल्य सामाजिक, वैयक्तिक एवं सामूहिक चेतना के विकास के साथ परिवर्तित होते रहते हैं, और अनुभवों की नवीनता इस परिवर्तन को स्वीकार करके विचार, कल्पना, और दृष्टिकोण के धरातल को भी बदल देती है।

आज के जीवन की पृष्ठभूमि में खण्डित मर्यादायें, टूटे मूल्यों की अस्त-व्यस्त परम्परा, मानव आत्मा की बंदी प्रताड़ित भावनायें, भौतिक द्वन्द्वों के साथ नयी भावनात्मक, रागात्मक,* अनुभूतियाँ—इन सब का सामूहिक प्रभाव हमारी कला-व्यंजना और अभिरुचि में निहित है। इन सब का संवेत प्रभाव और इनकी संवेत प्रतिक्रिया ने जीवन को दार्शनिक स्तर से विवेचनात्मक स्तर पर प्रस्तुत कर दिया है। यह विवेचना हमारे कला-सृजन का एक मुख्य अंग है जिसने आत्मानुभूति और अहम्-निष्ठा को जागरूक बनाया है। इसलिए नयी कविता का वास्तविक मूल्यांकन करते समय हमें चाहिये कि हम उन निहित तत्त्वों को ग्रहण करें जो मनोवैज्ञानिक स्तर पर निम्नलिखित परिधियों का निर्माण करते हैं—

१. विवेचन प्रवृत्ति : संस्कारगत, आर्थिक और भावनात्मक मूल्य।
२. आत्मानुभूति की सक्रियता : विद्रोहात्मक सक्रियता।
३. अहम् की स्थापना और उसकी मर्यादा में वैयक्तिक निष्ठा।
४. यथार्थ और कल्पनानुभूति का समन्वय।
५. बौद्धिक जागरूकता।

विवेचना-प्रधान दृष्टिकोण होने के नाते विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियाँ **आज की** कविता की मुख्य अंग हैं। इन प्रवृत्तियों में विश्लेषण है उस संस्कार का, उस परम्परा का जो केवल उत्तराधिकार के बल पर आज भी जीवित रहना चाहती है। संस्कार के साथ-साथ आज की मनःस्थिति और परिवर्तित जीवन-संदर्भ की सार्थकता को स्वीकार करता हुआ कवि अपनी कला-अभिव्यंजना को आगे बढ़ाता

---

*Experience is, of course, undoubtedly part of the "given" in the present sphere of enquiry. —E. M. BARTLETT

The beautiful is the object (and perhaps we may even add, the satisfaction) of the constructive impulse when that impulse has become contemplative instead of practical.
—S. ALEXANDER.

है। आज की काव्य-प्रवृत्ति कवि की मनःस्थिति के माध्यम से बाह्य और आन्तरिक जीवन की अनुभूतियों में विवेचनात्मक शैली का निरूपण करती है। यही कारण है कि कवि आत्मानुभूत सत्य को रीति-नीति के आडम्बर से निकाल कर अपनी स्वाभाविक शैली को ग्रहण और स्वीकार करना अधिक श्रयस्कर समझता है। कभी-कभी उसकी यह धारणा उसे वैयक्तिक कुण्ठाओं में उलझा कर छोड़ देती है। यह प्रवृत्ति उसकी रचना को बहुधा दुरूह, बेढंगी और अतिक्रमणकारी भी बना देती है; लेकिन इन सब में निहित वह जिज्ञासा इन त्रुटियों से भी बड़ी मूल्यवान् है जो जीवन के विश्रृंखल एवम् खण्डित मूल्यों के समक्ष नये सन्दर्भों को जन्म देना चाहती है और उनका अन्वेषण करना चाहती है। यह कहा जा सकता है कि यह विवेचनात्मक प्रवृत्ति मात्र ऐतिहासिक सत्य है इसलिए यह काव्य-सत्य भी हो इसके प्रति सन्देह है। लेकिन ऐतिहासिक सत्य, सामाजिक सत्य भी है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता; और निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि नयी कविता का यह रूप सामाजिक परिवर्तनों के साथ होना अनिवार्य ही नहीं स्वाभाविक भी है और इस परिवर्तन का मुख्य कारण है दृष्टिकोण की आधार-भूमि में वह मौलिक परिवर्तन जिसने हमें आर्थिक और मानसिक स्तर पर उन वैज्ञानिक सत्यों को उद्धृत किया है जो अभी तक परम्परा की ज्ञान-परिधि के बाहर थे। ये वैज्ञानिक सत्य मात्र बौद्धिक अनुभूति नहीं हैं वरन् ये एक निश्चित मन्तव्य को आभासित कर के एक नया स्तर विकसित करते हैं। विवेचनात्मक स्तर पर आज के जीवन की समस्त उलझनों का एक संवेत प्रभाव हमारे विचार और कल्पना से सम्बद्ध है। इस विवेचना में हमारे आन्तरिक और बाह्य जीवन का संघर्ष, उसका संतुलन, उसकी अपेक्षित मर्यादा और उसकी सीमाओं की स्वीकृति नयी कविता के नये उपादान हैं। नये उपादान जीवन के बदलते हुए संदर्भों में अंकुरित होत हैं और गति के साथ विकसित होकर विचार और कल्पना को प्रभावित करते हैं।

किसी भी वस्तु का ज्ञान सदैव संवेदनशील अनुभूति पर ही आधारित है लेकिन यह संवेदनशील अनुभूति अनुभव और अभिव्यक्ति के माध्यमों को निर्धारित करती है। आज के युग में सामाजिक और साम्प्रदायिक विशेषताओं की सारहीनता प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का सत्य है। सामंतवादी परम्परायें और धारणायें आज के जीवन के समक्ष सारहीन और खोखली हो चुकी हैं। कोई भी मान्यता अपनी रीति-व्यवस्था के भार को आज के नये संदर्भ में वहन करने में असमर्थ है। आज जातीयता, साम्प्रदायिकता, समूहवादिता और सामाजिकता के प्रायः समस्त प्रतिमान नये आयामों में प्रवेश कर चुके हैं, और यह नया आयाम वयक्तिक विवेक का आयाम है। यही कारण है कि प्रत्येक

सामाजिक सत्य वैयक्तिक सत्य से प्रभावित है।* वैयक्तिक अनुभूति पर सामाजिक छाप न हो कर सामाजिक प्रतिमानों पर वैयक्तिक छाप नये युग-सत्य के रूप में विकसित हो रही है। इसी अर्थ में आज की वैयक्तिक निष्ठा उन समस्त सामाजिक प्रतिमानों के प्रति विद्रोह करती है जो व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता और उसके व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा प्रस्तुत करते हैं। विद्रोह मानव के मानसिक विकास का चिह्न है, जिज्ञासा का महत्त्वपूर्ण अंश है जो सत्यान्वेषण के लिए आवश्यक है। नयी कल्पना, नयी उक्ति, नये सन्दर्भ की सार्थक चेष्टा है। यही नहीं वह विवेक की, औचित्य की, संवेदन की जननी है। आज जो लोग मात्र परम्परा पर जीवन की सारी सक्रियता आधारित करने की चेष्टा करते हैं वे इस विवेकशील तत्त्व को सार्थकता से डरते हैं। जब कभी सामाजिक प्रतिमानों का विघटन होता है और उस विघटन में संस्कृति और परम्परा कलुषित हो जाती है तब वैयक्तिक विवेक स्वतः जीवन को बल देता है।

यहाँ पर विवेक, वा विवेचना के साथ स्वार्थ और अंध-विश्वास को समझ लेना आवश्यक है। आत्मविवेक और आत्मविवेचना किसी सापेक्ष अनुभव पर ही आधारित होती है। स्वार्थ और अंध-विश्वास आत्म-अनुभव के आश्रित नहीं होते। उनका सारा बल परम्परा और उपयोगिता पर आधारित होता है। विवेक का औचित्य सदैव आत्मसत्य की प्रतिपालित भावना है। यह आत्मसत्य स्वानुभूति का प्रश्रय पा कर ही अग्रसर होता है। आज का कलाकार अपनी आस्था आत्म-विवेक पर इसलिए आधारित करता है कि वह स्वानुभूति की सार-सत्ता को स्वतः अनुभव करता है। उसकी दृष्टि विशृंखल रूढ़ियों को कभी भी नहीं पसन्द करती। वह अपने को संदर्भ के सार्थक परिवेश से सम्बद्ध पाता है इसीलिए वह किसी भी प्रकार से संदर्भहीन आरोपित मतवाद की परवाह नहीं करता। यह परवाह न करने की प्रवृत्ति भी आज के भौतिक जीवन का परिणाम है जो सर्वथा ग़लत नहीं कहा जा सकता।

इस वैयक्तिक विवेक के मूल में वैयक्तिक साहस और व्यक्तिगत क्रियाशीलता भी देश और काल द्वारा निर्मित परिस्थिति की देन है।° जहाँ उसका विरोध रूढ़ियों और परम्पराओं के प्रति है वहीं उसमें मानव की सहज स्वाभाविक निष्ठा के प्रति आस्थावान् रहने की निष्ठा भी है। वह केवल नास्तिक के कुण्ठाग्रस्त

---

*A new impulse comes into play when the response to the external object is diverted into speech and the object being named is detained by its name for the mind to contemplate in overt attention. —S. ALEXANDER

What we really expect in a work of art is a certain personal element—we expect the artist to have, if not a

पतनशील विद्रोह का सृजन नहीं करता है वरन् वह उस व्यापक मानव हित का संरक्षक है जिसे समय के दुष्परिणामों ने भ्रान्ति में डाल रक्खा है। आज की व्यवस्था में अपनी सीमाओं को जानते हुए भी वह साहस से कहता है :

मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आ कर घिर जाय
बड़े बड़े महारथी
अपने अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
निहत्थी अकेली आवाज को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें
तब मैं रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूँ

(भारती)

"रथ का पहिया" और "ब्रह्मास्त्र" दोनों की यथार्थ सत्ता है। इस में सन्देह नहीं कि परम्पराओं का अस्तित्व सबल है लेकिन व्यक्ति का आत्मविश्वास भी आँच में सीझा और तपा हुआ है।

प्रस्तुत आत्मविश्वास के आधार पर ही वह अहम्वादी प्रवृत्ति विकसित हुई है जिसने नये स्वर के विश्वास को आत्मा प्रदान की है। नयी कविता के स्वर में उदात्त भावना का साक्षात्कार करने के लिए निरपेक्ष सत्ता की अपेक्षा कलाकार का विश्वास-गर्भित अहम् अपने सम्पूर्ण प्रतिमानों के साथ व्यक्त होने की चेष्टा कर रहा है। यह प्रवृत्ति कुण्ठाग्रस्त न हो कर उस नये आयाम की सृजन-संवेदना है जिसमें उदात्त प्रवृत्ति के नाम पर उत्तर छायावादी पुंस्त्वहीनता की अपेक्षा व्यक्ति की अहंमन्यता की आस्था पूर्णतः अभिव्यक्ति पाती है। इस अहंमन्यता में आत्मविश्वास है प्रमाद नहीं, इसमें आत्मशक्ति है, आत्मदृष्टि है; इसीलिए वह अपने स्नेह-सिंचित गर्वीले एवम् मदमाते अस्तित्व की सत्ता स्वीकार करते हुए अपने को व्यापक मानवता के लिए विसर्जित करने में संतोष करता है :

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर

---

distinguished mind, at least a distinguished sensibility. We expect him to reveal some thing to us that is original—a unique and private vision of the world. —H. READ

इसको भी पंक्ति को दे दो। . . . .
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयम् विसर्जित
यह प्रकृत, स्वयम्भू ब्रह्म, अयुत :
इसको भी शक्ति को दे दो. . . . .
यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में भी कांपा
यह वह पीड़ा जिस की गहराई को स्वयम् उसी ने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कड़वे तम में
यह सदा द्रवित, चिर जागरूक, अनुरक्त नेत्र,
उल्लम्ब बाहु, यह चिर अखण्ड अपनाया ।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको भक्ति को दे दो । (अज्ञेय)

इस में सन्देह नहीं कि इस युग का यह अहम्वाद मिथ्या, कुण्ठाग्रस्त, पतनोन्मुख अहम्वाद नहीं है । इसमें उदात्त चेतना का स्वर है, आत्मविश्वास के साथ-साथ आत्मविसर्जन की भावना है, मानव क्षमता के प्रति जागरूकता पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है और उस वैयक्तिक भावना की पूर्ण प्रतिष्ठा भी निहित है जो आज की परिस्थिति में विद्रोह करते हुए भी व्यापक कल्याण के प्रति श्रद्धानत है ।

इसी अहम् निष्ठा की अभिव्यक्ति दूसरे प्रकार से हमें श्याममोहन श्रीवास्तव की कविता में मिलती है जिसमें व्यक्ति की कुण्ठाओं को काट-छाँट कर, उसको सर्वहित के लिए, अर्थात् व्यापक मानववादी आस्था के प्रति, प्रेषित करने की आत्मानुभूति अपनी सहजता के साथ अभिव्यक्त की जा सकी है। यह वैयक्तिक, आत्मनिष्ठ भावना समस्त तिक्तताओं के विरुद्ध साहस और बल की उपलब्धियाँ प्रदान करती है । इस में खीझ और मिथ्या साहसवादिता न हो कर नयी आस्था का प्रतिष्ठामय स्वर ही प्रतिपादित हुआ है ।

बुझ न जायें
प्राणों की समिधायें
जीवन की कुण्ठायें
होम करूँगा ।
दुर्बल मन की
दुविधाओं से
पापों की प्रेतात्माओं से
लोहा लूंगा ।
पात फल से हीन
ढाक की लम्बी, नंगी
डालों से बाहें फैला कर
बिक जानें से प्रथम
मरण को गोद वरूँगा ।

छायावाद जिस विचार-हीनता और कल्पना के स्थापत्य के अभाव में केवल शब्दों का आडम्बर बन कर रह गया था, तथाकथित प्रगतिशील साहित्य जिस सामाजिक मूल्य के प्रति अप्रत्याशित अनावश्यक रूप से नारेबाजी कर रहा

द्वितीय खंड

नये धरातल

।, उदीयमान नये कवि का स्वर उसके समक्ष अपने अकेलेपन और अपनी वैयक्तिक अहंमन्यता को स्वीकार करते हुए अपनी नयी आस्था को प्रतिष्ठित करने के प्रति जागरूक है ।

सारांश यह कि यह आस्था जीवन के यथार्थ से सम्बद्ध कल्पनानुभूति के नये स्तरों को जागृत करती हुई नयी कविता को "मानवीय" बनाने में बहुत बड़ा योग दे रही है । आज "कल्पना" यथार्थ से पृथक् केवल त्रिशंकु लोक में नहीं पनप सकती । कल्पना यथार्थ की पृष्ठभूमि में जीवन के अधिक निकट होने के कारण उन सभी गुणों एवम् भावों से ओतप्रोत है जिनका सम्बन्ध हमारे आन्तरिक और बाह्य जीवन से समान रूप से स्थापित है । यदि प्रगतिशील धारा आन्तरिक और बाह्य के सूक्ष्म चिन्तन में दोष समझती है तो नयी कविता आन्तरिक और बाह्य के सत्य को अपने विवेक-बल से नयी व्यंजना प्रदान करती है । आन्तरिक भावों का संघर्ष और बाह्य परिस्थितियाँ दोनों ही जीवन की उतनी ही सत्य स्थितियाँ हैं जितनी कि वह सौन्दर्यानुभूति जो रागात्मक प्रवृत्तियों को विकसित करने में सहायक है । नयी कविता इन दोनों में कहीं भी विरोधाभास नहीं मानती, इसीलिए वह इन दोनों मानवीय प्रक्रियाओं से आबद्ध है । उसकी माँग है :

और कब तक इस सुलगती डाल पर बैठा रहूँ असहाय,
. . . . . मुझे मेरे पंख दो ।

यह पंख केवल आन्तरिक पीड़ा अथवा विघटन से पलायन करने के लिए नहीं माँगा गया है, वरन् इस पंख में उस वृहत् व्यापक और बाह्य जीवन के साथ विराट् सम्पर्क स्थापित करने की याचना है जो अपनी अन्तर् की तीव्रानुभूति को बाह्य जगत् की विषमता के समक्ष कल्याण-निष्ठ भाव से प्रेरित हो कर सम्बद्ध करना चाहती है । यह अनुभूति तथाकथित सामाजिक सत्य की क्रियाशीलता से कई अर्थों में भिन्न है । पहली तो यह कि इसमें मिथ्या नाराबाजी नहीं है और न इस में अनावश्यक साहसिकता ही दिखाई गई है, वरन् आत्मानुभूति की वह गहराई है, वह परिप्रेक्षण है जो बाह्य विषमता और असमानता को आत्मसात् करके अपने रूप से ग्रहण करने के बाद सहानुभूति की संवेदना प्रदान करती है । मनोवैज्ञानिक रूप से वह आधारभूत परिवर्त्तन जिसके द्वारा अब तक अन्तर् और बाह्य, व्यक्ति और समाज में पृथक्त्व स्थापित किया जाता था वह एक दूसरे में पिरो कर प्रस्तुत होने के नाते अधिक ज्ञेय और भावबद्ध हो कर समन्वित हुआ है । यानी वह अन्तर्दृष्टि की प्रवृत्ति सहभोगिता में बदल गई है । यह नयी कविता का परिप्रेक्षित मनोवैज्ञानिक आदान है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता ।

[४]

भावबोध के नये स्तर

परिप्रेक्षण की नवीनता के साथ नयी कविता में उस नये भावबोध का तर्क-संगत योग है जो युग की आधुनिकता, विवेक और यथार्थ से विकसित होकर भाव-जगत् के मर्मों को नये सन्दर्भों के साथ विकसित करता है। यह भावबोध न तो छायावाद के उदात्त मानववाद से प्रभावित है और न ही इसका सम्बन्ध उस खोखली राष्ट्रीयता से है जो दिनकर जैसे कवियों की रचनाओं में केवल न्यूराटिक ओज की पुंस्त्वहीन साहसिकता के साथ विकसित हुई है। न तो इस भावबोध में यथार्थ से पलायन करके स्वर्ण-युग की उषा-वेला की अप्रतिहत प्रतीक्षा है, न ही इसमें उस स्वर्ण-धूलिका का पुट है जो केवल पौष्टिक पदार्थ के बल पर समाज के अन्तर् मन में एवम् अन्तर्मन की अन्तश्चेतना में विराटता का रहस्यमय कलोल करती चलती है। यह नया भावबोध उस कुहासे की झीनी चादर को भी नहीं स्वीकार करता जिस में स्वप्न और सत्य की सापेक्षता को अनावश्यक समझा जाता है, क्योंकि न तो सब नयनों के आँसू उजले हो सकते हैं और न सब के सपनों में सत्य पल सकता है। नयी कविता का स्वर उन गीत गानेवालों से भी भिन्न है जो अतिशय निराशा में यह कहकर संतोष कर लेना चाहते हैं कि 'हम दीवानों की क्या हस्ती है आज यहाँ कल वहाँ चले।' इसीलिए नयी कविता का भावबोध इनसे भिन्न किन्तु युग-सत्य के यथार्थ और कटु, शिव और अशिव, प्रकृति और विकृति से पलायन न करके उनका साक्षात्कार करता है। वह स्वर्णयुग से अधिक 'युगसत्य' को

स्वीकार करता है, स्वर्ण के बिना भी युग की कल्पना करता है। धूलि की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी स्वर्ण को पलायनवादी मनोवृत्ति या सन्देशवादी मनो-ग्रन्थि नयी कविता के भावबोध के परिवेश से पृथक् है। शायद यही कारण है कि नयी कविता का भावबोध अपनी कमियों के बावजूद भी रहस्य में छिपने के बजाय विवेक की आँच में तपना अधिक श्रेयस्कर समझता है। यदि वह दीपक को मधुर-मधुर जलते देखकर प्रेरणान्वित होता है तो उसके साथ कोई कुहासा नहीं बुनता वरन् उस दीपक के प्रकाश में अपने संचित विवेक के साथ सुन्दर-असुन्दर, सत्य और असत्य, मिट्टी और सोना सब को देखने की चेष्टा करता है, सबकी सापेक्षता उस 'मधुर-मधुर' दीपक के प्रकाश के साथ स्थापित करना चाहता है। यही कारण है कि वह सबके सपनों में सत्य ही पलता है यह स्वीकार करने में अस-मर्थ है। ऐसा इसलिए है कि इस सत्य को विवेक और बुद्धि नहीं स्वीकार करती, कोरी भावुकता इसे भले ही स्वीकार करके एक स्वप्नजाल बुनकर आत्मतुष्टि पा ले; और जब कोरी भावुकता (sentimentality) बिना किसी अनुभूति की सापेक्षता के व्यक्त होती है तो वह मात्र अशिक्षित और दृष्टिहीन भावावेश का ही परिचय देती है। साथ ही उस में विवेक के ह्रास होने से उपलब्धि की निष्क्रियता भी आ जाती है। इसका सबसे बड़ा व्यंग्य वहाँ देखने में आता है जब 'दीवानों की टोली' का गीत केवल स्ट्रीट साँग के सिवाय कुछ नहीं रह जाता, और सारा मनोरंजन उस कैशोर भाव के उद्वेग से बन्ध जाता है जिसमें उच्छृंखलता तो अधिक होती है किन्तु उपलब्धि कुछ नहीं हो पाती। सस्ते मनोरंजन की अपेक्षा नया भावबोध उपलब्धि को अधिक मूल्यवान् मानता है।

अस्तु, नयी कविता में आधुनिकता का परिप्रेक्षण केवल कालगत आधु-निकता नहीं है वरन् भावगत नवीनता भी है। नवीनता को बहुधा लोग अनोखा (strange) का नाम देकर हास्यास्पद बनाने की चेष्टा करते हैं क्योंकि वे भाव की नवीनता, अनुभूति की नवीनता, स्तर की नवीनता, दृष्टि की नवीनता को महत्त्वहीन समझकर साधक और सिद्धि को सत्य मानते हैं, एकालाप और विलाप की निष्क्रियता को सक्रिय मानते हैं, महफिल और मजलिस में मनोरंजन उनका ध्येय होता है, तुक और लय में बेतुकी कहने की धृष्टता उनमें होती है, आत्म-उपलब्धि और सापेक्ष सत्य को वे अमर्यादित सत्य कहकर ठुकरा देना चाहते हैं। वे सारी हिन्दी कविता को सिनेमा-गीत के स्तर पर देखना चाहते हैं। बौद्धिकता को नीलाम-घर में बन्धक रखकर थोड़ी मनोरंजन की अफ़ीम खाकर सोना ही श्रेयस्कर समझते हैं। इसीलिए जब कभी भी किसी दुस्साहसी नये कवि की रचना उनकी आँखों के सामने पड़ती है तो वे अपनी समस्त सद्बुद्धि को भी खो बैठते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि नवीनता स्तर के साथ-साथ दृष्टि का

भी बोध कराती है । नया भावबोध नये स्तर और नयी दृष्टि के साथ-साथ नये मूल्यों को लेकर विकसित हो रहा है । उसमें 'रहस्य' भले ही न हो पर विवेक के द्वारा स्थापित सापेक्ष सत्य की गुरुता और कटुता दोनों ही हैं । उसमें वर्तमान की आधुनिकता है, आत्मवेदना (suffering) की गहराई है; और इन सब से भी बढ़कर एक ऐसा मिज़ाज (temper) है जो समस्त काव्य-परिवेश को अन्वेषण की ओर अग्रसर करता है । नयी कविता के साथ केवल निवेदन का महत्त्व नहीं है । निवेदन के साथ उस सत्यान्वेषण का महत्त्व है जो आज की सामाजिकता और व्यक्ति-निष्ठा की ख़मीर में पक-सीझकर प्रस्तुत हो रहा है ।

यह नया भावबोध और उसके नये यथार्थ की सम्वेदनशीलता ही थी जिसने छायावाद-काल के कवियों को भी उस दिशा में सोचने के लिए बाध्य किया ।

निराला उनमें सर्वप्रथम थे जिन्होंने इस नये भावबोध के साथ 'कुकुरमुत्ता' की रचना की थी । निराला की इस रचना का महत्त्व इसलिए है कि यथार्थ की जागरूकता में उन्होंने उसकी मूल प्रकृति को एक दृष्टि के साथ ग्रहण करने का प्रयास किया था । निराला का छायावादी मार्ग को छोड़कर प्रयोग* की इस सीमा तक उतरना विशेष महत्त्व की बात है । कविता उस पुराने कलेवर में मिट चुकी थी । शब्दों के अर्थ तक संस्कारबद्ध रूढ़ि में उलझ गये थे । समकालीन यथार्थ उन शब्दों में नहीं व्यक्त हो सकता था । युद्धोत्तर संक्रान्ति-काल में छायावादी भावस्तर की कोमलता टिकने में असमर्थ थी और इसलिए समस्त काव्य-बोध 'जुही की कली' के बन्धन से मुक्त होकर कुकुरमुत्ते के विषय पर आ टिका । विवेक-गत बौद्धिक भावबोध का यह प्रथम प्रस्फुटन स्वयम् छायावाद में घटित होना नयी भाषा और नये भाव का परिचायक था । इसका यह मतलब कदापि नहीं है कि नयी कविता के सम्पूर्ण भावबोध उस कविता में मौजूद थे । वह गुलाब, जो समस्त सौन्दर्य की प्रतिमा थी, सारी सौन्दर्यानुभूति का स्रोत था; नये यथार्थ, युद्धजनित यथार्थ के सामने टिक नहीं सकता था । यही नहीं बल्कि संक्रमणकाल का यथार्थ, विघटित मानव-आस्था के स्तर का यथार्थ चरमराती हुई व्यवस्था के यथार्थ के सामने वह अपनी प्रेषणीयता भी नष्ट कर चुका था । सौन्दर्य के प्रतिमान बदल रहे थे, आदमी का सन्दर्भ बदल रहा था । जाति, वर्ग, स्वार्थ, आत्मदर्शन के माध्यम

---

*The word 'experimentation' may be applied and honourably applied to the work of many poets who develop and change in maturity. As a man grows older, he may turn to new subject-matter or he may treat the same material in a different way. As we are; we both live in a different world and become different men in the same world.

—T. S. ELIOT

बदल चुके थे। आदमी के अस्तित्व को युद्ध के यथार्थ ने, संक्रमण की मार्मिक चोटों ने, छायावादी कोमल मानव को ठोस धरातल पर लाकर फेंक दिया था। छायावादी शब्दावली उस स्थिति को वहन करने में असमर्थ थी। रहस्यवाद की आत्मा का फेनिल कुहासा उसके सामने टिक नहीं सकता था। अस्तु; उसे स्वयम् अपने से विद्रोह करके नये धरातल पर आना पड़ा। धूल और मिट्टी के जीवन में नये भावबोध ने अन्यथा रूप से सोना और सुहागा मिलाने का दुस्साहस नहीं किया। धूलि का मटियालापन, उसकी किरकिरी तिक्तता, उसकी बाह्य नीरसता और उसमें प्रस्फुटित नये भावबोध की सन्दर्भ-सत्ता को नये भावबोध ने उसके वास्तविक रूप में स्वीकार किया। यह एक नया प्रयास था, यह एक नया मार्ग था जिसे अपना कर नयी दृष्टि अवतरित ई।

इस प्रकार निराला की यह भाव-स्थिति नये भावबोध के विषय-वस्तु में एक क्रान्ति थी जिसे निराला जैसे छायावादी युग के व्यक्तित्व ने आधुनिकता की सापेक्षता में देखा था। वह मन:स्थिति मानव नियति की उस आक्रान्त मर्यादा की विकलता से उपजी थी जो उस समय राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रति क्षण अपमानित हो रही थी। युद्ध-जनित विकृतियों में संघर्षशील एवम् आत्मरक्षा में भटकता हुआ मनुष्य, अपनी रुढ़िगत परम्परा, अपने विकृत संस्कार और अन्ध विश्वास का अमर्यादित मोह लेकर नहीं जी सकता था। उसे जीवित रहने के लिए सड़ी खाद के साथ नज़ाकत आवश्यक नहीं जान पड़ती थी। वह सड़ी खाद के सत्य को स्वीकार करने की क्षमता ढूंढ़ रहा था। उस ठोस परम्परा की अपेक्षा ठोस धरातल अधिक सत्य जान पड़ता था। इसीलिए उसमें यह साहस भी उपजा कि उसने एक क्षण के सत्य की गहराई और उसकी अनुभूति को उस विश्वव्यापी वाग्जाल से कहीं ठोस समझा जिसमें व्यक्तित्व नहीं था, प्राण नहीं था, गति नहीं थी, केवल एक पूर्वाग्रह था; मात्र एक प्लेटिटयूड था जिस का अस्तित्व जीवन के यथार्थ के समक्ष कुछ नहीं था। यही कारण था कि घूरे के कूड़ा-कबाड़ से ही सही लेकिन उसमें भी उसने अपनी अहम् सत्ता अपनायी। अपनी आत्म-मर्यादा में एक निजत्व की रीढ़ उसने पैदा की और उसका विकास किया। और तब इस निष्ठा में, भावबोध की इस गहराई में, सतही अनुभूति कोई भी योग नहीं दे सकती थी। उसे यदि कोई भी वस्तु सुरक्षित रख सकती थी तो वह थी उसकी आत्मनिष्ठा और उस आत्मनिष्ठा में विवेक और मर्यादा के साथ व्याप्त सत्य, व्यापक जीवन का साभार समर्थन। कुकुरमुत्ता का स्वर जहां कई प्रकार के भाव-स्तरों को छूता है वहीं वह विश्व-युद्ध और राष्ट्रीय चेतना की विरोधी परिस्थितियों में आदमी के बौनेपन में एक स्वाभिमान की मर्यादा का भी आग्रह करता है। विषय-वस्तु की यह नयी पकड़ स्वयम् छायावादियों में एक

सन्दर्भ की माँग करने लगी। कुछ लोग ऐसे थे जो इस विषय-वस्तु के साथ आगे चलना चाहते थे लेकिन वे चल न सके। कुछ ऐसे थे जिन्होंने वेदों में सत्य ढूंढ़ना चाहा।* वह आदि सत्य, निर्विवाद सत्य, मूल सत्य इसलिए ढूंढ़ना चाहते थे कि इस पनपते हुऐ नये भावबोध के सामने एक पहाड़ खड़ा कर दें और आधुनिक भावबोध को बौना सिद्ध करके उसे तिरस्कृत कर दें। किन्तु वे यह नहीं समझ सके कि जिस बौनेपन से पलायन करके उन्होंने वैदिक ऋचाओं में सत्य ढूंढ़ने का साहस किया उस बौनेपनको नये कवि ने समस्त समग्रता के साथ स्वीकार कर लिया था। वह उसका युग-सत्य था जिसे वह किसी भी कीमत पर अस्वीकार नहीं करना चाहता था। यही कारण था कि छायावाद की असीम और पुलक-पुलक कोमल शब्दावली नये भावबोध के सामने धुएँ की पर्त-सी उड़ गई, क्योंकि नये भावबोध की माँग थी यथार्थ की, देश-काल की समग्रता की, विवेक की, वैयक्तिक मर्यादा और आत्मनिष्ठा की; और इन सन्दर्भों में छायावादी कवि का बंधना असम्भव था। इसलिए उसकी समूची सृजन-चेतना ही बिखर गई और वह सारा भाव-स्तर जिसे बड़े-बड़े शब्दों द्वारा उसने व्यक्त किया था केवल बालुका की प्रतिमा निकला जिसपर न तो कोई थाप थी और न कोई छाप ही थी। केवल हवा के झोंके से कुछ आकार बन गये थे जिन्हें वे समझते थे कि उन्होंने बनाया है किन्तु जिस हवा ने उन्हें बनाया था वही उन्हें उड़ा भी ले गई।

यह नया भावबोध जिस यथार्थ की सापेक्षता में सत्य का अन्वेषण करना चाहता था वह एक आत्मतुष्टि की याचना नहीं थी वरन् उसका स्वर था—

मैं उनका ही होता जिनसे
मैंने रूप भाव पाये हैं
वे मेरे ही हिए बंधे हैं
जो मर्यादा में लाये हैं।

० ० ०

मैं ऊँचा होता चलता हूँ
उनके ओछेपन से गिर गिर
उनके छिछलेपन से खुद खुद
मैं गहरा होता चलता हूँ। (मुक्तिबोध)

---

*There are times when we are almost crushed not so much with the load of evil as with the load of goodness of humanity, when we feel that we are nothing but the inheritors of a humiliating splendour.

—G. K. CHESTERTON

यह वस्तुसत्य और आत्मानुभूति का मानवीय रूप नये भावबोध के स्तर का परिचायक है। इस की माँग मानवीयकरण की ओर है, इसका सत्य जीवन की सापेक्षता का सत्य है। इसकी दृष्टि में प्रत्येक वस्तु जीवन-सत्य की स्वीकृति का स्वर लेकर उभरती है। उसकी माँग थी उस विह्वलता की जिसमें रहस्य और सत्य निरावरण होकर ऐसे स्तर को अपना लें जिसमें अनुभूति उनका साक्षात्कार कर सके, विवेक उन में संगति दे सके, स्थूल मानव दृष्टि यथार्थ के रूप में स्वीकार कर सके। और यह स्वर देवत्व का स्वर न होकर, पूर्वाग्रह का स्वर न होकर, परम्परा की रूढ़िगत अंतपूचेतना का स्वर न होकर एक साक्षात्कार की सर्व शक्ति का साहस दे जो जीवन में उसकी कुरूपता, कठोरता, विद्रूपता को ठीक उसी प्रकार ग्रहण कर सके जिस प्रकार कि उदात्त चेतना को ग्रहण करने की अभिरुचि उसमें स्वतः है।

जिसमें विवश रहस्य खोल दे
सत्य की विद्युत् विह्वलता दे
तेरे तन के अणु अणु से तब
निरावरण हो अन्तर्ज्वाला
एक एक अणु सत्य खोल दे
ऐसी सतह स्वयम् चल आये।

(मुक्तिबोध)

छायावाद का पतनोन्मुख काल केवल एक 'स्नाबरी' (snobbery) का काल रह गया था। अपने उत्कर्ष-काल में भी छायावाद इस स्नाबरी से मुक्त नहीं था —विशेष कर रहस्यवाद का रूप तो इसका ज्वलन्त प्रमाण है। महादेवी वर्मा का सारा काव्य इस बात को सिद्ध करता है कि सारी वेदना और सारी ज्वाला, जो 'यामा' से लेकर 'दीपशिखा' तक में अपनी धधकती लपटों के साथ विद्यमान है—उसमें सिवाय एक बड़ी बात कहने की युक्ति के, बड़ी कोमल चोट की गुदगुदी पैदा करने की कसीदेकारी के, कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे हम यथार्थ की सापेक्षता में, अनुभूति की मानवीय संज्ञा में, अपना सकें। गीतिकार में तो यह स्नाबरी हदसे ज्यादा थी–यहाँ तक कि सारी रचना में आँसू, पीड़ा होते हुए भी वह उस स्तर पर हमारे हृदय को छूती ही नहीं थी जिस स्तर पर कि सहपीड़ा और सहवेदना की अनुभूति जागृत होती है। इसीलिए छायावाद का भावबोध, उसका शब्द-विन्यास, उसका भावस्तर, उसकी प्रेषणीयता आगे चलकर अर्थहीन ही हो गयी। गीतिकारों का सम्पूर्ण विरहगीत केवल कवि-सम्मेलनों की हद तक रह गया। उनकी अनुभूति में वह तीव्रता और वह ईमानदारी नहीं रह गयी जो किसी भी कला को

मूल्यवान् बना देती है। छायावाद की अधिकांश मात्रा बड़ी-बड़ी बातों की बतकही है, उसमें संवेदना-पक्ष लुप्त है।

ऐसी स्थिति में वह कलाकार, जिस के पास परम्परागत शैली में कहने को कुछ नहीं था, जो उस रूप और उस भावस्थिति को केवल शब्दाडम्बर और विरलता अनुभव कर रहे थे, उनके लिए नये माध्यम और नये स्वरों का प्रयोग करना अनिवार्य हो गया। यह प्रयोग उस नये माध्यम को ढूंढ़ने में किये गये जो आज के यथार्थ और उसकी समग्रता को वहन कर सके, जिसमें कागजी दुःखों की अपेक्षा वास्तविक दुःखों और वेदनाओं को झेलने की शक्ति हो—जो फ़ैशन के मारे न रोकर वास्तव में अपनी वेदना के स्तरों को उभार कर रख सके, उसे एक हल्के-से व्यंग्य द्वारा तिरस्कृत करके नये सन्दर्भों मे जीवन को रख सके, उससे कुछ सीख सके, कुछ उसे दे सके। वह चाहे वेदना का गीत लिखे या जीवन की असमर्थताओं को व्यक्त करे, चाहे वह साहस के साथ दुःखों का सामना करे या उससे पलायन करे—प्रत्येक स्थिति में उसका स्वर मानवीय स्वर हो, उसकी सम्वेदना मानवीय सम्वेदना हो, उसका भाव-स्तर मानवीय भावस्तर हो, उसकी दृष्टि इस सृष्टि की दृष्टि हो और इन सबसे अधिक वह बड़ी-बड़ी बातों का बतंगड़ न बनाकर छोटी बातों को छोटे मानवीय वृत्त में व्यक्त करे ताकि उस में जीवन का साक्षात्कार हो। कोई अनावश्यक पारलौकिक कथावृत्ति न होकर इहलौकिक सत्य हो।

अस्तु, छायावाद की वह 'स्नाबरी' जो शायद यह समझ बैठी थी कि उसकी खोखली एवम् बड़ी-बड़ी बातों के सामने कोई और चीज़, कोई और अनुभूति, कोई और मूल्य टिक ही नहीं सकता, मिथ्या सिद्ध हुई; क्योंकि 'स्नाबरी'* जहाँ बड़ी-बड़ी बातों से चकाचौंध पैदा करने का प्रयास करती है वहीं वह उपस्थित तत्त्वों में एक उथल-पुथल, एक क्रियाशीलता भी पैदा करती है जिस में नयी स्थितियाँ और नयी प्रवृत्तियाँ प्रेरणा पाती हैं। नया भावबोध उसी क्रियाशीलता का परिणाम है।

प्रश्न यह है कि वह नया भावबोध क्या है? उसकी सन्दर्भ-स्थिति क्या है? वह छायावाद या परम्परागत भावबोध से कितना भिन्न है? और अन्त में, क्या वह वास्तव में उस यथार्थ और उस सापेक्ष सत्य को चित्रित करता है या नहीं?

---

*A society with plenty of snobberies is like a dog with plenty of fleas : it is not likely to become *comatose*. Every snobbery demands of its devotees unceasing efforts, a succession of sacrifices

—ALDOUS HUXLEY

जहाँ तक नये भावबोध का सम्बन्ध है यह निश्चय है कि वह अपनी मूल प्रकृति में परम्परागत और छायावादी भावबोध से भिन्न है। भिन्नता का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि वह आधुनिक है—आधुनिक केवल कालगत (chronological) भाव में नहीं वरन् चिन्तन-विधि में, दृष्टिकोण में, विवेक में, जीवन की व्याख्या (interpretation) में और ऐतिहासिक दायित्व में; आधुनिक इसलिए है कि वह आज के जीवन सत्य को आज के ही सन्दर्भ में देखने का प्रयास करता है। उसके लिए न तो परम्परा की रूढ़ि है और न ही छायावाद का मिशन। उसकी दृष्टि अन्वेषण की है, परीक्षण की है—तर्कगत अवलोकन (observation) और उसके आधार पर परीक्षण (verification) और अन्ततः एक निष्कर्ष तक पहुँचने की है। इससे भी आगे वह दृष्टि अपने निष्कर्षों को अन्तिम सत्य नहीं मानती। वह इससे भी आगे सत्य के रूप की सम्भावना को स्वीकार करती है। इसीलिए इसकी आधुनिकता में रूढ़ि नहीं है, अर्थात् उत्तरोत्तर विकास की सम्भावना ही अधिक है।

अभी तक कवि का मन्तव्य केवल यह था कि वह मात्र हृदय को ही अपना संसार मान ले और उसी की उथल-पुथल में सारा सत्य अंकित कर ले। श्रीमती महादेवी वर्मा इसी भाव को 'यामा' की भूमिका में प्रस्तुत करते हुए कहती हैं, "आज हमारा हृदय ही हमारे लिए संसार है। हम अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख रखना चाहते हैं, अपनी प्रत्येक कम्पन को अंकित कर लेने के लिए उत्सुक हैं और प्रत्येक स्वप्न का मूल्य पा लेने के लिए विकल हैं!" यह पूँजी थी जिसे छायावाद का कवि हर्ष और उल्लास के साथ कहता फिरता था। इसके अतिरिक्त न तो उसकी जिज्ञासा थी और न वह देखने का साहस ही करता था। एक विचित्र बात, जो छायावादी प्रवृत्ति में सहसा विकसित हो गयी थी वह थी अपने हृदय के संसार में उन बड़ी-बड़ी बातों को गुँजाना जो देखने में चमकीली किन्तु भीतर से खोखली हों!

नया भावबोध हृदय को ही संसार मान कर नहीं चलता वरन् वह हृदय और संसार की सापेक्षता को मानता है। काव्य के लिए दोनों का वस्तुपरक सम्पर्क आवश्यक है क्योंकि दोनों दो यथार्थ हैं। इन में साम्य हमारी अपनी अनुभूति पैदा करती है और उस अनुभूति की अपनी पृथक् कोई सत्ता नहीं हो सकती क्योंकि वह अन्तर् और बाह्य से समान रूप में नियन्त्रित होती है। साथ ही नया भावबोध आत्मतुष्टि से अधिक आत्म-उपलब्धि को महत्त्व देता है। आत्मतुष्टि की भावना केवल एक पतनोन्मुख साहित्य की परम्परा है उसमें उपलब्धि का महत्त्व नहीं है। यदि है तो उस भुनगे के समान जो गूलर के फल में पैदा होता है और वहीं मर

जाता है। न तो उसे प्रकाश की जिज्ञासा होती है और न उसके पास वह बौद्धिक विवेक ही होता है कि उस फल के बाहर भी देखने का प्रयास करे, बाह्य प्रकाश की जितनी भी रश्मियां बिखरती हैं उनको अपना सके, उनका साक्षात्कार कर सके। नया भावबोध इस मानसिक स्थिति के प्रति विद्रोह का स्वर रखता है। उसकी अनुभूति बाह्य को तिरस्कृत करके पलायन करना नहीं स्वीकार करती।

छायावाद जिस शील और लज्जा के आवरण में पलायन की प्रक्रिया था वह आज के नये भावबोध में विवेक द्वारा मर्यादित सत्य है।* छायावाद के भाव-जगत् की समस्त प्रेक्षणीयता केवल इस बात में विलुप्त हो गयी कि वह युग विचित्र प्रकार की वर्जनाओं का युग था, जिसमें प्रेम, आस्था, अनास्था किसी भी अनुभूति को कह सकने की और उस कथन के साथ टिक सकने की मानों सामर्थ्य-शक्ति ही नहीं थी। बहुधा जब किसी भी सत्य को कहने का साहस नहीं होता तो हम पलायन के लिए शील-संकोच का आवरण ओढ़ लेते हैं। परी छायावादी कविता इन्हीं वर्जनाओं से बँधी पड़ी है। इसलिए उसका अधि-कांश ऐसा रहस्य बनकर रह गया जो केवल असीम और ससीम की परिधि में ही व्यक्त हो सका।

नया भावबोध इन वर्जनाओं को स्वीकार नहीं करता। यदि स्पष्टवादिता समस्त कला-आदर्शों के साथ सम्भव है तो नया भावबोध मानवीय स्तर पर उसे स्वीकार करने में नहीं झिझकता। यह स्पष्टवादिता ही कुछ लोगों को कर्ण-कटु लगती है किन्तु वे स्पष्ट बात के अभ्यस्त नहीं हैं; शायद इसीलिए घबराते हैं। वस्तुतः कला जब इन वर्जनाओं को स्वीकार करके चलती है तब उसकी प्रेक्षणीयता में कृत्रिमता विकसित होने लगती है। उत्तर छायावाद के अधिकांश कवि इस बात के प्रमाण हैं और उनकी रचनाओं में हमें असीम, अनन्त और इसपार, उसपार के ऐसे भद्दे प्रयोग मिलते हैं जिसे काव्य की दृष्टि से स्वीकार करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा। बच्चन जैसे स्पष्टवादी कवि भी इन वर्जनाओं से बच नहीं सके हैं। अपनी नवीनतम कृति में उनका एक गीत है जिसमें यह बात बड़ी असावधानी से छनकर व्यक्त हुई है। कहते हैं—

"पाप मेरे वास्ते है नाम लेकर आज भी तुमको बुलाना।"

---

*Good art possesses a kind of supertruth. It is more probable, more acceptable, more convincing than itself. Naturally, for the artist is endowed with a sensibility and a power of communication, a capacity to 'put things across' which majority of people to whom events happen do not possess.

—ALDUS HUXLEY

पाप का सन्दर्भ और उसकी सीमा क्या है शायद इसे आज का विवेक स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पा रहा है। नया भावबोध किसी भी मर्यादित सत्य को कहने में पाप नहीं समझता। पाप की परम्परागत परिभाषा के पीछे जो संस्कार, जो परम्पराएं, जो रूढ़ियाँ, जो वर्ग-चेतनाएं लदी हैं नया भावबोध उनके कृत्रिम रूप को नहीं स्वीकार करता। अनुभूति की ईमानदारी मूल्यों की मर्यादा को निखारती है। किसी भी रचना के लिए अनुभूति की गहराई और ईमानदारी अपेक्षित है न कि आवरण की झूठी मर्यादा और उसकी संकीर्णता। छायावाद का भावबोध जहाँ संकोच और शील के आवरण में आधुनिक होने से वंचित रहा वहीं उसने कुछ रीतियों को प्रश्रय दिया जिन्होंने आगे चलकर उसको खोखला और विकृत बना दिया। नया भावबोध किसी विशेष मनोग्रन्थि या रीतिवाद को नहीं मानता बल्कि उसके विद्रोह में वह कुछ सीमा तक स्वतन्त्रता को अभिव्यक्ति के स्तर पर अराजकता स्वीकार करता है। अराजकता नये भाव-स्तर की वह पीठिका है जिसमें अनुभूति की अभिव्यक्ति को स्वतन्त्रता मिलती है। यह अराजकता रीति (mannerism) के विरोध में नये भावबोध को शक्ति देती है।

कुछ लोग अराजकता या रीति के प्रति विद्रोह को गलत समझ कर अराजकता का यह मतलब भी लगा सकते हैं कि नया भावबोध अनुशासन-हीनता का परिचायक है। किन्तु किसी भी रूढ़ि को तोड़ने के लिए प्रयास करना, किसी परम्परा में जकड़े हुए भाव को स्वतन्त्र करने की ओर अग्रसर होना स्वयम् में ही एक बहुत बड़ा अनुशासन है। छायावाद का कोमल भावबोध ठीक उसी तरह से पुंस्त्वहीन और नये यथार्थ को संवरण करने में असफल था जैसे कि तथाकथित अतिसाहसिक राष्ट्रीयवादिता की हुँकार केवल शब्दों के संघर्ष की प्रतीक बनकर रह गई; उससे आगे वह तनिक नहीं बढ़ सकी। प्रगतिवाद ने छायावाद की इस असमर्थता के विरुद्ध विद्रोह तो किया किन्तु उसने इस विद्रोह को भी पवित्र नहीं रहने दिया। उसने इसे एक दूसरी रीति-प्रणाली में बांध दिया जिसमें यथार्थ का अतिवादी एकांगी रूप ही श्रेयस्कर होकर उभर पाय उसने अपनी वह समस्त क्षमता नष्ट कर दी जो एक विद्रोह से तो उपजी थी किन्तु जिसने उस विद्रोह में मात्र प्रतिक्रिया का रूप स्वीकार किया और उसकी सक्रियता की उपेक्षा करके सारे विद्रोह की स्वस्थता को एक दूसरी नीतिप्रियता में बाँधकर स्वयम् एक नारा बनकर रह गयी। किन्तु जब हम नये भावबोध के साथ अराजकता का नाम लेते हैं तो हमारा आशय केवल इतना ही है कि हम अभिव्यक्ति में किसी विशेष रीति को नहीं मानते। साथ ही हम उन वर्जनाओं (taboos) से नहीं संचालित

होते जिनसे कि छायावाद और प्रगतिवाद दोनों ही आक्रान्त थे।

जब हम नये भावबोध के इस सारगर्भित तत्त्व को मान लेते हैं तो हमारे सामने कई चीजें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली तो यह कि यह विद्रोह या यह अराजकता स्वयम् में ही पूर्ण नहीं है, यह केवल एक माध्यम है जिससे कि हम सत्यान्वेषण के मार्ग को अधिक जागरूक बनाते । दूसरी बात यह कि यह भावबोध उपासना की अपेक्षा आलोचनात्मक सत्य को अधिक श्रेयस्कर समझता है। विवेक की बौद्धिक सम्वेदना में यह भाव निहित है कि कोई भी सत्य मात्र निरपेक्ष होकर अनुभूति की गहराई नहीं दे सकता। फिर जब वह सापेक्ष होकर प्रस्तुत होगा तो उसमें विवेक एवम् आलोचनात्मक दृष्टि दोनों का समावेश होगा। नया भावबोध सिद्ध-सत्य जैसी वस्तु नहीं मानता। उसकी प्रकृति है प्रत्येक सत्य को विवेक से देखना, उसके परिप्रेक्ष्य को प्रयोग के माध्यम से निष्कर्ष तक पहुँचाना। इस प्रक्रिया में थोड़ा भटकाव सम्भव हो सकता है, थोड़ी-बहुत बहकाव की भी सम्भावना हो सकती है, किन्तु यह प्रक्रिया ठहराव की मौत से कहीं अधिक जीवन्त और प्रेरणावान् है। इसीलिए नये भावबोध की सम्भावनाओं को बिना जाने हुए कुछ विचारशील मनीषी नये भावबोध में केवल भटकाव ही भटकाव देख पाते हैं, उनमें यह क्षमता विकसित ही नहीं होने पाती। इस यात्रा में जो अनुभव और जो अनुभूतियां मिली हैं वे उस उदात्त मनःस्थिति से कितनी अधिक सशक्त और सम्वेदनशील हैं।

हिन्दी के एक प्रसिद्ध आलोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी इस सत्यान्वेषण की स्थिति को स्वीकार नहीं करते।* लगता है, वे यह नहीं मानते कि सत्य अपनी स्थिति में केवल वह रूप नहीं स्वीकार कर पाता जो निरपेक्ष है, सर्वोपरि है, विवेक और बुद्धि की सीमा के बाहर है। वे शायद यह भी नहीं मानते कि सत्य का अन्वेषण या सत्य के साथ प्रयोग भी हो सकता है। जैसा कि स्पष्ट है प्रयोग अपने में कोई अन्तिम सत्य नहीं है। ऐसी स्थिति में वाजपेयीजी के तर्कों की कोई नींव ही नहीं मिल पाती। इसके अतिरिक्त उन के तर्कों में अवैज्ञानिकता अधिक है क्योंकि सत्य को सदैव प्रयोग के ही माध्यम से पाया जा सकता है। वैज्ञानिक रूप से एवम् नियमबद्ध रूप से, चिन्तन से ही सत्य को पहचाना जा सकता है। यह 'प्रयोग' कोई अद्भुत वस्तु नहीं है। गान्धी जी ने भी सत्य के साथ ही प्रयोग किये थे, सत्य

*ऐसी ही परिस्थिति में वाल्टेयर ने कहा था, "If you wish to converse with me, define your terms." वाजपेयी जी की धारणा के सम्बंध में यह कहना उचित ही होगा कि, If you wish to converse with new poetry define your terms.

को पाने के लिए ही वे प्रयोगशील थे। न्यूटन से लेकर आईन्स्टाईन ने जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया है वह प्रयोगशील ही है। ज्ञान की अनुभूति की अभिव्यक्ति की गहराई, उसकी मार्मिकता, उसकी सम्वेदनशीलता और उसकी आधुनिकता प्रयोग में ही है। गेलीलियो ने भी सिद्ध सत्य को ग्रहण करने से इन्कार किया था, पॅथागोरस ने भी प्रयोग किये थे, सुकरात और ईसा मसीह ने भी विचार और अनुभूति के नये स्तर का अन्वेषण किया था। फिर आज के इस नये भावबोध में प्रयोग, अन्वेषण, सापेक्ष सत्य, विवेक जैसे शब्दों से जो लोग चौंकते हैं वे मात्र अपनी अवैज्ञानिकता का परिचय देते हैं।

यहाँ एक बार फिर यह कहना आवश्यक है कि जो प्रयोग करता है, जो अन्वेषण करता है, उसकी शंका, उसकी अराजकता, उसकी नृशंसता सब के सब एक विशेष भावस्थिति में पनपते हैं। 'पेरिस कम्यून' मार्क्स का एक प्रयोग था। उसकी असफलता भी एक ऐतिहासिक महत्त्व है। ईसामसीह, गांधी, सुकरात के ऊपर भी अराजकतावादी होने का आरोप लगाया गया था और उसके लिए उन्हें प्रताड़ित भी किया गया था। तो क्या प्रताड़ना से, या प्रयोग और अन्वेषण का मज़ाक उड़ाने से, उनकी अनुभूति की गहराई में, उनकी विवेकगत संगति में, उनके सन्देश और अन्वेषण में कोई कृत्रिमता आ गयी? प्रतिपादित सत्य और प्रयोगशील अनुभूति दोनों का विरोध एक विकास-प्रवृत्ति का परिचायक है। वैज्ञानिक भाव-स्तर का प्रमाण केवल प्रयोग और अन्वेषण द्वारा ही दिया जा सकता है।

इसी से नये भावबोध में बौद्धिकता* का एक विशिष्ट स्थान है। जो लोग आज के युग में भी बौद्धिकता को अस्पृश्य मानते हैं और उसका रागात्मक बोध से कोई भी संसर्ग स्थापित करना अनुचित समझते हैं, वे इस बात का परिचय देते हैं कि उनकी तर्कसंगति में, बुद्धि में, कोई दोष है जो भाव-प्रधान कला-बुद्धि के बिना मार्मिक सत्य का उद्घाटन नहीं कर सकती। आधुनिक युग की सारी प्रेक्षणीयता बौद्धिक होने में है। जो कला केवल भावप्रधान है या भावुकता से ओतप्रोत है, वह जड़ है, उसमें प्रेरणा नहीं है, इसलिए 'ट्रोजन हार्स' की भांति निपट भावुकता कलाक्षेत्र में सदैव आपत्तियों को जन्म देती है। आज का नया भावबोध

* The noblest art appears to the intellect as well as to the feelings (as a symphony appeals to us not only by its harmonies and sequences but by its structure and development) and this intellectual pleasure is the highest form of joy to which a man can rise.

—ARISTOTLE

इस सत्य को स्वीकार करता है कि केवल कोरी भावुकता ग्राज के मनुष्य को संतुष्ट नहीं कर सकती क्योंकि सारी मानवजाति की मानसिक स्थिति कैशोर-ग्रवस्था की भावुकता के चरण को लांघ चुकी है। वह ग्राज एक परि-पक्वता की ग्रोर ग्रग्रसर है। इसलिए उसके जीवन से बौद्धिकता को निकाल फेंकना कठिन ही नहीं दुस्साहस का कार्य है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह ग़लत है। सम्वेदना सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में भी बौद्धिकता से मुक्त नहीं हो पाती! प्रत्येक सम्वेदना (sensation) या प्रत्येक ग्रनुभूति (experience) ग्रपने सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप में भावबोध (perception) की प्रक्रिया में ही ग्रवतरित होती है। यह बोध एक बौद्धिक क्रिया है, एक ग्रर्थ देने की गतिविधि है, जो तार्किक है, व्याख्यात्मक है, ग्रालोचना-प्रधान है इसीलिए प्रेक्षणीय है, विज्ञ है ग्रौर साथ ही साथ सार्थक भी है। कोई भी ग्रनुभूति बिना इस बौद्धिकता के पनप नहीं सकती। कोई भी सम्वेदना बिना इस मानसिक प्रक्रिया के मूल्यवान् नहीं हो सकती; फिर बौद्धिकता से बचने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? उस से बचा भी क्यों जाये? यदि हम नदी के प्रवाह से प्रभावित होने के साथ-साथ यह भी जानते हैं कि यह हाइड्रोजन ग्रौर ग्राक्सीजन के सम्मिश्रण का रूप है तो इस से हमारी ग्रनुभूति में कौन-सी कमी ग्रा जाती है? ज्ञान की कोई भी सीमा भावस्तर से वंचित नहीं की जा सकती। ग्राज के युग में जो यह नहीं स्वीकार करते उनके विकास में कोई कृत्रिमता है, कोई खोखलापन है जो उन्हें ग्राज के यथार्थ का साक्षात्कार करने से रोकता है।

ग्रस्तु; किसी भी कलाकृति को परखने के लिए इन मिथ्या ग्राधारों को लेना ग़लत होगा। जो बात समस्त नयी कविता में देखने की है वह यह कि इसमें ग्रनुभूतियों के प्रति ईमानदारी है या नहीं, ग्रभिव्यक्ति में यथार्थ है कि नहीं, विचारों में विवेक है कि नहीं, भावनाग्रों में मानवीय वेदना है या नहीं, दृष्टि में व्यापकता है या नहीं; ग्रौर इन सबसे भी ग्रधिक देखने की वस्तु है कि जो कुछ नयी कविता या नयी कला के नाम से विकसित हो रहा है उसमें ग्रपनी रीढ़ है कि नहीं। नया भावबोध ग्रति काव्यात्मक (poetic) ग्रभिव्यक्ति को सतही (artificial) मानता है। साथ ही वह उस पक्षधरता (partisanship) का भी कायल नहीं है जिस के माध्यम से तथाकथित प्रगति की घोषणा की जाती है। इन सब बाह्य कलेवरों से ग्रधिक महत्त्वपूर्ण है ग्रादमी को ग्रादमी का स्वर देना, ग्रादमी को ग्रादमी का स्वाभिमान देना! यह कार्य छायावाद का कवि भी कर सकता था किन्तु वह एक ऐसे जाल में उलझ गया था कि उसकी सारी शक्ति रहस्य से लड़ने में रिक्त हो गयी। वह यथार्थ की ग्रोर उन्मुख हुग्रा ही नहीं।

पन्त जैसे दो एक कवियों ने यदि यथार्थ देखना भी चाहा तो किसी राज-प्रासाद के झरोखे से, और इसीलिये चाहे वह चमारों का नृत्य हो अथवा धोबियों का गाना, वह सब का सब एक संभ्रान्त सज्जन के ड्राइंग रूम की सज्जा ही बनकर रह गया। उससे अधिक उसका विकास ही नहीं हो पाया। 'भैंसागाड़ी की चरर्र-मरर्र' में भी केवल वक्तव्य है, कविता नहीं।

अन्त में नये भावबोध के विषय में दो बातें और कह देना आवश्यक है। पहली बात तो यह कि नया भावबोध समन्वय की कथरी में विश्वास नहीं करता। समन्वय किसका? और किससे? क्या 'नाच रहा है चक्र' की तुक से और प्रेम-संगीत से? क्या 'जी हाँ हुजूर मैं गीत बेचता हूँ' से और प्रवासी के गीत से? क्या 'पृथ्वीपुत्र' से और 'नदी के द्वीप' से? वस्तुतः नया भावबोध पेवन्द लगाने के कार्य को ग़लत समझता है। यह सारा का सारा ऐतिहासिक क्रम में बंध सकता है, किन्तु आज की काव्यगत जागरूकता और शिल्पगत नवीनता के साथ इनका कोई भी समन्वय नहीं स्थापित किया जा सकता। दूसरे शब्दों में यह समन्वयवाद छायावाद के 'गुडविल मिशन' का भग्नावशेष है जिसकी न तो कोई धुरी है और न भविष्य है। राष्ट्रीय आन्दोलन का जीता-जागता राजनैतिक 'स्टण्ट' आज साहित्य में भी प्रयुक्त हो रहा है, जिस का परिणाम केवल दिग्भ्रम पैदा करना है। इसलिए नया भावबोध इस भानुमती की पिटारी का भी कोई महत्त्व नहीं समझता क्योंकि जो नया है वह अपने विषय-वस्तु, रूप-गठन, विचार-तत्त्व और दृष्टि-सत्य के साथ नया है। जो पुराना है वह अपने में एक ऐतिहासिक सत्य को बाँधे है। ऐतिहासिक विकास और ऐतिहासिक रूढ़ि को एक साथ बाँधकर हाँकने का प्रयास साहसिक कहा जा सकता है किन्तु उसे बुद्धिमानी का रूप नहीं माना जा सकता।

दूसरी बात यह कि नया भावबोध, नयी कविता में प्रयुक्त नयापन, संज्ञा नहीं विशेषण है। विशेषण इसलिए कि वह विशिष्ट है। विशिष्ट इसलिए है कि उसमें विषयवस्तु की नवीनता है, दृष्टि की विशिष्टता है, भाव-स्तर की नवीनता है, सौन्दर्य-बोध की नवीनता है। इस से भी आगे उस में नयी सम्भावनाओं की प्रयोगशीलता है। वह सारा का सारा जो आज लिखा जा रहा है नया नहीं है क्योंकि उसमें नये भावबोध की गहराई नहीं है, नये विवेक का अस्तित्व नहीं है, नयी मर्यादा का प्रतिपादन नहीं है। इसलिए नया भावबोध नयी कविता को संज्ञा के रूप में नहीं स्वीकार करता वरन् उसे विशेषण के रूप में महत्त्वपूर्ण समझता है।

जब इस नये भावबोध को बिना समझे नयी कविता के विषय में कुछ भी कहा

जायगा तो निश्चय ही नयी कविता के भावबोध में, उसके मार्मिक स्तर के प्रति किसी न किसी प्रकार का अन्याय अवश्य हो जायगा ! हिन्दी के एक विख्यात मासिक पत्र में अज्ञेय की एक महत्त्वपूर्ण रचना का संदर्भ बताते हुए श्री बालकृष्ण राव ने उसके गम्भीर एवम् विषय-वस्तु में नवीन होने के बावजूद भी उसका उल्लेख व्यंग्यात्मक रचना के रूप में किया है । आत्म-उत्सर्ग से पूर्ण कविता रावसाहब को 'तिक्तता' से भरी हुई मालूम पड़ी है। उस कविता में उन्हें 'आरोह' का नहीं, 'अवरोह' का स्वर मिला है और उन्हें दुःख है कि हमारी अष्टवर्षा मुक्ति-कन्या उल्लास और उत्साह से हमारा घर नहीं भर रही है । कविता की पंक्तियाँ हैं—

यह वह विश्वास, नहीं जो अपनी लघुता में कांपा
वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुंधआते कड़ुवे तम में
यह सदा द्रवित, चिर जागरूक, अनुरक्त नेत्र
आलम्ब बाहु, यह चिर अखंड अपनापा
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय,
इसको भी भक्ति को दे दो ।
यह दीप अकेला स्नेहभरा
है गर्व भरा मदमाता
इसको भी पंक्ति को दे दो।

प्रस्तुत कविता में जिस खींचतान के साथ व्यंग्य चित्रित करने का प्रयास श्री बालकृष्ण राव ने किया है उस से यह स्पष्ट है कि नयी कविता और उससे सम्बंधित विषय-वस्तु के प्रति उनका उचित दृष्टिकोण विकसित नहीं हो पाया है । जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों में कहा गया है इस समूची कविता का भाव-स्तर यह है कि अपने व्यक्तित्व और अपने विश्वास की लघुता का भी अस्तित्व है और वह भी उत्सर्जित हो सकता है। अपनी प्रबुद्ध शक्ति के साथ, अपने समूचे अस्तित्व की स्थापना के साथ, अपनी समस्त संवेदनशीलता के साथ, लघुता के स्वाभिमान की रक्षा के साथ उत्सर्जित होने की इस इच्छा में व्यंग्य कहाँ है ? इसे विरले ही आलोचक समझ सकते हैं। 'श्रद्धामय' भक्ति की उत्सर्गगाथा कब व्यंग्य के रूप में प्रचारित होगी शायद उसे कवि भी नहीं जान सका होगा । 'भक्ति' और 'पंक्ति' को अर्पित होनेवाला अकेला प्रबुद्ध दीप शायद इस व्यंग्यात्मक टीका से तिलमिला भी उठा हो किन्तु तिलमिलाने के बावजूद भी व्यंग्य के इस संदर्भ से उसे मुक्ति नहीं मिल सकी । उसे उत्सर्जित होने के बाद भी इन कांटों में घसिटना पड़ा । कितना बड़ा व्यंग्य है यह सब का सब !

इसी प्रकार का अर्थ और साथ ही उसका भाष्य नयी कविताओं पर बहुधा होता रहता है। जहां तक अज्ञेय की इस रचना का प्रश्न है, इसकी भावना का सम्बन्ध इतना स्पष्ट है कि न तो इसमें कोई कुण्ठाग्रस्त एकाकीपन (isolation) है न ही वह दुरूह स्थिति (obscurity) ही है जिस का आरोप बहुधा नयी कविता पर लगाया जाता है। फिर भी यह कहाँ से व्यंग्य रूप में प्रस्तुत हुई है, कहाँ से इसके भावबोध में तिक्तता और खीझ है, कहाँ इस में निराशा और विद्रूपता है, यह शायद रावसाहब जैसे विद्वान् आलोचक ही जान सकते हैं। पता नहीं 'अष्टवर्षीया मुक्ति-कन्या' उल्लास से भर पायी या नहीं, पता नहीं हमारा घर उल्लास से भर पाया या नहीं, किन्तु यह स्पष्ट है कि यदि यह 'अष्ट-वर्षीया मुक्ति-कन्या' इस श्रद्धामय आत्म-उत्सर्ग को समझती है, यदि वह अपने बचपन में इस की भावगरिमा की पवित्रता और उसके अनुष्ठान को व्यंग्य समझती है तो निश्चय ही अभी उसकी समझ में कमी है और वह अभी भी, मुक्त होने के बावजूद भी, 'अवरोह' ही की स्थिति में है।

यह तो एक बात हुई। किन्तु प्रश्न यह है कि आखिर इस प्रकार की अनर्गल मनमानी व्याख्याएँ की क्यों जाती हैं? और तब इसका उत्तर केवल यह है कि नयी कविता के भावबोध के नये स्तर का विवेचन अभी स्पष्ट रूप से हो नहीं सका है। ये समालोचक, ये विचारशील लेखक जो नयी कविता के सम्बन्ध में कुछ कहते या लिखते हैं उनके सामने उसकी भावबोध-सम्बन्धी नवीनता उभर नहीं पाती। उसकी गति, उसकी व्यंजना, उसकी अनुभूति* की विविधता उन को ग्राह्य नहीं हो पाती और इसलिए बहुधा उसके मूल्यांकन में असावधानी और अन्याय-सा हो जाता है। यह बात मानने से किसी भी नयी कविता के समर्थक को इन्कार नहीं हो सकता कि नयी कविता में ऐसा भी अंश है जो भाव-स्तर पर अधकचरा एवम् अपरिपक्व है किन्तु मात्र इतने ही से संपूर्ण नयी कविता का स्वर अवसाद और कटुता का स्वर नहीं हो जाता। जो यह मानते हैं कि नये कवियों का प्रधान स्वर निराशा, अवसाद और कटुता का ही है वें या तो नयी कविता के भाव-पक्ष को स्वीकार नहीं कर पाते या उसके परिप्रेक्ष्य को ग्रहण करनें में उसी प्रकार

* The experience of a poem is the experience both of a moment and of a life-time. There is a first, or an early, moment which is unique, of shock and surprise, even of terror (*Ego dominus tuus*)—a moment which can never be forgotten, but which is never repeated integrally; and yet which would become destitute of significance if it did not survive in a larger whole of experience which survives inside a deeper and a calmer feeling.

—T. S. ELIOT.

की ग़लती करते हैं जैसा कि अज्ञेय की कविता का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। अज्ञेय में निराशा ही निराशा है, ऐसी बात को कहना उनकी रचनाओं के प्रति अन्याय करना है। अज्ञेय में निराशा नहीं, आत्मवेदना का स्वर अधिक है। उनमें जो आशा है इसके साथ कौतूहल और भावुकता नहीं है वरन् बौद्धिक विवेक है। उसमें मोह की वह खोखली ध्वनि नहीं है जो उत्तर छायावादी गीतिकारों में है।

फूल को प्यार करो
पर झरे तो झर जाने दो
जीवन का रस लो : देह, मन, आत्मा की रसना से
पर जो मरे उसे मर जाने दो ।
जरा है भुजा तितीर्षा की: मत ब ो बाधा
जिजीविषा को तर जाने दो
आसक्ति नहीं आनन्द है सम्पूर्ण व्यक्ति की
अभिव्यक्ति :
मरु में किन्तु मुझे घोषित यह कर जाने दो ।

आशा का स्वरूप हिन्दी कविता में नयी कविता के पूर्व केवल छिछले उल्लास में ही व्यक्त होता हुआ मिलता है। बच्चन का आशावाद, या दिनकर की साहसिकता, इसका उदाहरण है। यदि उल्लास केवल 'दीवानों की टोली' बनाने में है और निरुद्देश्य, लक्ष्यहीन, दृष्टिहीन चलने में है तो अवश्य ही ऐसी मानसिक स्थिति नये कवि की नहीं है। वह अपनी आशा को शिशुवत् 'चाकलेट' की खुशी में नाचने वाली बुद्धि से नहीं देखता। वह स्काउटों की तरह पांच नियमों को रटकर भाव-अभिव्यक्ति की साधना नहीं करता। नयी कविता 'कैम्प फायर' का रिहर्सल नहीं है। शायद यही कारण है कि उसमें भविष्य की अनन्त सम्भावनाएँ निहित हैं।

यहाँ पर एक प्रश्न उठना आवश्यक है। क्या कटुता, अवसाद, निराशा, काव्य की प्रेरणा-स्रोत नहीं हो सकती ? जयदेव के 'गीत गोविन्द' में जो आशा, उल्लास, हर्ष-अतिरेक है क्या वह भवभूति की करुणा से ऊंचा है ? आज का कवि कटु होना बुरा नहीं मानता। अवसाद को स्वीकार करके उससे संघर्ष करना वह अनुचित नहीं समझता। निराशा स्वयम् पतनोन्मुख नहीं कही जा सकती। सारी बात केवल यहाँ पर आके टिकती है कि कटुता में ईमानदारी है कि नहीं। अवसाद में सत्य-निष्ठा है कि नहीं। निराशा में संघर्ष करके उत्सर्ग की भावना है कि नहीं; और इन सब से भी बढ़कर इस समस्त मन:स्थिति में कलाकार की

विवेकगत बौद्धिकता है कि नहीं । यदि ऐसा नहीं होगा तो 'यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयम् विसर्जित', 'यह प्रकृत, स्वयम्भू, ब्रह्म, अच्युत' भी भावबोध के अभाव में व्यंग्य जैसा लगेगा । रावसाहब को यह सारा संदर्भ व्यंग्यमय लग सकता है । इस में कटुता और अवसाद मिल सकता है किन्तु वह स्वयम् विसर्जित के वेवक को नहीं स्वीकार कर सकते । यदि विवेक को वह मान लेते तो शायद कविता की दुरूहता सरल हो जाती ।

कला में पूर्वाग्रह (platitudes) अवरोध उत्पन्न करते हैं क्योंकि वे मुक्त दृष्टि एवम् शुद्ध चेतना को पंगु बना देते हैं । किन्तु जब इन पूर्वाग्रहों का खण्डन करके आगे बढ़ने का प्रयास किया जाता है तो यह प्रयास ही बहुतों को चौंका देता है । श्री बालकृष्ण राव की मार्मिक काव्य-प्रतिभा भी केवल इसी नाते चौंक पड़ी क्योंकि वह भावना से अधिक पूर्वाग्रह को सत्य मानते हैं । शायद वह कबीर की सारी कविता कूड़े में इसलिए फेंक दें कि उसमें व्याकरण की अशुद्धियाँ और भाषा की मिलावट इतनी अधिक है कि वह उनको नहीं रुचती । किन्तु क्या केवल इस नाते कोई भी कला त्याज्य हो सकती है ? अज्ञेय की प्रस्तुत कविता को व्यंग्य समझ कर उसमें निराशा और कटुता को देखनेवाले की भावुकता शायद इतनी अधिक जागरूक है कि वह सत्य को छोड़ कर परछाईं के पीछे दौड़ने में ही सारी शक्ति खो बैठा है ।

यदि आज की नयी कविता का वास्तविक स्वर केवल इन पूर्वाग्रहों पर विकसित होता तो निश्चय ही उसमें पैनापन और तीखापन न आता । किन्तु तीखापन कोई त्याज्य वस्तु नहीं है । बहुधा तीखेपन में वेदना की ईमानदारी, अनुभूति की गहराई अधिक व्यापक होती है । आज के युग में यह तीखा स्वर, यह तिक्त स्वर, उस मधुर कोमल पदावली से कहीं अधिक ईमानदारी का परिचायक है जो पिछले दो दशकों से काव्यक्षेत्र में प्रचलित रहा है । सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की 'खाली जेबें, पागल कुत्ते और बासी कवितायें' शीर्षक कविता की तिक्तता में जो व्यंग्य है वह छिछला तो नहीं है और कुछ भले ही हो सकता है । वे जो आदमी को आदमी बनाने का दम्भ अपने ड्राइंग रूम में बैठे, बासी कविताओं के आधार पर करना चाहते हैं, वही उसके मर्म को कटु कह सकते हैं । वैसे वह यथार्थ है जिसको देखकर 'हार्डब्राऊ' हमेशा नाक भौं सिकोड़ता है ।

लगे हाथ 'अन्धा युग' भारती के काव्य-नाट्य पर भी एक निर्णय दे दिया गया है; उसमें शायद विवेक से काम नहीं लिया गया । यहाँ पर अधिक न कह कर केवल इतना ही कहना उचित होगा कि 'अन्धा युग' प्रकाश की कथा है जो अन्धों के माध्यम से कही गयी है । उसका विषय-वस्तु है 'विवेक', 'मर्यादा',

सापेक्ष और अर्द्ध सत्य की अन्वेषण-प्रवृत्ति । जिस युग में अश्वत्थामा, और युयुत्सु दोनों की विक्षिप्तता हो उसकी कथा में विवेक ही प्रकाश दे सकता है। इसलिए उसका स्वर अशक्त निराशा का स्वर नहीं है। उसमें खिन्नता का दोष नहीं है । उसमें विष नहीं है वरन् प्रकाश को, सत्य को, स्थापित करने की तड़प है । यदि यह तड़प विष है तो सृजन की समस्त सहृदयता ही विषाक्त है। बिना इस गहरी तड़प के शायद सृजन की अनुभूति पनप ही नहीं सकती । 'अन्धा युग' की समस्या है :—

ऐसे भयानक महायुद्ध को
अर्द्ध सत्य, रक्तपात हिंसा से जीत कर
अपने को बिलकुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना ही है ।

उसकी मूल्य मर्यादा का प्रश्न है—

जिनके लिए युद्ध किया है
उनको यह पाना कि वे सब कुटुम्बी अज्ञानी हैं
जड़ हैं, दुर्विनीत या जर्जर हैं

क्योंकि उसकी विक्षप्तता के पीछे अन्धेपन की अटल परम्परा है, विवेक-हीनता की विद्रूपता है, मर्यादाओं का विघटन है । इसीलिए उसमें ईश्वर की पार्थिवता, व्यापकता ग्रहण करके मानवीय स्तर पर विवेक के स्वर में बोलती है—

सब का दायित्व लिया मैंने अपने ऊपर
अपना दायित्व मैं सौंप जाता हूँ सब को ।*

यदि इतने पर भी नयी कविता में, 'अन्धा युग' में, केवल निराशा ही निराशा है तो यह निराशा भी चॉकलेट की खुशी में अर्थहीन नृत्य से अच्छी है । नाटक की आलोचना उसके नाटकीय तत्त्व के साथ करना अधिक उपयुक्त होगा। इसीलिए बिना उसकी समवेत भाव-स्थिति और पृष्ठभूमि को व्यक्त किये कुछ भी कहना व्यर्थ है। केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि नयी कविता के आस्था-स्वर को यूरोप से बाँधने का प्रयास या वहाँ के सामाजिक, राजनैतिक सन्दर्भों में उसे देखना बड़ा भारी भ्रम है ।

अस्तु, नया भाव-बोध तिक्तता को वर्जना नहीं मानता, निराशा और अवसाद को भी स्थान देता है । छायावाद या उत्तर छायावाद के गीतिकारों का अवसाद एक निष्क्रिय कमरे में बन्द वियोगी का अवसाद था इसीलिए वह उसकी घुटन में

---

* 'सत्यान्वेषण' नयी कविता के भावबोध का एक मुख्य अंश है ।

मर भी गया। नयी कविता का अवसाद, उसकी निराशा, देश और काल की सापेक्षता में है इसलिए उसमें व्यंग्य और सन्देश दोनों ही हैं। भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीत फरोश' कविता ही को लीजिये। क्या उसे तिक्तता, अवसाद, और व्यंग्य के नाते कृत्रिम कहा जा सकता है ? क्या भवानीप्रसाद मिश्र की यह तिक्तता कोई अर्थ नहीं रखती —

> **यह गीत रेशमी है यह खादी का**
> **यह गीत पित्त का है यह बादी का**
> **कुछ और डिज़ाइन भी हैं, ये इल्मी —**
> **यह लीजे चलती चीज़, नयी फिल्मी**
> **है गीत बेचना वैसे बिल्कुल पाप**
> **क्या करूँ मगर लाचार हार कर**
> **गीत बेचता हूँ**
> **जी हां, हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।**

यदि प्रस्तुत कविता में व्यक्त लाचारी और हार का स्वर मात्र निराशा और अवसाद ही व्यक्त करता है तो कुछ नहीं कहना है। शायद अर्थ की सम्भावना को ब्रह्म शब्द ही व्यक्त कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि तिक्तता, निराशा, अवसाद कदापि बूढ़े नहीं हैं, उनमें यदि अनुभूति की गहराई और ईमानदारी हो तो। वैसे आज की यह लाचारी और हार उस छायावादी लाचारी और हार से कहीं अधिक स्वस्थ और प्रौढ़ भावनाओं की समर्थक है।

इतना तो मात्र क्षेपक था क्योंकि बिना इस के शायद वे तत्त्व जिनको नयी कविता के भावबोध के सम्बन्ध में निर्धारित किया गया है अधिक स्पष्ट न हो पाता। जिस भावबोध में वैज्ञानिकता होगी, विवेक होगा, वह प्रायः भावनावादी कवियों को नहीं रुचेगा। जीवन केवल सनसनी-खेज़ घटनाओं का समूह नहीं है, न ही वह मात्र भावना ही भावना है। सदाशयता बुरी चीज़ नहीं है किन्तु केवल सदाशयता उस गँवारपन का भी परिचायक है जो यह समझता है कि बाहर वालों के पास पैसा है इसलिए वे दिन-रात गुड़ ही गुड़ खाते हैं। केवल स्वाद के लिए नहीं, स्वास्थ्य के लिए भी थोड़ा तिक्त होना, कटु होना आवश्यक है। मनोग्रन्थियों और कुण्ठाओं में पनपा हुआ साहित्य कृत्रिम होता है इसलि इन तिक्तताओं की अभिव्यक्ति भी स्वास्थ्यप्रद है। इससे चिन्तन की गहराई स्पष्ट होती है, समस्याएँ प्रकाश में आती हैं, विचारों को शोधने का अवसर मिलता है।

जब नयी कविता आज के यथार्थ को स्वीकार करती है तो उसे उसकी कटुता

और तिक्तता को स्वीकार करने में कोई आपत्ति भी नहीं है। छायावादी कवि में इस तिक्तता को लेकर मथने की क्षमता थी। आज के कवि में कहीं इस तिक्तता को हसकर उड़ा देने की क्षमता है, कहीं उसमें इस कटुता में खटने का साहस भी है, कहीं वह उसके अवसाद को अंगीकार करके, उसके विष को कण्ठ में धारण करके जीवन के अन्य स्तरों को सुरक्षित करने की भी शक्ति है। आज जीवन की तिक्तता और कटुता को स्वीकार करना ही सत्य है। उससे पलायन करना या उससे घृणा करना या उसके प्रति उदासीन रहना शायद असंख्य संक्रामक रोगों को भी जन्म दे सकता है।

नये भावबोध की नतिकता* में इन सब को स्वीकारने की क्षमता है क्योंकि उसकी जड़ें यथार्थ की चट्टान पर उगी हैं; किसी भुर-भुरी खाद की भरी हुई क्यारी में उसकी जड़ें ऊपर सतह पर नहीं धरी हैं। यह स्वीकृति ही नये भावबोध की प्रेरणा है।

*A man would not be moral without the capacities for reason and imagination for intellectual and artistic experience. He cannot philosophise unless he had a strain of poetry and a strong and delicate conscience. Each several activity draws its specific energy from the spiritual unity, morality, purely moral rejecting the inroads of sophistic logic, the other purely speculative uncontaminated by misplaced edification.

—CROCE

[५]

सौन्दर्यबोध के नये तत्त्व

नयी कविता का भावबोध जिस विवेक, यथार्थ और मानवीय स्तर को स्वीकार करता है उससे एक नये प्रकार की दृष्टि विकसित होती है जो सौन्दर्य-बोध को नये परिवेश और नये सन्दर्भ में देखने की प्रेरणा देती है। यह सन्दर्भ है यथार्थ से ओत-प्रोत जीवन की व्यापकता ; और यह परिवेश है आज की मर्यादित वैज्ञानिकता जिसके सामने रहस्य, अन्ध विश्वास, निरपेक्ष सत्य, अखण्ड आत्मबोध इत्यादि केवल कुहासे की घनीभूत अल्पज्ञता ही प्रतीत होते हैं। यथार्थ और विवेक यह दोनों आधुनिकता और वैज्ञानिकता की सामर्थ्य में विश्वास करते हैं; साथ ही हमारी अभिरुचि को अधिक प्रौढ़ और सक्रिय रूप देने में सहायक होते हैं। प्रौढ़ इसलिए कि अभिरुचि में विवेक द्वारा सत्यान्वेषण की दृष्टि मिलती है,सक्रिय इस लिए कि सत्य की स्वीकृति कोई बाह्य आरोपित अखण्ड का बोध नहीं कराती वरन् वह जीवन की गति से विकसित होती है और जीवन की अनुभूति में परिपक्व होकर उसमें गति पैदा करती है। जीवन का साक्षात्कार, उसका आत्मसम्मान, नयी कविता के सौन्दर्य-बोध का यथार्थ है इसलिए उसमें जीवन की सम्पूर्णता अपने राग, विराग, सामंजस्य, विघटन, प्रलय, सृजन संघर्ष, और अभिमान, इन सब तत्त्वों को समाहित करके आगे बढ़ती है। नयी कविता का सौन्दर्य-बोध 'शिशुवत् जिज्ञासा' नहीं है, वह वैज्ञानिक बोध

है जिस में सौन्दर्य का शुभ पक्ष उसके अशुभ पक्ष से उतना ही सम्बन्धित है जितना कि काव्य-बोध यथार्थ से सम्बन्धित है । यह बात भी मान लेनी होगी कि नयी कविता का भावबोध मानसिक स्तर पर यथार्थ की अनिवार्यता को जीवन का अविभाज्य अंश मानकर उसकी दुरूहता को वहन करने की चेष्टा करता है और तब वह सौन्दर्य-बोध को जीवन से प्रथम किसी दैवी आभा या अखण्ड ज्योति का आभास नहीं मानता । वह कमल के साथ कीचड़ का अस्तित्व स्वीकार करता है, अभिभूत क्षणों के साथ विक्षिप्त क्षणों को भी महत्त्व देता है, वह सुन्दर को विरूप से पृथक् नहीं मानता, दोनों का सम्बन्ध अनिवार्य मानता है क्योंकि 'रूप' उतना ही बड़ा सत्य है जितना विरूप, सुन्दर उतना ही बड़ा सत्य है जितना असुन्दर, जीवन उतना ही बड़ा सत्य है जितना जीवन-परिवेश । विरूपता अश्लीलता नहीं है, असुन्दर भोंडापन (vulgarity) नहीं है, परिवेश संकीर्णता नहीं है—इन सब का सौन्दर्य के पक्ष में महत्त्व है, ये सब सौन्दर्य को सम्पूर्ण बनाते हैं, उसके आयामों को विकसित करते हैं । होता यह है कि नयी कविता के आलोचक या उससे सहानुभूति न रखने वाले लोग 'विरूपता' को अश्लीलता कहकर उड़ा देना चाहते हैं, असुन्दर को वल्गर कहकर टाल देना चाहते हैं, परिवेश को महत्त्वहीन घोषित करके नये भावबोध को सतही साबित करने की चेष्टा करते हैं और वे यह भूल जाते हैं कि सौन्दर्य की स्वस्थ दृष्टि को विकसित करने में इन सभी तत्त्वों का उतना ही दायित्व है जितना कि अनुभूति का, बोध का, सम्वेदना और मूल्य का ।

छायावाद का सौन्दर्यबोध शिशुवत् निष्क्रियता को ही अन्तिम सत्य मानता है । 'शिशुवत् जिज्ञासा' में भोग सकने (participation) की क्षमता नहीं है इसीलिए वह या तो सौन्दर्य से अभिभूत होता है या उससे पीड़ित होकर आक्रान्त हो जाता है । छायावाद में सौन्दर्य को स्वीकार करने की उतनी ही दुर्बल क्षमता है जितनी कि उसके द्वारा प्राप्त सहानुभूति को वहन करने की अक्षमता है । वह तो केवल चमत्कार देखता है, आश्चर्यचकित होना जानता है, विचित्रता का कायल है और साथ ही स्थल-स्थल पर यह सिद्ध करता चलता है कि सारा भावबोध केवल आत्महीनता की पगुंता पर आश्रित है । प्रकृति के अविवेकपूर्ण प्रदर्शनों से भी वह उतना ही अभिभूत हो जाता है जितना कि उसकी जड़ प्रक्रिया से होता है और अन्त में जब वह रहस्यवादी की सीमा तक पहुँचता है तो उसकी शिशुवत् जिज्ञासा इन सबसे पलायन करके निष्क्रिय दिवा-स्वप्न के कुहासे में आलस्यविभोर होकर परियों के देश की कहानी बुनने लगती है जिसमें केवल इस पार या उस पार का संकेत है—न तो इस पार के जीवन का यथार्थ है और न उस पार की दृष्टि,—जिसमें यदि ज्वाला है तो वह भी 'फूलमय', फूल है तो वह भी

ज्वालामय, श्रद्धा है तो वह भी अनीमिक, विश्वास है तो वह भी खण्डित—और तब उसकी सारी पूँजी केवल इस आधार पर टिकती है कि सत्य वह है जो अप्राप्य है, जीवन वह है जो अदृश्य है, यथार्थ वह है जो स्वप्न है, गति वह है जो गति का बोध न कर सके, यहाँ तक कि छायावादी रहस्यवाद उस रहस्य से भी वंचित है जो रोमॅान्टिक स्तर पर शेली, कीट्स, या वर्डस्वर्थ में है या जो हाफ़िज रूमी आदि सूफ़ियों में है। छायावाद का रहस्यवाद तो कबीर की भी सीमा नहीं छू पाता। वह शि-शुवत् जन्मता है और शिशुवत् ही अन्त तक रहता है। यह शिशुवत् भावबोध अन्त तक अपनी सीमाएँ नहीं स्वीकार करता और न अपने आसपास के बिखरे यथार्थ को ही स्वीकार करता है। इसकी चरम परिणति तो उन गीतों में मिलती है जिनमें छायावाद की शिशु-जिज्ञासा अपने पतनोन्मुख काल में इस निरर्थक सीमा तक पहुँच जाती है कि बच्चन जैसे कवि भी उससे नहीं बच पाते और उनकी सारी अनुभूति की विज्ञप्ति केवल इस में मिलती है कि—

> जग के इन तारों से मतलब
> जो निशि में पथ दिखलाते हैं
> जो नयनों में उतरा करते
> अन्तर में ज्योति जगाते हैं
> उन तारों को जग क्या जाने
> क्या पहचाने, क्या सन्माने
> ऐसे ही एक सितारे से
> पल को मैंने नाता जोड़ा !............ (प्रणय पत्रिका)

नया सौन्दर्यबोध प्रत्येक तारे को इस जग से सम्बन्धित समझता है। उसका परिचय यदि जग की अनुभूति के साथ सम्बद्ध नहीं है तो शायद वह अपूर्ण है या उसका अस्तित्व भी सारहीन हो। गीत, छन्द, गति और शायद राग—सब कुछ होते हुए भी यह गीत जिस भावबोध से उपजा है उस में पीड़ा या आत्मवेदना का वह उभार व्यक्त नहीं हो पाया है जो शायद कवि का मन्तव्य है। ऐसी स्थिति का एक मात्र कारण सौन्दर्यबोध की वह दृष्टि है जो जीवन के यथार्थ और उसकी मानवीय गहराई के बिना प्राणहीन है। इसी स्थिति का बोध भिन्न रूप में नयी कविता के सौन्दर्यबोध के साथ इस प्रकार है —

> मैं उठूं मन-अतल मथ
> सौन्दर्य के स्वर्गिक गगन तक
> नभ झुके बन शान्ति
> मेरे प्यास की प्रलयी तहों तक। (नयी कविता—३)

'अनाम' की इस कविता में नये सौन्दर्य-बोध और उसके साथ नये यथार्थ की सशक्त सापेक्षता दोनों ही व्यक्त हुए हैं। भावनाओं का उत्थान सौन्दर्य के स्वर्गीय गगन तक उतना ही सत्य है जितना 'नभ झुके बन शान्ति'! उन्मुक्त साहचर्य और भोग (participation) में यह तथ्य ऐसा नहीं है जो इस घोषणा से प्रस्तुत हो कि "उन तारों को जग क्या जाने क्या पहचाने क्या सन्माने!" नये सौन्दर्य-बोध का तादात्म्य और सम्यकात्मक स्थिति मात्र अभिव्यक्ति नहीं है। उसके साथ अनुभूति का भी गहरा सम्बन्ध है। मात्र जिज्ञासा नहीं है, आत्म-प्रतिष्ठा का दृढ़ स्वर भी है।

आत्मनिष्ठा का भाव और उसके प्रति जागरूकता नये भावबोध एवम् सौन्दर्य के उस बाह्य और आन्तरिक सत्य की साक्षी देती है जो छायावाद में सम्भव नहीं हो पाया था। यथार्थ के इन दोनों पक्षों की स्वीकृति नयी कविता के विभिन्न स्तरों की प्रेरणा है। जीवन की शक्ति और उसकी सम्भावनाओं को सम्पूर्ण रूप में स्वीकार कर लेने के बाद सौन्दर्य का रूप भी व्यापक और जीवन के निकट की वास्तविकता के क्षेत्र में आ जाता है। छायावाद ने सौन्दर्य को बाह्य रूप में स्वीकार करके उसे जीवन की परिधि से मुक्त कर दिया था। जो छायावाद के सौन्दर्य-बोध की अन्तिम सीमाएँ थीं उन्हें आत्मनिष्ठा और जीवन की सापेक्षता ने सहज ही तोड़ डाला। वह रहस्य भी इसीलिए काफी तह तक केवल एक कोहरा ही बना रहा। इसके आगे न तो वह टिक पाया और न उसमें टिकने की क्षमता ही शेष बची। नये सौन्दर्य-बोध के जीवन की उपलब्धियाँ भी 'पलभर के नाते' की सीमा में कुण्ठित होकर नहीं रह गयीं वरन् उन्होंने उस क्षण को जीवन और यथार्थ के अन्तराल में जन्म दिया और दोनों के साक्ष्य को स्वीकार किया। उस अन्तराल में सौन्दर्य-बोध की वे कुण्ठाएँ जो अभी तक यथार्थ, ज्ञान, विवेक और वैज्ञानिकता का विरोध करती थीं, स्वयम् इसके संसर्ग में परिमार्जित और विकसित हुईं। यथार्थ ने सौन्दर्य को छूकर यदि कहीं उसपर अपनी कटुता और तिक्तता की छाप दी है तो उसके साथ ही उसने सौन्दर्य की सीमाओं को विस्तृत भी किया है। कई प्रतीकों और बिम्बों को नये स्तर प्रदान किये हैं। सौन्दर्य का वह ज्ञान जो अभी केवल कोमल वाणी, कोमल पदावली और कोमल भाव-भंगिमा तक सीमित था जब जीवन और जीवन से सम्बद्ध यथार्थ का साक्षात्कार करने को बढ़ा तो वह ठण्डे आईसबर्ग की रजताभा बनकर ही सीमित नहीं रह सका वरन् उसे उस पसीने और श्लथ श्रम का भी बोध हुआ जो यथार्थ के सन्दर्भ में प्रतिपल विकसित हो रहा था। इस नये, अमिनिष्ठ, विवेकगत सौन्दर्य-बोध से ही प्रेरित

होकर भारती ने शायद उस आस्था को कुरेदने की चेष्टा की है, जिसकी जिज्ञासा है ।

सुनते हैं तुम किसी अवतार में कछुए थे
अपनी उस वज्रोपम पीठ पर
लेकिन उपयोग क्या किया था
सुकोमल मर्म स्थल का....?
उससे क्या नीचे उतर
थाहा था अनस्तित्व का सागर
पतनोन्मुख होकर ?
दिग्भ्रम,
भटकन,
सीलन
कीचड़ काई
पाप उबकाई के
स्तर छुए थे...?
याद करो
अब तुम भी कछुए थे
धरती उठायी थी
सबका बोझा
अपने पर लेने की ताकत कहाँ पायी थी...?

(नयी कविता—३)

जहाँ तक आज के नये सौन्दर्यबोध का प्रश्न है शायद उसके अधिकांश अध्याय इस कविता में निहित हैं । सौन्दर्य, सृजन, आस्था, विश्वास, इन सबके अन्तर में जो यथार्थ है, जो सत्य है, जो शक्ति है शायद वह कहीं इस दिग्भ्रम की सौगन्ध है, भटकन का अन्वेषण है, अन्तस्तल की सीलन है जो कीचड़, काई, पाप, उबकाई—सबके स्तर को छूने के बाद समस्त पृथ्वी के यथार्थ को अपनी पीठ पर धारण करके उस सौन्दर्य की कल्पना करता है, उसका निर्माण करता है जो मन्थन के बाद प्राप्त होता है । सौन्दर्य का यह साक्षात्कार उस यथार्थ से ही विकसित हुआ है जिसमें जीवन की व्यापकता के साथ-साथ 'पीड़ा' और आत्मवेदना की सहनशक्ति है । नयी कविता का सौन्दर्यबोध सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य म जो कीचड़ या काई है उसके प्रति मुंह बिचकाकर पलायन नहीं करता । उसके साथ विकृतिवादी सामंजस्य ही नहीं स्थापित करता वरन् उसे सौन्दर्य की सापेक्षता में प्रस्तुत करके विवेक और वैज्ञानिकता से परिशोधित करता है । आज की

स्थिति में, नये भावबोध के सन्दर्भ में, नयी दृष्टियों के विकास में बार-बार जिस प्रश्न की ध्वनि गूंजती है वह यही है–" उपयोग क्या किया था सकोमल मर्मस्थल का ? उससे क्या नीचे उतर थाहा था अनस्तित्व का सागर पतनोन्मुख होकर ?" शायद प्रत्येक सौन्दर्य के संदर्भ में घायल पीठ और सबका बोझ वहन करने की सहृदयता में दोनों की आत्मवेदना ही तीव्र होती है । क्योंकि यथार्थ के साथ पलायन की निष्क्रियता नहीं, उसकी स्वीकृति ही महत्त्वपूर्ण है । जिस कला-अभिरुचि में जीवन के पंकिल और असुन्दर को सहन करने की क्षमता है उसे उसकी सार्थकता देने का सम्बल है, वही सुधा का निर्माण कर सकता है, सुन्दर का भोग (participate) कर सकता है, उसके आयामों को नये तराश दे सकता है । जिसमें यथार्थ के इस पक्ष को वहन करने की शक्ति नहीं है वह केवल कागजी सौन्दर्य के निर्माण का प्रदर्शन करता है, जल की फेनिल लहरियों को ही सत्य मानता है । आज का जीवन यथार्थ से जितना ओतप्रोत है, श्रम, स्वेद और रक्त से जितना बोझिल है उतना ही यह उस सत्य के निकट है जो मात्र अभिव्यक्ति नहीं है वरन् अनुभूति की गहराइयों से परिचालित है । और यह अनुभूति सौन्दर्य की सापेक्षता में की इस काई को सारपूर्ण मानते हुए भी अपने सौन्दर्यबोध के परिप्रेक्ष्य में वस्तु सत्य तो मानती ही है ।

नयी कविता का यह कठोर किन्तु मानवीय सत्य बहुधा सौन्दर्यवादियों की अनुभूति को चौंका देता है । प्रगतिवादी इस कठोर सत्य द्वारा करुणा की नकाब गढ़ता है । सौन्दर्यवादी इसे घृणित मानकर त्याज्य समझता है । अति-वादी–विशेषकर नकेतनवादी––उसे चमत्कार एवम् रस लेने वाली वस्तु मानता है । छायावादी उसकी ओर देखना अखण्ड और अनन्त सौन्दर्य राशि को विकृत करना अनुभव करता है; किन्तु नयी कविता का काव्यबोध एवम् उसका सौन्दर्य उसको औचित्य प्रदान करता है । नयी अभिरुचि मानव यथार्थ को उतनी ही सबल मानती है जितना कि सौन्दर्य को जीवन से सम्बद्ध समझकर उसको ग्रहण करती है । कैशोर्य उसकी उपलब्धि नहीं है, चमत्कार उसका श्रेय नहीं है, उसकी अभिरुचि नहीं है, अखण्ड––अनन्त उसके लिए शब्दाडम्बर है । इसी-लिए वह अपनी सौन्दर्यानुभूति में एकांगी एवम् कुण्ठाओं से ओतप्रोत होकर वर्ज-नाओं को नहीं स्वीकार करती । श्रद्धा, विश्वास, आस्था, उसकी आत्म-निष्ठा के पूरक हैं और इसीलिए वे मात्र शब्द नहीं हैं जिनको सुनकर रोमांच हो जाये या जो आत्मविभोर कर दें, वरन् ये शब्द उसके सौन्दर्यबोध के साथ जीवन के क्षणों में व्याप्त होते हैं, तपी हुई संघर्षमय आग में तपते हैं, और नये रूप में प्रस्तुत होते हैं । नये सौन्दर्यबोध की यह तपन, यह तत्त्वों द्वारा

जीवन की सापेक्षता में क्षण प्रतिक्षण जीवन्त परिशोधन एक नये स्तर पर मानव अनुभूतियों को विकसित करता है और यह स्तर है मानवीय सन्दर्भ का, जीवन के पुंस्त्व का, सौन्दर्य के जीवन्त तत्त्वों का, आत्मविवेक और आत्मनिष्ठा का जो शायद छायावाद के आडम्बरमय उदात्त के पीछे सारी मानवीय सम्वेदनाओं के अभाव में बार-बार अनुभव करती है कि—

बन नहीं सका मैं ख़ुद ही अपना उदाहरण
इसलिए कि ताज़ा कर पाऊँ शायद उसको
पड़ते हैं जैसे फूल चमेली के बासी
निर्गन्ध हुआ जाता है मेरा वर्तमान,
इसलिए कि मेरा रूप बड़ा कुछ हो जाये
बढ़ते बढ़ते मैं हुआ जा रहा था छोटा..

(दूसरा सप्तक——रघुवीर सहाय)

रघुवीर सहाय की इस कविता में नयी सम्वेदना का बड़ा जटिल और मर्म-स्पर्शी सत्य व्यक्त हुआ है। छायावाद की आडम्बर-युक्त मानवीय अभिव्यक्ति और आदर्शवाद की टूटी आस्था ने आधुनिक मानव चेतना से उसकी समस्त समग्रता ही छीन ली थी। नया सौन्दर्यबोध इसीलिए मानव अनुभूति को यथार्थ और मानवीय धरातल पर लाने का प्रयास है। नया सौन्दर्य-बोध अपनी कल्पना में और अपनी अभिव्यक्ति में मनुष्य के 'छोटेपन' को आदर्शवादी या छायावादी की तरह अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखता। वह जीवन को उसके परिवेश से पृथक् भी नहीं करता। वस्तुतः नया सौन्दर्यबोध उस बड़े होने की सम्भावना का विरोध करता है जिसमें मनुष्य स्वयम् अपने को छोटा अनुभव करने लगे। नयी कविता का यह स्वर बार-बार छोटेपन के यथार्थ को स्वीकार करने में अपमानित नहीं अनुभव करता। वस्तुतः नयी कविता का 'सौन्दर्यबोध' छोटे परिवेशों में छोटे आदमी की मानवीय सम्वेदना को स्वीकार करता है और साथ ही उस दृष्टि के प्रति उसका निजी विद्रोह भी है जिसमें "इसलिए कि मेरा रूप बड़ा कुछ हो जाये" के प्रयास में सहसा यह अनुभव होने लगे कि 'निर्गन्ध हुआ जाता है वर्तमान.... इसलिए कि मेरा रूप बड़ा कुछ हो जाये; बढ़ते बढ़ते मैं हुआ जा रहा हूँ छोटा!' शायद इसीलिए उस सन्दर्भ के साथ टूटने का स्वर भवानीप्रसाद मिश्र की कविता में सशक्त विद्रोह बनकर उभरा है—

फूल श्लथ-बन्धन हुआ, पीला पड़ा, टपका कि टूटा
तीर चढ़कर चाप पर, सीधा हुआ खिंचकर कि छूटा
ये किसी नियमित नियम, क्रम की सरासर सीढ़ियाँ हैं

पाँव रखकर बढ़ रहीं जिसपर कि अपनी पीढ़ियाँ हैं
बिना सीढ़ी के बढ़ेंगे
इसलिए इन सीढ़ियों के फूटने का सुख
टूटने का सुख ।

(दूसरा सप्तक—भवानीप्रसाद मिश्र)

आज का विकसित होता हुआ सौन्दर्यबोध आज के लघु मानव की लघुता को स्वीकार कर उसके सन्दर्भ में नये मूल्यों के विकसित होने की प्रेरणा देता है । जब कभी भी इस बात पर बल दिया जाता है तो बहुधा परम्परावादी कई प्रकार से चौंकता है किन्तु वह शायद भूल जाता है कि नयी कविता का यह सौन्दर्यबोध और इसका परिवेश इसलिए कथनीय है कि यह मानवीय होने के साथ मानवीय सीमाओं को यथार्थ रूप में वहन करने में संकोच नहीं करता ।

इसके विपरीत जो भावबोध छायावाद के पतनोन्मुख काल में विकसित हुआ था उसके सौन्दर्य की दृष्टि और बोध के माध्यम दोनों उस उदात्त के प्रति मोह की भावना रखते थे । पूरे छायावादी सौन्दर्य बोध का सन्दर्भ चार स्थितियों का बोध कराता है ।—

● सर्वप्रथम तो यह कि समस्त छायावाद में सौन्दर्य को आत्मसात् करने की चेष्टा कम मिलती है । आत्मसात् करने की अपेक्षा सौन्दर्य से विकलांग आतंकमय स्थिति का परिचय अधिक मिलता है । उसी आतंक से द्रवित वह पीड़ा और वेदना है जो छायावादी शिशुवत् भावना को संत्रस्त करके आँसुओं का संसार निर्मित करती है । उसकी अभिभूत सम्वेदना सौन्दर्य की सम्पूर्ण स्थिति को पीड़ामय मानकर यह घोषणा करती है—

वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड में
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में,
तारकों में , व्योम में है वेदना
वेदना ! कितना विशद यह रूप है
यह अँधेरे हृदय की दीपक शिखा

— पन्त (ग्रन्थि)

पन्त से लेकर बच्चन के सौन्दर्यबोध तक में यही भावना मिलती है । यद्यपि बच्चन के काव्य में सौन्दर्य को वहन करने और उसका साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है फिर भी उनकी दृष्टि इस पीड़ानुभूति से मुक्त नहीं हो पायी है । बच्चन का समस्त विद्रोह छिछले रोमान्स में द्रवित होने के बावजूद यह अनुभव करता है कि—

प्रभंजन, मेघ, दामिनि ने
न क्या तोड़ा न क्या फोड़ा
धरा के और नभ के बीच
कुछ साबित नहीं छोड़ा।

(सतरंगिनी)

ऐसा लगता है कि छायावाद समस्त सौन्दर्य को केवल विकलांग बनाने की क्षमता रखने वाला, पीड़ा की और वेदना की स्थितियों को जन्म देने वाला, ही मानता है। उस वेदनानुभूति के साथ यदि मानवीय सम्वेदना होती, यथार्थ का आग्रह होता और साथ ही उसके समस्त आयामों को बौद्धिक आधार मिल पाता तो शायद वह ठहराव न उत्पन्न होता जो समस्त छायावाद को केवल एक ऐतिहासिक सत्य का रूप देकर समाप्त हो गया है।

● दूसरी स्थिति में छायावादी सौन्दर्यबोध जीवन के खण्ड अस्तित्व को अखण्ड सौन्दर्य का अंश मानते हुए भी कोई ऐसी दृष्टि नहीं विकसित कर सका जिससे जीवन और अखण्ड सौन्दर्य की कोई सम्पर्कात्मक या सापेक्ष स्थिति स्थापित हो पाती। छायावाद की सौन्दर्यानुभूति में जीवन और सौन्दर्य दोनों दो विभिन्न वृत्त हैं जो किसी रहस्यवादी प्रेरणा से एक-दूसरे के निकट आते हैं किन्तु न तो उस बोध के माध्यम से प्रस्तुत जीवन में यह शक्ति है कि उसका साक्षात्कार कर सके और न उस सौन्दर्य में यह प्रेषणीयता है कि वह अपने को जीवन के निकट प्रस्तुत कर सके। अपूर्ण जीवन से पृथक् पूर्ण सौन्दर्य की सत्ता छायावाद और रहस्यवाद का ऐसा जाल है जिसमें आग्रह कुछ नहीं है केवल परिस्थितियों की निष्क्रियता का समर्थन मात्र है।

● तीसरी स्थिति में छायावाद की शिशुवत् जिज्ञासा में अनभिज्ञता अधिक है बौद्धिकता कम। सौन्दर्य का साहचर्य बिना बौद्धिक बोध के होना असम्भव है। जब तक सौन्दर्य की सम्पूर्णता को बौद्धिक दृष्टि नहीं मिलती तब तक उसका भोग (participation) या साहचर्य नहीं हो पाता। छायावाद में इन दोनों का अभाव है। फलस्वरूप छायावाद केवल भावनात्मक (sentimental) काव्य बनकर रह गया और इस सीमा से अधिक उसका विस्तार नहीं हो पाया। छायावाद की समस्त करुणा, उसकी समस्त श्रद्धा, उसकी समस्त वेदना, बर्फ जैसी ठण्डी है, जमी हुई है, गतिशून्य है और इसलिए वह कहीं-कहीं अनर्गल भी है।

● चौथी स्थिति में, समस्त छायावादी सौन्दर्यबोध में अस्तित्व के प्रति ईमानदारी नहीं है। चूंकि पूरी मन:स्थिति ही जीवन को और सौन्दर्य को पृथक्-पृथक् रूप में मानती है इसलिए उसमें जीवन से पलायन करने की तीव्र

व्यंजना बार-बार उभर कर आती है। कभी-कभी उसी पलायनवादी स्थिति का अनुमान केवल सौन्दर्यवादी रूप में भी प्रकट होकर व्यक्त हुआ है।

अकेले सुन्दरता कल्याणि
सकल ऐश्वर्यों की संधान। (पन्त)

'अकेले सुन्दरता' की अभिव्यक्ति में यह भास स्पष्ट रूप से मिलता है कि छायावाद का सौन्दर्यबोध जिस निरपेक्ष सौन्दर्य की कल्पना में आत्मविभोर होता है उसमें जीवन के अतिवादी अभिभूत क्षण स्थल-स्थल पर भले ही मिल जायें, उसमें प्रवाह, गति और जीवन नहीं ही मिलेगा। यही कारण है कि उसकी परिणति शब्दमोह, रागात्मक विश्रृंखलता, अनुभूतिगत विकृति और अर्धमुक्त मनोग्रन्थियों तक ही सीमित रही! उनको सौन्दर्य मात्र 'चिर-परिचित में भी नवीन' की परिधि तक ले जा सका। वह यह नहीं आँक पाया कि इस चिरपरिचित की नवीनता केवल भावावेश है और कोरी भावात्मकता से सौन्दर्य का बोध नहीं विकसित होता वरन् विकसित होती है प्राणहीनता जिसमें स्थिरता जड़-सी प्रतीत होती है और यह जड़ता गति को ठहराव प्रदान करती है। चिरपरिचित में व्याप्त यह ठहराव चाहे जितना नवीन हो, सौन्दर्य की गति शक्ति (dynamic) प्रकृति के विरुद्ध है। यह नवीनता यदि परिप्रेक्ष्य की होती तो शायद छायावाद का सौन्दर्यबोध उन सभी दिग्भ्रमों से बच सकता जो अन्त में जाकर पतनोन्मुख शैली में विकसित हुए।

महादेवी वर्मा शायद इसी आधार पर यह मानती हैं कि "संसार में प्रत्येक सुन्दर वस्तु उस सीमा तक सुन्दर है जिस सीमा तक वह जीवन के साथ सामंजस्य बनाये हुए है।" सामंजस्य का अर्थ यदि समन्वय है तो निश्चय ही यह समन्वय नीरसता (monotony) का परिचय देता है। महादेवी वर्मा जिस सामंजस्य को सौन्दर्य का अंग मानती हैं उसमें जीवन की निष्क्रियता की स्वीकृति है क्योंकि सौन्दर्य को सामंजस्य के लिए सन्देश देती है और जीवन की असमर्थता स्वीकार करती है। जिस सामंजस्य का परिचय हमें छायावादी काव्य में मिलता है उसमें समझौते का अर्थ अधिक है; जीवन की सक्रियता का कम। सामंजस्य सापेक्ष नहीं है इसीलिए वह सापेक्ष की क्रियाशीलता और स्थितियों का गतिबोध नहीं प्राप्त कर पाता। सापेक्ष बोध जीवन को महत्त्व तो देता ही है वह सौन्दर्य को भी मर्यादित करता है। सामंजस्य की तथाकथित सीमा में जीवन भी टूटता है और सौन्दर्य भी टूटता है। ऐसा सामंजस्य भी क्या जिसमें न तो जीवन को सार्थकता मिल पाये और न सौन्दर्य जीवन की सापेक्षता में अपना मूल्य ही व्यक्त कर सके। जीवन से परे सौन्दर्य गतिहीन हो जाता है। सामंजस्य में गतिहीनता लक्ष्य बन जाती है। सापेक्षता में

गतिशीलता वाहित होती है । सामंजस्य अपने में कोई मूल्य नहीं प्रेषित करता में चलकर अखण्ड इसीलिए उसका चरम रहस्य-दृष्टि में होता है—ऐसी रहस्य-दृष्टि जो "खण्ड रूपों में चलकर अखण्ड और अरूप चेतन तक पहुँचता है"; और उसकी सतत प्रेरणा केवल इस बात के लिए मजबूर होती है कि वह "अपनी व्यक्त अपूर्णता को अव्यक्त पूर्णता में मिटा देने की इच्छा से" पूर्ण आत्मदान कर दे ।

इस स्थल पर यह कह देना उचित होगा कि छायावाद जिस सौन्दर्य को खण्ड से पृथक अखण्ड का नाम देता है वह सौन्दर्य नयी कविता का नहीं है । नयी कविता और उसका सौन्दर्यबोध जीवन की गति में सौन्दर्य की उपलब्धि करता है वह निष्क्रिय जीवन को निष्क्रिय सौन्दर्य से बाँधने के बजाय गतिशील जीवन में प्राप्त गतिशील सौन्दर्य को उस अखण्ड सौन्दर्य से अधिक क्रियाशील मानता है जो अपने आश्रित खण्ड को सदैव हीनता का बोध देकर स्वयम् अपनी निरपेक्षता के दम्भ में पलता है ।

और इस प्रकार छायावाद का वह सौन्दर्य जो चिरपरिचित में भी नवीन है, जो जीवन में सामंजस्य की प्ररणा से उद्भूत है, जो अखण्ड की मरीचिका में केवल तृष्णा-तृप्ति का स्वप्न देखता है, वह अन्त में उस मरीचिका के असत्य के सामने आत्म-समर्पण करके तुष्टि पाता है । सौन्दर्य के प्रति शिशुवत् जिज्ञासा इसलिए पलायन की स्थिति पैदा करती है और तब यह पलायन, यह बाह्य दृष्टि, यह शिशुवत् जिज्ञासा, यह रहस्य, यह यथार्थ की अवहेलना, यह सब का सब उसे केवल ऐसा पीड़ामय संसार प्रदान करता है जिसमें सौन्दर्य का एनीमिक रूप जीवन को वर्तमान से अतृप्त रखता है, शायद इन्हीं किन्हीं परिस्थितियों में रहस्यवादी महादेवी वर्मा को यह अनुभव होता है कि—

पहुँच न पातीं जग की आँखें
राह न पातीं मन की पाँखें
जीवन के उस ओर स्वप्न शिशु पल में पहुँचाता है ।
बिना पथ ले जाता है । **(दीपशिखा)**

यही नहीं, यह शिशुवत् स्वप्न, यह असमर्थता का बोध, यह जीवन से उस ओर का पलायन, समस्त बोध को विकृत एवम् पंगु बनाकर ऐसा भाव उत्पन्न करता है जिसमें सम्पूर्ण अनुभूति में विरोधाभास की स्थिति एक चमत्कार मात्र रह जाती है । महादेवी वर्मा की इन पंक्तियों में ऐसी ही स्थिति है जो बार-बार यह कहती है कि—

नयनों ने उर को कब देखा
हृदय ने जाना दृग का लेखा

आग एक में और दूसरा सागर ढुलकाता है
घुला यह, वह निखरा जाता है ।

दृष्टि और हृदय की यही असमानता छायावाद को मानवीय यथार्थ से बराबर पलायन कराती है । यदि महादेवी वर्मा का सौन्दर्यबोध एक सीमा पर इतना शिशुवत् है तो पन्त का सौन्दर्यबोध 'स्वर्ण धूलि' में एक दूसरे प्रकार का स्वप्न बुनता है । 'युगपुरुष' का अवतार ठीक उस स्वप्न का बोध कराता है जिसमें पिटे हुए स्कूली लड़के किसी ऐसे नेता का अनुमान करते हैं जो आयेगा और सारे विरोधियों को ठीक ठिकाने लगा देगा । लेकिन मानवता पिटे हुए स्कूली लड़के की भाँति दिवास्वप्न के जाल नहीं बुनती । आज तो मानवता शायद किसी भी ऐसे युग-पुरुष में विश्वास नहीं रखती जो कोरे दैविक इल्हाम लेकर अवतरित हो और सारी मानवीय चेतना को इतना संत्रस्त कर दे कि सबकी सिट्टी-पिट्टी भूल जाये । यह तगड़ा युग-पुरुष इसी-लिए छायावादी कवि की स्वप्न-सिद्धि बन सका क्योंकि उसकी शिशुवत जिज्ञासा में अपनी अनुभूति कोई नहीं थी । वह तो चमत्कार का पोषक था । उसे चमत्कार मिलना चाहिये, यदि प्रकृति नहीं देती, पीड़ा नहीं देती, वेदना देती तो उसे मजबूर होकर एक स्वप्न निर्मित चमत्कारिक पुरुष की आवश्यकता पड़ी—चाहे वह अरविन्द-दर्शन में डूबा युग-पुरुष हो या किसी फासिस्ट या कम्युनिस्ट अस्त्रों से सुसज्जित अधिनायक । और तब वह युग-पुरुष आयेगा जो सारी सद्भावना शान्त कर देगा—

दैवी वीणा पुनः मानुषी वीणा बन नव स्वर में झंकृत
आत्मा फिर से नव्य युग पुरुष को निज तप से करती सर्जित ।

पता नहीं यह दैवी वीणा पुनः कितनी बार मानुषी वीणा बन कर झंकृत हुई, किन्तु वह उस लघु मानव की वेदना को सदैव ग्रहण करने में असमर्थ सिद्ध हुई जिसका जीवन यथार्थ के साथ संघर्ष करने में समाप्त होता है और इन बड़े-बड़े शब्दों के सामने अपनी यथार्थ अनुभूतियों की अवहेलना करता आया है । वास्तव में इन युग-पुरुषों की फसल में सब कुछ होता है, केवल विवेक और यथार्थ का बोध होते हुए भी उसकी अभिरुचि नहीं होती । आज के मनुष्य के लिए पंत का युग-पुरुष उतना ही निरर्थक सिद्ध होगा जितना कि कोई नया मसीहा । आज के जीवन में मनुष्य की अनुभूति न तो किसी मसीहा की लाश ढोने में विश्वास करती है और न किसी युग-पुरुष के आडम्बर में उसकी आस्था है । आज उसके भावबोध को और सौन्दर्य-बोध को चाहिये एक चेतनापूर्ण विवेक (conscious reason) और एक चेतनापूर्ण मन्तव्य (conscious purpose)। इसी चेतनापूर्ण विवेक के माध्यम

से और चेतनापूर्ण मन्तव्य के माध्यम से वह उन नये मूल्यों को खोज निकालेगा, उस सत्य पक्ष का अन्वेषण कर लेगा। मनुष्य को आज उसका स्वाभिमान मिलना चाहिये, उसे उसका यथार्थ मिलना चाहिये, उसे उसकी वह मिट्टी मिलनी चाहिये जो ईश्वर से भिन्न है, मसीहा से भिन्न है और भिन्न है उन समस्त रहस्यवादी तथ्यों और युग-पुरुषों से जो शिशुवत् जिज्ञासा में पनपते हैं और भावी सम्भावनाओं को कुचल कर आगे बढ़ जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं।

नयी कविता का सौन्दर्यबोध इस मानव* विशिष्टता पर आधारित है। अपने इस भावपक्ष को अभिव्यक्ति देने में संकोच नहीं है। आज उन ईश्वरों के ऊपर या युग-पुरुषों के ऊपर अपना सम्पूर्ण दायित्व डालकर खामोश नहीं बैठा जा सकता है। मानवी सम्वेदनाओं में विकसित होती हुई उसकी आत्मसम्मान की भावना, उसका अहम्, उसकी आशा और उसका विश्वास देवता या युग-पुरुष नहीं हो सकते जो जन्मते हैं मसीहा बनने के लिए या जो अवतरित होते हैं युग-पुरुष के रूप में और मरते हैं उपदेश के विरोधाभास में। आज का कवि इस झूठे मुखौटे को भली भांति पहचानता है, वह यह भी जानता है कि इस चमत्कार के पीछे कितना गलित अंश ऐसा है जो केवल सज्जा के लिए है; केवल एक प्रदर्शन के लिए है। इसलिए यदि आज का सौन्दर्यबोध, आज की विवशता, आज की भूख, आज की मृत्यु, आज के जीवन के बिना किसी युग-पुरुष के दिवास्वप्न में विकसित होगा तो वह फिर इतिहास को दुहरायेगा क्योंकि आज की दुनिया में उस दैविक सत्य का जर्जर ढांचा नहीं चल सकता जो समस्त करुणा को केवल सजाने की वस्तु मानता है, सारे सत्य को केवल कोहरे की चादर में ढँककर शान्त होना चाहता है। आज का व्यंग्य तो यह है कि—

आज की दुनिया में
विवशता,
भूख,
मृत्यु,
सब सजाने के बाद ही
पहचानी जा सकती है।
बिना आकर्षण के
दूकानें टूट जाती हैं

---

*The enjoyment of beauty and interest, the achievement of goodness and efficiency, the enhancement of life and variety, these are the harvest which our human uniqueness should be called upon to yield.

—JULIAN HUXLEY

शायद कल उनकी समाधियाँ नहीं बनेंगी
जो मरने के पूर्व
कफन और फूलों का
प्रबन्ध नहीं कर लेंगे..
ओछी नहीं है दुनिया
मैं फिर कहता हूँ
महज़ उसका
सौन्दर्यबोध बढ़ गया है । (सर्वेश्वरदयाल)

और यह भी सत्य है कि आज की दुनिया में ऐसे मसीहा हैं जो केवल दिग्भ्रम फैलाना चाहते हैं, जो विवशता, भूख, मृत्यु को सजा चुकने के बाद ही पहचानते हैं । अभी यह सत्य उनके सजाने की वस्तु नहीं बन सका है या बना भी है तो वह उसको पहचान नहीं पा रहे हैं या पहचानकर भी पहचानना नहीं चाहते हैं क्योंकि उन्हें अभी शिक्षा देनी है । अब भी वह मानव-अनुभूति को भग्न अवशेषों का संस्कार देना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं किन्तु शायद वे यह नहीं जानते कि आज का भावबोध जिस विद्रूपता को व्यंग्य रूप में स्वीकार कर रहा है वही भावबोध सौन्दर्य के नये आयामों को भी पैदा कर रहा है जिस में इन छोटे मसीहों की आवाज़ की अपेक्षा ' लघु मानव ' की आवाज़ उभर रही है ।

'धर्मयुग' के दीपावली अंक १९५६ में 'नूतन काव्यशास्त्र' के नाम से एक मसीहा का उपदेश निकला है जिसके वाग्जाल में वह सभी छायावादी भ्रान्तियाँ हैं जो अखण्ड सौन्दर्य को शिशुवत्—चाहें तो उसे किशोर भी कह लें—भाव से देखता है । जो सौन्दर्य को जीवन से पृथक् मानता है, जो मनोरंजन को तो गाली देता है किन्तु साथ ही यह भी कहता है कि " ज्ञान ने मनुष्य को बूढ़ा कर दिया । इस बूढ़े मनुष्य को फिर से किशोर बना ।" इस छायावादी शिशु-जिज्ञासा का मोह मसीहा को यह कहलाने के लिए बाध्य करता है कि " जो ज्ञान को पाकर और उसे फेंककर हल्का हो गया है वह व्यक्ति है जो फिर से बचपन में लौट गया है.." इससे भी सन्तोष नहीं हुआ तो मसीहा ने कहा, " कला और धर्म दोनों भाई-बहन हैं " और फिर मसीहा यह भी कहता है कि इस भाई-बहन के साथ शैशव को साथ लिए चलना..यह कवि की बहुत बड़ी शक्ति है ।" कविता की परिभाषा भी मसीहा ने दे डाली है । एक नहीं अनेक परिभाषाएँ हैं—"एकोहम् बहुस्याम्" के दर्शनानुकूल कविता का रूप क्या-क्या बनाया गया है इसी से इस युग के सौन्दर्य-बोध का भी पता चल जायेगा..

● "कविता वह सुरंग है जिस के भीतर से मनुष्य एक विश्व को छोड़कर दूसरे विश्व में प्रवेश करता है"—(पलायन करता है ?)

● "कविता प्रकाश और अन्धकार की सन्धिरेखा है"— (क्या कविता छायावादी कुहासा है ?)

● "कविता में हम बराबर इस लोक से मुक्त होकर परियों या देवताओं के लोक में जन्म लेते हैं !" (अर्थात् कविता वह दिवास्वप्न है जो परियों और देवताओं को समान रूप से जन्म देता है ! उसका सम्बन्ध मनुष्य से कुछ नहीं है !)

● "कविता गाकर रिझाने के लिए नहीं, समझकर खो जाने के लिए है !" (अर्थात् कविता को समझने की कोशिश मत करो नहीं तो खो जाओगे और खो जाना बड़े मूल्य का है !)

● "कविता की रचना स्मृतियों को उधेड़कर अपने आप को देखने के लिए है ।" (मसीहा...उन पड़ोसियों को भी न देखूं जो आज महाप्रभु बनेहैं ?)

● "कविता पौधा भी है और खाद भी........."

(खादवाली कविता योजनाओं में दो-पौध बढ़ेगी ।)

छायावादी बौद्धिकता के स्तर का इससे बढ़कर भ्रान्तिजनक नमूना नहीं मिल सकता । कविता का एक भी रूप स्थिर नहीं है । उसकी एक भी मर्यादा स्थापित नहीं है । उसका एक भी मूल्य मालूम नहीं है । फिर भी सारा ज्ञान, सारी दृष्टि, सारा बोध एक चमत्कार के माध्यम से उंड़ेल देने के अभिनय की विचित्रता से सराबोर है । वस्तुतः छायावाद और उसके बाद के युग में समस्त सौन्दर्यबोध को किसी भी मानवीय मूल्य से सम्बन्धित करना उस युग का कवि जानता ही नहीं था । इसलिए वह मसीहा बनकर बोलता भी है तो खोखली आवाज़ें ही व्यक्त होती हैं ।

ऐसे मसीहा बौद्धिकता से पलायन करते हैं, विवेक से पलायन करते हैं ; ज्ञान को अनुभूति की हत्या करने वाला समझते हैं, विज्ञान और वैज्ञानिकता को त्याज्य समझते हैं । इसलिए वे कविता को कभी सुरंग मानते हैं, कभी पौधा, कभी उसे खाद का सम्बोधन देते हैं, कभी उसे मात्र छन्दों के तोड़-मरोड़ तक सीमित करते हैं, कभी वे कविता को मात्र हृदय को झंकृत करनेवाला यज्ञ मानते हैं तो कभी परीलोक की यात्रा का यान और अन्त तक यह निर्णय नहीं कर पाते कि कविता के मूल तत्त्व क्या हैं, भावबोध का मर्म क्या है, सौन्दर्य का सन्दर्भ और आयाम क्या है, अनुभूति की गहराई क्या है, कविता का मानवीय मूल्यों से सम्बन्ध क्या है, इन मूल्यों में निहित मानव जिज्ञासा क्या है, जिज्ञासा की तृप्ति किस में है ? और इन सबसे परे यह कि सौन्दर्य मात्र अभिभूत करता है या वह थोड़े रागात्मक

बोध भी देता है; यदि देता है तो वह रागात्मक बोध जीवन की व्यापकता से, उसके यथार्थ से सम्बद्ध है कि नहीं ।

हिन्दी काव्य की समस्त पुरानी पीढ़ी कवि को साधारण मानव न मानकर उसे विशिष्ट मानव के रूप से पूजती आई है । उसका यह भी मत रहा है कि ज्ञान को भुलाकर या ज्ञान के बोझ को फेंककर, हल्का हो जाने के बाद ही कविता जन्म ले सकती है । दूसरे शब्दों में कवि की अज्ञानता ही उसे कवि बनाती है । यदि उसे ज्ञान है तो वह कवि नहीं हो सकता । इन सब तथ्यों का निचोड़ इसी में निहित होता है कि कवि को मात्र भावनात्मक (sentimental) होना ही पर्याप्त है । शायद वह कवि को उस केमिस्ट की स्थिति में लाकर रखना चाहते हैं जो थोड़ा-सा सोडा-बाय-कार्ब और थोड़ा-सा साल्टों का ज्ञान रखकर कुछ ऐसी दवा दे दे कि जिससे एक चुटकी दर्द, एक चुटकी खुमार, एक चुटकी तड़प और एक चुटकी उन्माद पैदा हो सके, थोड़ा हँसा जा सके और थोड़ा रोया जा सके और वाह-वाह करके कविता की पुस्तक बन्द कर दी जाये, कवि को भुला दिया जाये, उसकी अनुभूति को सतही रूप से छूकर समाप्त कर दिया जाये ।

आज के भावबोध* और सौन्दर्यबोध में शायद इतनी बड़ी गैर-जिम्मेदारी का भाव नहीं है । सबसे पहले तो नयी कविता यह मान कर अपने मूल्य स्थापित करती है कि कवि अनुभूति के स्तर पर विशेष भले ही हो किन्तु वह देवता नहीं है, वह साधारण मनुष्य है जो जीता है और जीने की इच्छा रखता है, जो ज्ञान को जीवन का अंश मानता है, विज्ञान को आधुनिकता की रीढ़ मानता है, वैज्ञानिक दृष्टि को बौद्धिक विकास एवम् अनुभूति की परिपक्वता के लिए आवश्यक समझता है, जो परीलोक की स्वप्न छाया में पलायन करने के बजाय अपने को, अपने आसपास के जीवन को, अपनी उपलब्धियों को और अपनी सीमाओं को समान रूप से देखता है, उनका साक्षात्कार करता है, उनकी सापेक्षता में विकसित होता है और उनके द्वारा प्रेषित सत्य को ग्रहण करता है । समस्त छायावादी आलोचना में कवि को एक मसीहा, एक रहस्य-ज्ञाता, एक प्रवचन-दाता के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की गयी है । वह बोलता है तो देववाणी, सोचता है तो देववाणी, अनुभव करता है तो उस स्तर से, अभिव्यक्ति देता है तो मसीहा की ऊंचाई

---

* And that age which is least able to rest, content with the beautiful things of the past, that create things of beautiful to its eyes most different, most revolutionary and most insurgent, is precisely that age which seems to us most in possession of beauty.

—CHRISTOPHER CAUDWELL

से—और तब यह सिद्ध हो जाता है कि हमारे पुरानी पीढ़ी के सभी कवि मात्र उस अहम् को जगाना ही श्रेयस्कर समझते हैं जो मसीहा हो, देवता हो, दैविक हो, रहस्यगर्भित हो—और मनुष्य न हो ।

'नूतन काव्य शास्त्र' का मसीहा भी इन्हीं प्रेरणाओं से ओतप्रोत है। वह बाईबल की भाषा में बोलना स्वाभिमानपूर्ण मानता है । इसीलिए वह मनुष्य की भाषा से वंचित रह जाता है । वह एक ऊंचाई लिये हमें सन्देश देता है, वह नीचे उतर कर मिट्टी पर पैर रखने की बात ही सोचकर घबरा जाता है । मिट्टी, या गर्द से, धूल से और उसकी गन्ध से परे रहना ही श्रेयस्कर समझता है । इसीलिए 'नूतन काव्य शास्त्र' का लेखक मसीहा ही बनकर रह गया है, उसके उन मार्मिक स्तरों को छूने का साहस ही नहीं हो पाया जो आज के जीवन का यथार्थ है, सम्पूर्ण मानवीय भावबोध का स्रोत है । शायद उसे आज की भाषा मालूम नहीं है, आज की सम्वेदना उसे छूती नहीं है—शायद वह यह भी नहीं जानता कि कभी एक मसीहा पैदा हुआ था जिसे फाँसी पर उन लोगों ने चढ़ाया था जो ज्ञान का बोझ फेंककर हल्के हो चुके थे या जो परियों के देश की कहानी के आगे कुछ भी जानना या समझना अपमान समझते थे......इससे भी अधिक वे उस भाषा में बात करते थे जो मानवीय नहीं थी । तबसे मनुष्य एक ही मसीहा पूजता है यद्यपि छोटे-छोटे मसीहों की फसल फ़ालस्टाफ़ से लेकर नीत्शे तक बराबर उगती रही किन्तु न तो फ़ालस्टाफ़ का दिया स्वप्न उसे मसीहा बना सका और न नीत्शे वह सुपरमॅन पैदा कर सका जो गोरख-धन्धों की आड़ में मनुष्य को भेड़-बकरियों की भांति हाँकता । तो फिर यह नूतन काव्य-शास्त्र क्या है ? शायद इससे बढ़कर संत्रस्त और छोटी-छोटी विचार-धाराओं का उल्लेख इतिहास में डूब गया है उससे कोई महत्त्वपूर्ण मात्राएँ नहीं नापी जा सकती हैं । सबसे बड़ा व्यंग्य तो यह है कि वे, जो ज्ञान और बुद्धि को त्याग कर हल्के हो चुके थे और तब जिन्होंने मसीहा को फाँसी के तख्ते पर लटकाने में संकोच नहीं किया था, आज स्वयम् मसीहा बन बैठे हैं ।

नयी कविता का सौन्दर्यबोध इस मसीहा का विरोध करना चाहता है, सौन्दर्य की दृष्टि को उस सीमा तक विकसित करना चाहता है जहाँ बिना मसीहों की पैगम्बरी के आदमी में अपना आत्मविश्वास जागृत हो सके । देवदूतों से अधिक विश्वास, बुद्धि, ज्ञान और विवेक में प्रस्तुत करना चाहता है ताकि आत्मउपलब्धि का बोध आत्म-भुक्त भावना से परिचलित हो और वह दिव्य दृष्टि जो मसीहा देता है उसकी चमत्कारिक* आभा उसके ज्ञान को कुण्ठित न कर सके । चमत्कारों

*The realization that magic is a false principle and that control is to be achieved by science and its application has removed the meaning from sacrificial ritual and petitionary prayer.

—JULIAN HUXLEY

को मनुष्य ने काफ़ी सहन किया है और उसके खोखलेपन से वह काफ़ी परिचित भी है। जीवन के संघर्षों ने उसे यह सिखाया है कि चमत्कार से कहीं अधिक विश्वास का पात्र विवेक और बुद्धि है क्योंकि इन दोनों में क्रियाशीलता है, साहचर्य और सहभोग की उपलब्धियाँ हैं। वह उपलब्धि भी क्या होगी जो केवल चमत्कार पैदा करके मनुष्य को मूर्च्छित कर दे। आज का युग बैप्टिज़्म का युग नहीं है क्योंकि इसकी परम्परा में वे भी आते हैं जो 'सुपरमैन' या 'युग-पुरुष' बनकर समस्त मानवीय चेतना और प्रतिभा को पीछे ढकेल कर केवल सूत्रों द्वारा पहले उसे अशिक्षित बनाते हैं; फिर उसकी समस्त चेतना को संत्रस्त (tyrannise) करके कुछ ऐसा कर जाते हैं जो नासूर बनकर रिसता है—चाहे वह धर्म हो, चाहे वह अन्ध-विश्वास हो, चा हे वह टोटेलेरियनिज़्म हो, चाहे फासिज्म हो। नया सौन्दर्यबोध मनुष्य को उसकी मानवीय आत्मा के रूप में ही स्वीकार करता है, इसीलिए वह उसकी दुर्बलताओं को भी उतना ही यथार्थ मानता है जितना उसकी शक्ति को। आज वह शिशु बनकर सौदर्य को चकाचौंध दृष्टि से देखना नहीं पसन्द करता। वह उसका साहचर्य अपने समस्त अधूरेपन के साथ करना चाहता है। विकास उसकी अपनी प्रक्रिया है। उसके लिए किसी दिव्य पुरुष या ख़ुदा के बेटे की आवश्यकता नहीं है।

'नूतन काव्य शास्त्र' द्वारा दी गयी काव्य की परिभाषाओं में वे सभी विकृतियाँ हैं जिन से पृथक् नयी कविता का सौन्दर्यबोध विकसित होता है। नया सौन्दर्यबोध परियों के लोक को उतना ही असत्य मानता है जितना कि उस जगत् के मिथ्या स्वप्न को। धर्म और तथाकथित प्रचलित सबसे बड़ा अभिशाप यह रहा है कि उसने सदैव मनुष्य को इस बात की प्रेरणा दी है कि यह संसार मिथ्या है, यह झूठ है, यह स्वप्न है, यह त्याज्य है। सत्य इस संसार से परे है पूर्णता दूसरे संसार में है। समस्याओं का हल इस संसार में नहीं है, दूसरे संसार में है; यहाँ तक कि उसने मनुष्य से उसका मनुष्यत्व छीनकर उसे पंगु बना दिया और उस पंगु मनुष्य को इस बात में सन्तोष मिलने लगा कि दूसरे संसार की उपलब्धि ही सर्वश्रेष्ठ है। अर्जित ज्ञान की तिलांजलि और बौद्धिक विकास के प्रति अश्रद्धा की भावना उत्पन्न करना ये दोनों मनुष्य को मनुष्यत्व से वंचित कराता है। मूर्खों से सौन्दर्य का बोध नहीं सँभाला जा सकता। भुलक्कड़ों द्वारा सौन्दर्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। सौन्दर्य एक गतिशील वस्तु है (dynamic), वह जड़ नहीं है (static), उसकी गतिशीलता प्रत्येक क्षण अपनी सापेक्षता ग्रहण करती है। जब तक उस सापेक्षिता को उतनी गति के साथ ग्रहण नहीं किया जायेगा तब तक उसके होने या न होने का कोई अर्थ नहीं है। इसीलिए सौन्दर्य स्वयम् कोई शक्ति नहीं है वरन् वह जीवन के साथ

विकसित होता है और यथार्थ में ही वह अधिक सशक्त और प्रेरणीय होता है। उसे मनुष्य उतना ही मर्यादित करता है जितना कि यथार्थ की कुत्सा या उसकी सीमाएँ! ज्ञान उसका अंश है क्योंकि प्रौढ़ता और मुक्त अनुभूति के स्तर ज्ञान के ही प्रकाश में विकसित होते हैं।

वे, जो ज्ञान के अस्तित्व के बिना सत्य को ग्रहण करने का प्रयास करते हैं, सत्य को निर्जीव वस्तु के रूप में देखते हैं। सत्य निर्जीव वस्तु के रूप में नहीं पाया जा सकता क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति क्रियाशीलता में ही सम्भव है। जो सत्य जीवन से निष्क्रिय है और अखण्ड निरपेक्ष है वह उतना ही बड़ा झूठ है जितना विज्ञानरहित सौन्दर्य। सत्य इसीलिए प्रकृति की जड़ता में नहीं है वरन् प्रकृति और मानव जीवन की सापेक्षता में परिपालित, परिशोधित होता है। इसीलिये सत्य परिवेश और समाज से पृथक् वस्तु नहीं है। वह समाज के और जीवन के मूल्यों से सम्बन्धित है, उसकी सीमाएँ और उसकी उपलब्धि की परिप्रेक्ष्य दृष्टि दोनों ज्ञान पर ही आश्रित होती हैं। इसीलिए मानवीय चेतना अनुभूति के आधार पर विकसित होकर सत्य के नये आयामों को प्रस्तुत करती है। चेतना भी जीवन से पृथक् कोई ईश्वरीय देन नहीं है, वह प्रसंग है सम्पूर्ण मानवबोध के क्रमिक विकास में व्याप्त अनुभूति का। जो चेतना को दैनिक मानकर चलते हैं वे सत्य, और सौन्दर्य दोनों को एक ऐसे जाल में बाँध देते हैं जिस में सत्य मरीचिका बन जाता है और सौन्दर्य केवल एक चमत्कार के रूप में बोधगम्य होता है। अस्तु!

- सत्य जीवन की क्रियाशीलता में व्यक्त होता है;
- चेतना इस क्रियाशीलता की अनुभूति से विकसित होती है;
- उपलब्धि इसी अनुभुति की गहराई में मिलती है;
- और यह अनुभूति की गहराई उस विवेक और ज्ञान की शक्ति पर आधारित होती है जो सत्य को जीवन से संलग्न होकर देखती है; सौन्दर्य उपर्युक्त सन्दर्भ में अपनी अखण्डता का निर्वाह इसीलिए नहीं कर सकता। चेतना की क्रियाशीलता, सन्दर्भ में, प्रसंगों में, परितापित होकर किसी भी प्रकार का समझौता या पलायन का बोध नहीं ग्रहण करती। वह जीवन का साक्ष्य चाहती है। यह साक्ष्य उस अभिव्यक्ति में व्यक्त होती है जिस में हमारा सारा बोध, सारा ज्ञान निर्णय लेता है अथवा दृष्टिकोण विकसित करता है। सौन्दर्य इसी चेतना के माध्यम से अवतरित होता है। इसीलिए वह जीवन के साथ, जीवन के यथार्थ बँधा है।

फिर यथार्थ से मुँह बिचकाकर सौन्दर्य, सत्य और चेतना की कल्पना की भी कैसे जा सकती है? यथार्थ की कटुता, उसकी तिक्तता और उसकी दुविधा से

बचकर कोई भी सौन्दर्यबोध विकसित कैसे हो सकता है ? असुन्दर* को या विरूप को मात्र उसकी असुन्दरता और विरूपता के आधार पर तिरस्कृत नहीं किया जा सकता क्योंकि विरूपता और असुन्दरता भी सौन्दर्यबोध के लिए एक विशेष महत्त्व और मूल्य की वस्तु है। असुन्दर सुन्दर का परिशिष्ट मात्र नहीं है। वह सुन्दर की अभिव्यक्ति का माध्यम भी है। आज का यथार्थ मात्र उस सौन्दर्य पर प्रौढ़ नहीं हो सकता और न जीवित अनुभूति ही दे सकता है जो जीवन में व्याप्त तिक्तता और असुन्दरता के प्रति मुंह मोड़ कर एकांगी एकालाप गाता चलता है। कलिंग का लोमहर्ष युद्ध और उसका बीभत्स ही शायद अशोक को वह विवेक दे सका था जिस में मानवीय करुणा के प्रति सहसा आस्था जागृत हो सकी थी। गौतम बुद्ध को शायद उस असुन्दर ने अधिक प्रेरणा दी थी जो जर्जरित कंकाल के रूप में प्रस्तुत होकर अनुभूति के स्तर को झंझोड़ गया था। शायद आज के अविश्वास में पनपे हुए युद्धों से, उनकी विकृतियों के माध्यम से ही विश्व चेतना की अनुभूति द्रवित होकर शन्ति के निर्माण में संलग्न हो रही है। अस्तु ! जब हम जीवन के यथार्थ को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर उसकी विरूपता से बचने का कोई अर्थ ही नहीं है। इसका यह भी अर्थ लगाया जा सकता है कि नयी कविता का सौन्दर्यबोध विरूपता और असुन्दरता को ही सौन्दर्यबोध मानता है किन्तु ऐसा सोचना बहुत बड़ा भ्रम है। नयी कविता का सौन्दर्यबोध जब यथार्थ को स्वीकार करता है तो यथार्थ सम्पूर्णता को भी स्वीकार करता है। वह ऐसे सत्य का समर्थन नहीं कर सकता जिसमें भ्रमों के आधार पर स्वप्न लोक का निर्माण किया जाये। जब आज के सौन्दर्यबोध की समस्त चेतना लघु परिधि में व्याप्त लघु मानव से द्रवित होती है तो फिर उसके लिए यथार्थ का विरूप पक्ष भी एक सत्य है। इसीलिए नयी कविता का सौन्दर्यबोध, उन समस्त रहस्यवादी आधारों को केवल स्नॉबरी ही समझता है —शायद इससे अधिक उसमें कुछ है भी नहीं।

सौन्दर्य की अखण्डता का स्वर स्वप्नाकुल स्थिति का स्वर है। सौन्दर्य शाश्वत और अखण्ड रहकर कभी भी व्यक्त नहीं होता। सौन्दर्य के प्रति हमारी प्रतिक्रिया

---

*Ugliness is an aesthetic value......All live in the same world. Nowhere can we draw a distinct line to say on this side lives the beautiful and on that the ugly......beauty and ugliness, the noble and the pretty, the sublime and the ridiculus, all these opposite terms, when used in an aesthetic way, involve each other and must be determined by other different qualities from which they spring.

— CHRISTOPHER CAUDWEL

समानधर्मा भी नहीं है। सौन्दर्य व्यक्ति-अनुभूति है जो व्यापक परिवेश में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न माध्यमों से व्यक्त होता है। यदि सौन्दर्य केवल एक निश्चित भावबोध सब में समान रूप में प्रस्तुत कर सकता तो शायद छायावादी परिभाषा अधिक सत्य होती। किन्तु ऐसा नहीं होता। सौन्दर्य की गतिशीलता में प्रवाह है, इसीलिए उसकी एक तरंग या एक उर्मि नहीं हो सकती। उसकी विभिन्न अभिव्यक्ति ही उसकी शक्ति है। प्रगतिवादी जहाँ यथार्थ की सत्ता मानते हैं वहाँ वे सौन्दर्य को भी एकांगी रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। यदि रूढ़िवादी शाश्वत के नाम पर सौन्दर्य के तत्त्वों को अनादि काल से अनन्त काल तक के लिए केवल एक रूप में स्वीकार करके मानव भिन्नता और यथार्थ की समसामयिकता को नष्ट कर देते हैं तो प्रगतिवादी भी यथार्थ को अपनी रूढ़ियों में बाँधकर उस मानव भिन्नता को स्वीकार नहीं करते जो यथार्थ का विशेष अंश है। सौन्दर्य के इस बोध में जीवन के प्रतिपक्ष विकसित होने की सम्भावनाओं के प्रति इतना गहन अविश्वास मिलता है जो न तो किसी मूल्य को निर्धारित कर पाता है और न उसे मानव सम्वेदना के साथ सम्बद्ध ही कर पाता है। नया सौन्दर्यबोध यथार्थ को इतना पंगु नहीं मानता। आधुनिकता के सन्दर्भ में यथार्थ किसी एक रूढ़ि में बधना आवश्यक नहीं समझता।

तथाकथित उदात्त भावना को भी सौन्दर्य के सन्दर्भ में जान लेना आवश्यक है। सौन्दर्यवादी या रूढ़िवादी सौन्दर्य को परिवेश और सन्दर्भ से बड़ा मानते हैं कि वास्तविक जीवन क यथार्थ से ऊपर की स्थिति उदात्त स्थिति है। यथार्थ से पृथक् सौन्दर्य को देखने की यह भावना उदात्त को अनन्त और असीम की भावना प्रदान करके उसे सम्पूर्ण जीवन से अलग कर देती है। सौन्दर्य के साथ असीम और अनन्त की भावना भी अपनी रागात्मक स्थिति में हो सकती है यह किसी सीमा तक सत्य हो किन्तु यह असीम और अनन्त की भावना एकमात्र भावना नहीं है। किन्तु यह अनन्त और असीम सौन्दर्य के आयाम मानवीय सम्वेदना और यथार्थ से उपजते हैं। वे किसी बाह्य सन्देश के रूप में अवतरित नहीं होते, इसीलिए उदात्त की भावना सौन्दर्य से सम्बन्धित न होकर मानव अनुभूति के अधिक निकट है। जब हम उदात्त की भावना को मानवीय यथार्थ से सम्बन्धित मान लेते हैं तब उसका परिवेश यथार्थ से सम्बन्धित होकर जीवन की समग्रता को भी अपने में निहित करने की क्षमता पाता है।

छायावादी उदात्त चेतना को मानते हैं किन्तु मानवीय चेतना न मान कर दैविक या अलौकिक चेतना मानते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि वे स्वयम

मानवीय सम्भावना को एक ओर इतना सशक्त मानते हैं कि वह उदात्त का साक्षात्कार करती है, साथ ही उससे उस भावना को छीनकर अलौकिक रहस्य के हवाले कर देती है। यदि उदात्त अनंत और असीम का गुण है तो फिर मानव सामर्थ्य उसका साक्षात्कार कैसे करती है ? यदि मानव अनुभूति उसका साक्षात्कार करती है तो उसे अन्त को मानवीय स्वीकार करना ही पड़ेगा। सुन्दर की उदात्त भावना उसका एकमात्र अपना गुण नहीं है वरन् वह मानवी अनुभूति के संसर्ग में उपजी हुई स्थिति है, विकसित हुआ बोध है। ऐसा इसीलिए है कि सौन्दर्य की उपलब्धि हमारी अपनी अनुभूति की गहराई से उपजती है। उसका बोध हमें अपनी मुक्त शक्ति के आधार पर होता है, अपनी धारणाशक्ति के आधार पर होता है। छायावादी मानवीय धारणा को भी दैविक देन मान लेते हैं और तब मनुष्य जो सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है, वह केवल गतिहीन द्रष्टा बनकर रह जाता है। यह निष्क्रिय स्थिति ही समस्त पृष्ठभूमि को पतनोन्मुख बना देती है।

नयी कविता मानव की धारणाशक्ति को इस अपाहिज रूप में नहीं स्वीकार करती इसीलिए उसका सौन्दर्यबोध उस निष्क्रियता के अभिशाप से मुक्त है जो सारी जागरूकता एवम् चेतना को स्थिर और जड़ बनाकर केवल असीम और अनन्त की दया पर छोड़ देती है। असीम और अनन्त की सत्ता यदि दृष्टि को संकुचित करती है, मनुष्य से उसकी धारणा और चेतना-शक्ति छीन लेती है तो फिर वह किलौअक निस्सीमता, अनंत प्रतिष्ठा का महत्त्व केवल रुग्ण मनोवृत्ति की असाधारणता से अधिक सम्बद्ध है। मानवीय स्तर पर उसका मूल्य क्या हो सकता है जो केवल अपनी जड़ता का अनन्त वैभव ले मनुष्य से उसकी दृष्टि छीन कर उसे केवल असहाय या असमर्थ बनाकर छोड़ दे ? नया सौन्दर्यबोध मानव शक्ति को असीम सम्भावना स्रोत मानता है। अलौकिक को या रहस्य को वह केवल एक स्वप्न-जाल के रूप में समझकर उसे छोड़ देता है। मानव अपूर्णता की गाथा और उसके स्वप्न-जाल की कथा उस मन:स्थिति से सम्बन्धित है जो पलायन और परिस्थितियों से भागने की चेष्टा करते हैं। यथार्थ की अवहेलना करते हुए महादेवी वर्मा 'दीपशिखा' की भूमिका में कहती हैं—

"एक यथार्थ द्रष्टा केवल विरूपताएँ चुनकर उनसे जीवन को सजा देता है और दूसरी ओर हृदय को चीर-चीर कर स्थूल सुखों की प्रदर्शनी करता है। केवल उत्तेजक और वीरताजनक काव्य और कलाओं के मूल में यही प्रवृत्ति मिलेगी। इन दोनों सीमाओं से दूर रहने के लिए कवि को जीवन की अखण्डता और व्यापकता से परिचित होना पड़ेगा क्योंकि इसी पीठिका पर यथार्थ चिरन्तन गतिशीलता पा सकता है।"

जहाँ तक जीवन की व्यापकता का प्रश्न है उसे आज का यथार्थवादी सौन्दर्य-बोध छायावादी से अधिक सार्थक रूप में मानता है। व्यापकता जीवन की होनी चाहिये न कि व्यक्तिगत कुण्ठाओं की, छायावादी भाव-भूमि कुण्ठाओं के आवरण देकर अखण्डता को उगाती है। इसलिए जब उसकी दृष्टि के सामने जीवन का कटु स्थूल प्रस्तुत है तो वह बर्बर-सा लगने लगता है। तब वह उससे पलायन करने लगती है। यथार्थवादी सौन्दर्यबोध उन उत्तेजक विप्सापूर्ण परिस्थितियों में भी कई ऐसे तत्त्व पाता है जिनमें हलचल है, गति है, विद्रोह है और साथ ही मुक्ति का संघर्ष है। मानवीय करुणा (pity) से सौन्दर्य-बोध का यथार्थ रूप नहीं प्रस्तुत होता। उसका वास्तविक रूप मानव-स्वाभिमान (dignity) में व्यक्त होता है। नये भावबोध में जीवन वीप्सा और उसकी अश्रु-स्वेद-श्लथ आकृति करुणाजनक होकर सौन्दर्यबोध को विकृत नहीं करती वरन् उस अश्रु-स्वेद-श्लथ स्थिति में उसकी क्रियाशीलता को स्वाभिमान देती है। इस क्रियाशीलता में स्वावलम्बी होने का बहुत बड़ा संघर्ष निहित है। इस संघर्ष को असत्य मानना या उसकी उपेक्षा करना जीवन के सशक्त तत्त्वों की उपेक्षा करना है। हो सकता है महादेवी वर्मा ने आज के यथार्थ को सौन्दर्य के आयाम के साथ विकसित देखकर अपनी सीमाओं को सुरक्षित रखने मात्र के लिए ही यह कहा हो किन्तु यह सत्य है कि विरूपताओं को हम नहीं सजाते, न सजाने की इच्छा ही रखते हैं। इसे तो वे सजाते हैं जो सौन्दर्य की चेतना को निर्जीव मानकर रहस्यवादी करुणा की आड़ में केवल आँसुओं का व्यापार करते हैं। हृदय को चीर-चीर कर स्थूल सुखों को स्वीकार करना हमारी प्रवृत्ति हो सकती है पर स्थूलत्व के सत्य को दबाकर सूक्ष्म का प्रदर्शन, स्थूल का भोग करते हुए स्थूल से घृणा हमारे बस की बात नहीं है। नया भावबोध स्थूलत्व को त्याज्य नहीं मानता। सूक्ष्म तो स्थूल से उपजता ही है। वस्तुसत्य की अनिवार्य सक्रियता (positivity) ही आत्मसत्य का साक्षात्कार करती है इसलिए हम उन दोनों छोरों का अस्तित्व मानकर क्रियाशील हैं क्योंकि दोनों छोरों का अन्त कर देने से जो निष्क्रियता व्याप्त होती है वह छायावादी काव्य का रूप है जिसमें सत्य, वस्तु सत्य-सौन्दर्य, करुणा, सहानुभूति, सम्वेदना किसी को जीवन का आधार ही नहीं मिल पाता।

उसी भूमिका में एक दूसरे स्थल पर महादेवी वर्मा ने कहा है "यथार्थ के सम्बन्ध में यदि केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण रक्खें तो वह काव्य को लक्ष्य-भ्रष्ट कर देगा।" वैज्ञानिक दृष्टि का लक्ष्य पथभ्रष्ट करना नहीं है। वह तो काव्य का बौद्धिक पुष्टीकरण करती है ताकि वह अज्ञानता का बोध उत्पन्न करके केवल सतही सम्वेदना बनकर न रह जाये। जिस व्यापकता और अखण्डता को महादेवी वर्मा बार-बार दुहराती हैं वह किस पृथ्वी पर पैदा होगा यदि यथार्थ की वैज्ञानिक पकड़ हमारे पास

नहीं होगी। छायावादी सौन्दर्यबोध शायद व्यापकता और अखण्डता को, अमर बेल की सी व्यापकता और अखण्डता मानता है जिसमें धरातल कुछ नहीं है। केवल विस्तार ही विस्तार है और वह विस्तार भी बिना जड़ का है, इसीलिए वह दूसरे की जीवनशक्ति का शोषण करके केवल पैरासाइट (parasite) बनकर पनपता है। जो भी सौन्दर्य पैरासाइट बनकर पनपता है वह कहीं न कहीं भारी रोग का शिकार होता है और वह सौन्दर्य पाण्डुरोग का पीलापन लिये हुए जीवन निरपेक्ष होता है। यथार्थ के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि का विकसित होना सूक्ष्मता की अत्यन्त रोग-ग्रस्त प्रकृतियों का बहिष्कार अवश्य करेगा किन्तु उसके द्वारा पैदा हुई अनुभूति सत्य नहीं होगी यह कहना गलत है क्योंकि नया सौन्दर्यबोध यथार्थ और जीवन से सम्बन्धित होने के नाते न तो कभी पैरासाइट के रूप में विकसित होगा और न उसमें रक्तहीनता ही होगी।

सौन्दर्य और उपलब्धि के प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है। उपलब्धि की सार्थकता को भी जीवन की सक्रियता से सम्बद्ध होना पड़ेगा, नहीं तो छोटे-छोटे मसीहों की फसल अपनी बौखलाहट को ही उपलब्धि कहकर सारी भाव-स्थिति को अज्ञान के जाल में डाल देगी। छायावाद के युग ने यही कुहासा बुना था जिसमें उपलब्धि केवल निरपेक्ष भोग-रहस्य बनकर कुण्ठाग्रस्त हो गयी थी। उपलब्धि की सार्थकता भी व्यापक सत्य से सम्बन्धित है वह केवल आकाश-लोक की यात्रा नहीं है वरन् धरातल का साक्षात्कार है। इसीलिए उपलब्धि को जीवन की क्रियाशीलता से सम्बद्ध होना पड़ेगा। आज का भावबोध उपलब्धि को मात्र अनियन्त्रित असन्तुलित एकाकीपन (obscurity) मान कर सन्तुष्ट नहीं हो सकता। आज उसे उन रहस्यों का बोध भी हो गया है इसलिये उसका विद्रोही स्वर यह अनुभव करता है कि—

नबी तुम्हारी पोली छाती में यह क्या है ?
बंजर मिट्टी,
पंगु तरलता,
झूठी ज्वाला,
रुद्ध हवाएँ,
सबके भीतर खालीपन है,
खालीपन है।
सुनो नबी मैं तुम्हें चुनौती फिर देता हूँ।
ज्योतित कुहरे से आलोकित

प्रथम बार जब तुमने झूठा ईश्वर देखा
मानव के घायल मस्तक की साक्षी देकर
मैंने अस्वीकार किया था ।
जीवित करता हूँ मैं वे अभियोग पुराने
भय : था तुमको अन्धकार का
लोभ : तुम्हें था सार्थकता का
मोह : तुम्हें था आलम्बन का
नबी तुम्हारी कुण्ठाओं से निर्मित प्रभुता
केवल आत्मा की तेज़ाबी आभा थी, जो
जीली नहीं कलंकित होकर
मुर्दा परतों पर कुम्हलाया जहर छोड़कर
कुछ दिन बाद उतर जाती है ।

(पितृहीन ईश्वर : विजयदेवनारायण साही)

वह उपलब्धि जो सौन्दर्य को यथार्थ से पृथक् करती है, और तब जीवन के सन्देश पर आधारित करना चाहती है, वह कितनी अधूरी है, कितनी अपूर्ण है—यह स्पष्ट हो जाता है । अन्धकार को पराजित करने की प्रवृत्ति या यथार्थ को कल्पना के सहारे ठुकराने का अपवाद सौन्दर्य का बोध नहीं करा सकता । अन्धकार या यथार्थ का खुरदुरापन एक सत्य है और उस सत्य का साक्षातकार किये बिना उसका दूसरा पक्ष चाहे वह प्रकाश का हो चाहे सौन्दर्य का, विकसित नहीं हो सकता । सौन्दर्यानुभूति में जब तक विवेक द्वारा यथार्थ की स्थापना नहीं होगी तब तक यह सारी प्रभुता का आडम्बर केवल तेज़ाबी आभा बन कर कुछ दिनों बाद उतर जाने वाली कलई होगी । आज का सौन्दर्यबोध इस सार-गर्भित सत्य को स्वीकार करके अपनी दृष्टि को व्यापक बनाता है । इसमें अपूर्णता हो सकती है पर दृष्टि-भ्रम नहीं है ।

[६]

यथार्थ के नये धरातल

प्रश्न है जीवन का यथार्थ क्या है ? उसका क्या गुण है ? उसकी क्या विशेषता है जिस पर आज का नया बोध इतना बल देता है और देने के साथ समस्त परम्परागत स्थितियों की अपूर्णता की ओर लक्ष्य कराता है ? क्या यथार्थ कोई निरपेक्ष वस्तु है ? क्या उसकी सीमायें आँकी जा सकती हैं ? क्या उसमें प्रेरणा देने की शक्ति है और इन सबसे बढ़कर यह कि क्या वह समस्त निरपेक्ष मूल्यों को खण्डित करके स्थापित हो सकता है ?

और तब इन समस्त प्रश्नों का एक मात्र उत्तर यह है कि जीवन और उसके सत्य सबसे बड़े यथार्थ हैं। यथार्थ जीवन की वह आस्थामय अनुभूति है जो यह मानती है कि जीवन निस्सार नहीं, जीने के लिए है, उसे जिया जा सकता है, उसे भोगा जा सकता है, उसके साथ मनुष्य होकर मनुष्य के स्तर पर अनुभूतियों को ग्रहण किया जा सकता है और उनसे ओतप्रोत होकर जीवन की व्यापकता में सौन्दर्य, रस, आनन्द, बोध, अनुबोध के स्तरों को ग्रहण किया जा सकता है—यही नहीं उन्हें स्वीकार भी किया जा सकता है। यह स्वीकृति, यह जीने की इच्छा-शक्ति, यह भोगने की समरसता, यह सौन्दर्य की रसग्राह्यता और परिवेश की क्रियाशीलता समस्त अन्तर्वेदना और अनुभूति को एक दृष्टि देती है जो पुरुषार्थ के साथ-साथ समस्त कटुताओं को वहन करने के बाद भी हमें किसी स्वप्नलोक की प्रेरणा न देकर यह प्रेरणा देती है कि हम अपने चारों ओर के व्यापक जीवन को देखें, मिट्टी,

धूल, कीच-काई के यथार्थ मानवीय सन्दर्भ में समझें और उनको मानवीय अभि-व्यक्तियों के माध्यम से उपलब्धियों की समग्रता से सम्बद्ध करें, और यह मानें कि जीवन के ये लक्ष्य मूल्यहीन नहीं हैं वरन् यह सत्य है जिनकी उपेक्षा करने से सौन्दर्य एनिमिक होगा, दर्शन खोखला होगा, जीवन अस्तित्वहीन होगा, नैतिकता पंगु होगी, बोध अपूर्ण होगा और समस्त बौद्धिक पृष्ठभूमि में कैशोर्य के अतिरिक्त प्रौढ़ता नहीं पनप सकेगी। मनुष्य का अधूरापन एक सत्य भी है और सौन्दर्य भी; उसकी कमियाँ, उसकी सीमायें, उसकी ग़लतियाँ और उसके भटकाव निस्सार नहीं हैं। इनके बावजूद और इनके साथ भी जीवन निबाहा जा सकता है। अस्तु, जीवन के प्रति आस्थावान् होना सबसे बड़ा यथार्थ है। उसके परिवेश की सीमाओं से उसके संघर्षों की चेतना अनुभव करना, उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं में सहभोगी होकर आचरण करना उस यथार्थ की सक्रियता है; और यह सक्रियता न तो अन्तर्मुखी है और न ऊर्ध्वमुखी। यह बाह्यमुखी जागरूकता है। यह अनुभूतिशील पुंस्त्व है। इसीलिए वह ईश्वर-युक्त नहीं है, निरपेक्ष रहस्यवाद नहीं है, वैयक्तिक कुण्ठावाद नहीं है, वरन् क्रियाशील उपलब्धि है जो चेतनापूर्ण विवेक (conscious reason) और चेतनापूर्ण मन्तव्य (conscious purpose) के साथ है। चमत्कार, रहस्य, ईश्वरदत्त आभा, उस पार का दिवास्वप्न इन सबसे मुक्त और बाह्यमना है।

जब हम यह मान लेते हैं कि जीवन जीने के लिए है तो फिर इस सत्य के साथ हमारी दृष्टि आकाश की ओर न जाकर उस ठोस पृथ्वी की ओर आकृष्ट होती है जो शेषनाग के मस्तक पर न टिककर ग्रहों-उपग्रहों के आकर्षण और उनकी सापेक्षता पर विकसित एवम् आधारित है। सत्य यह पृथ्वी है, सत्य ये ग्रह-उपग्रह हैं, सत्य इस धरती की सीमायें हैं, सत्य जीवन की विकासशील प्रवृत्ति है, सत्य मनुष्य का संघर्ष है, और इस संघर्ष में रत मानव गति, प्रगति, जय-पराजय, अश्रु, स्वेद, सफलता, ये सब यथार्थ के गुण हैं, जीवन के लक्षण (symptom) हैं। इनसे कतराना, इनकी अवहेलना करना, इनकी उपेक्षा में किसी अन्य ईश्वर, धर्म, दर्शन अथवा कल्पना-लोक की स्थापना करना जीवन की उपेक्षा करना है, यथार्थ को अस्वीकार करना है, सौन्दर्य के सन्दर्भ को नष्ट करना है, भावबोध को कुत्सित कहना है, पतनशील होने के साथ-साथ निष्क्रिय (static) तत्त्वों को प्रश्रय देना है।

अस्तु, यथार्थ का सौन्दर्य और उसकी विशेषता बिना इस वर्तमान जीवन की वास्तविकता के बोधगम्य नहीं हो सकती। जीवन का अस्तित्व और उसकी महत्ता स्वीकार करने के साथ ही हमें यह अनुभव होता है कि सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व (personality) की एक विशिष्टता (uniqueness) है जो न

तो देवत्व में मिल सकती है और न मनुष्य के न्यून स्तर के जीवन में सम्भव है। जीवशास्त्र (biology) की दृष्टि से यदि देखा जाये तो भी मानववर्ग (species) की विशेषता मात्र इतने ही से स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य में व्यक्तित्व-विभिन्नता के बावजूद भी वर्ग (species) की एकता स्थापित है। यह विभिन्नता (variation) और यह एकता (unity) दोनों जीवन के ज्वलन्त यथार्थ हैं। जहां विभिन्नता जीवन के सन्दर्भ में व्यक्तित्व स्थापित करती है वहीं उसकी एकता उसे वह सूत्र देती है कि वह समस्त मानवचेतना की समग्रता में विश्वास करे, उसकी सीमाएं जाने, उसकी उपलब्धियों को अंगीकार करे ।

जीवन की इस वस्तुस्थिति को स्वीकार करने के साथ ही हमें यह भी बोध होता है कि मनुष्य की धारणा-शक्ति और उसकी आत्मनिश्चय एवम् आत्मनिर्णय की शक्तियाँ उसके जीवन के दो अविभाज्य अंग हैं। मानवीय धारणा-शक्ति उसकी अनुभूति को परिष्कृत करती है, उसे अर्थ देती है और अनुभूति को समग्र बनाती है। उसकी आत्मनिश्चय अथवा आत्मनिर्णय की शक्ति उसे अनुभूतियों के विभिन्न स्तरों में जीने की शक्ति देती है और इसके साथ-साथ उसे वह प्रेरणा भी मिलती है, जिससे वह अपनी अनुभूतियों के आधार पर जीवन के परिवेश को समझे और उसे क्रमबद्ध करे; और क्रम-बद्ध करने के उपक्रम में अनुभूतियों के बाह्य और आन्तरिक परिवेशों को वर्तमान यथार्थ की सापेक्षता में देखे, समझे, रागात्मक बोध प्राप्त करे, बौद्धिक तुष्टि पा सके। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि यथार्थ का सौन्दर्य इस विशुद्ध मानवीय वर्ग (human species) का अनिवार्य निष्कर्ष है और इस निष्कर्ष से बचकर या इससे पलायन करके किसी अमूर्त्त सौन्दर्य या अलौकिक सौन्दर्य की ओर उन्मुख होना मानव-जीवन के प्रति अनास्था प्रकट करने के अतिरिक्त सौन्दर्य की गतिशक्ति (dynamics) की विशेषता को तिरस्कृत करना होगा ।

यथार्थ की यह विशेषता मानव जीवन की विशिष्टता की स्थापना करके जीवन के उन तत्त्वों को सामने लाती है जो सौन्दर्य को चमत्कार से मुक्त कराने में सहायक होते हैं; रुचि एवम् बोध को भौतिक रूप देते हैं; उदात्त और शिव को अन्तर्मुखी रूप न देकर जीवन की ओर उन्मुख करते हैं, जीवन की व्यापकता में एकरसता की अभिन्नता के स्थान पर भिन्नता और अन्धी श्रद्धा के स्थान पर विवेक को मूल्य प्रदान करते हैं। मानव विशिष्टता (uniqueness) चेतना की विशेषता में अपनी सम्पूर्ण जीवन-परिधि का साक्षात्कार करती है और यह जीवन और उसकी परिधि की विस्तृत सृष्टि की संकेत की अनुभूति के साथ-साथ देश काल की मर्यादा स्थापित करके उसे अधिक प्राणवान् बनाने में सहायक होती है। इसी-लिए कोई भी सौन्दर्य-बोध जब अलौकिक अथवा दैविक चमत्कार की विशिष्टता

से ओतप्रोत होगा तो वह जीवन से पृथक् होता जायेगा। किन्तु जब वह मानव विशिष्टता के बोध से ओतप्रोत होगा तो उसमें देश-काल की सीमा, वर्तमान का कटु सत्य, मानवीय सम्वेदना जीवन के साथ सम्बन्धित होगी। मानव विशिष्टता और उसकी पवित्रता यह भी विश्वास विकसित करती है कि सम्पूर्ण जीवन आरोपित नहीं, स्वत: विकसित हुआ है। इस विकास के इतिहास में मानव अनुभूतियों के स्तरों में चेतनापूर्ण शक्ति रही है, यह शक्ति केवल मूर्त्तिवत् नहीं रही वरन् वह सक्रिय भाग लेने वाली, भोगने और भोग कराने वाली रही है। अर्थात् मानव विशिष्टता के साथ-साथ यथार्थ के साक्षात्कार में मनुष्य ने अनुभव और प्रयोगशील प्रवृत्ति अपनायी है। यह अनुभव और यह प्रयोगशीलता ज्ञान की सीमा से प्रशासित होते रहे हैं इसलिए समस्त मानव संघर्ष का इतिहास, उसका परिवेश, उसकी अभिभूत शक्ति, उसकी पुंस्त्वपूर्ण भाग लेने की प्रवृत्ति उस निरपेक्ष, अनन्त, असीम और अद्भुत लीला से कहीं अधिक प्राणवान् है जो केवल एक निष्क्रियता पर पनप कर जीवन से उसकी समग्रता और क्रियाशीलता छीन कर उसे पंगु और आत्मसमर्पित करने वाला तुच्छ प्राणी बना देने में समर्थ होती है।

किन्तु यथार्थ की स्वीकृति के साथ-साथ हमें यह मानना होगा कि जीवन में व्याप्त पीड़ा, वेदना, कुरूपता, विद्रूपता, मृत्यु, प्रतारणा इत्यादि उतने ही सशक्त सत्य हैं जितने कि आनन्द, सुख, शान्ति, सुन्दरता, जीवन और जीवन की संघर्षशील प्रवृत्ति की उदात्त भावना। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पीड़ा से जूझना, कुरूपता के साथ संघर्षरत होना, विद्रूपता को विस्थापित करने की चेष्टा करना, मृत्यु को असमर्थ बनाना, प्रतारणा को नये अर्थ तक ले जाकर मानव-मुक्ति के प्रति प्रयासशील होना समूची मानव दृष्टि की जागरूकता है। ये तत्त्व जीवन की गति को स्वीकार करके आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं। सौन्दर्य और जीवन के बीच ये विकृत तत्त्व कोई दीवार नहीं खड़ी करते। ये हमारे बौद्धिक एवम् रागात्मक विकास की सीमाएं हैं, किन्तु इन सीमाओं को मिटाने के लिए जीवन से पलायन करने की अपेक्षा उसे स्वीकार करना ही उचित है। मानवीय मूल्य इन्हीं संदर्भों पर विकसित हो सकते हैं, बिना इन सन्दर्भों के न तो जीवन का औचित्य अनुभव किया जा सकता है और न उनका महत्त्व ही आँका जा सकता है। मानव विशिष्टता का बोध यह भी सिद्ध करता है कि मनुष्य अपने वैयक्तिक, सामाजिक और सामूहिक चेतना के आधार पर जो भी अनुभूति ग्रहण करता है उसका महत्त्व तभी हो सकता है जब यथार्थ की सापेक्षता हो, जीवन का सन्दर्भ और दृष्टि की मानवीय साक्षि-शक्ति निहित हो। बिना इन वस्तुसत्यों के सौन्दर्य अधूरा रहेगा, अनुभूतियां झूठी रहेंगी।

लेकिन यथार्थ उतना खुरदुरा, कटु और बँधा हुआ-सा लगता है कि उसके प्रति

बहुधा वह परम्परागत अनुभूति नहीं जागृत हो पाती जो साधारणतः प्रज्वलित रूप में पायी जाती है। किन्तु परम्परा और यथार्थ का यह संघर्ष मात्र इसलिए है कि जीवन की प्रगति और उसकी प्रतिक्षण विकसित प्रवृत्ति को हम स्वीकार नहीं करते। इसके विपरीत यदि हम वैज्ञानिक दृष्टि को महत्त्व दें और उसके जागरूक बौद्धिक तत्त्व को स्वीकार करें तो यथार्थ का खुरदुरापन, उसकी कटुता और उसका सीमित स्थूलत्व ये सबके सब हमें नयी प्रेरणा और नयी व्यंजना की ओर अग्रसर करते हुए प्रतीत होंगे। जीवन के प्रवाह और उसकी गति की विशेषता प्रतिक्षण ज्ञान की नयी अनुभूति से प्रभावित होकर अनुभतियों के नये आयाम प्रस्तुत करती रहती है। परम्परा से जो कुछ भी प्राप्त होता है वह जीवन के यथार्थ की गतिशीलता से सम्बद्ध होकर टूटता रहता है। उसकी सीमायें या तो विस्तृत होती हैं या वे विकासशील न होने के कारण टूट जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं। जीवन की गतिशीलता में आचार, विचार, नैतिक मानदण्ड ये सबके सब सन्दर्भ बदलते हैं—सौन्दर्य को यथार्थ से, भावना को ज्ञान से, उदात्त को वस्तुस्थिति से, परिवेश को नये तत्त्वों से और ज्ञान को विवेक से संघर्ष करना पड़ता है। अनुभूतियां नये भावस्तर में प्रवेश करती हैं। पुराना रूप खण्डित होता है, नया निर्माण पाता है और इस प्रकार कवि या कलाकार नये स्तरों की अनुभूति ग्रहण करता रहता है। जीवन की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता और यथार्थ का यह गुणप्रधान तत्त्व, हमें इस लिए बाध्य करता है कि हम अपने चारों ओर के विस्तृत एवम् व्यापक सत्य को देखें, उसमें भाग लें, उसे अनुभव करें और उनको अर्थ दें। यह कार्य और यह दृष्टि यथार्थ को अधिक शक्ति देती है, उसके सौन्दर्य को अधिक प्रेरणावान बनाती है। हमारे भावबोध की यह अनिवार्यता यथार्थ के सौन्दर्य को अधिक अन्वेषणपूर्ण, अधिक जागरूक रूप में प्रस्तुत करती है। परिवेश बदलता रहता है, इसीलिए यथार्थ भी नये रूप ग्रहण करता है।

आज के वैज्ञानिक युग में परिवेश के धरातल नये तत्त्वों के माध्यम से नये स्तर प्राप्त करते रहते हैं, जिसके कारण हमारी चेतना भी उसके द्वारा प्रभावित होती है। परिवेश की इस प्रकृति में निहित सत्य और उसके रूप को जाने बिना यथार्थ का पूर्ण अनुभव नहीं हो पाता। यही कारण है कि निरपेक्षता की सीमाएं टिक नहीं पातीं.........वह या तो झूठी पड़ जाती हैं या अप्रासंगिक। रहस्य की सीमा भी इसी कारण ढह जाती है। किंवदन्ती (legend) की प्रामाणिकता भी नष्ट हो जाती है। इन्द्रधनुष काव्यात्मक होते हुए भी रहस्यात्मक नहीं रह पाता, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण किंवदन्ती की असमर्थता में उतना सजीव चमत्कार नहीं

प्रस्तुत कर पाता। धर्म भी इसी नाते उतना प्रेषणीय नहीं रह पाता। रहस्य की सीमायें बँध जाती हैं, धर्म का परिवेश सीमित हो जाता है, किंवदन्तियों की उपयोगिता नष्ट हो जाती है और अन्त में बच रहता है केवल वह यथार्थ जो वस्तुस्थिति है, जो विवेक से प्रशासित और वैज्ञानिकता द्वारा अनुमोदित है। जीवन की धारणाओं का एवम् उसकी विशिष्टता का इसीलिए महत्त्व भी बढ़ जाता है।

यथार्थ में निहित सौन्दर्यबोध समस्त मानवचेतना को केवल सौन्दर्य और सत्य की निरपेक्षता तक सीमित नहीं रख सकता। वह प्रत्येक बार उसकी निरपेक्षता को अपनी वस्तु स्थिति से उद्वेलित करता रहता है। सौन्दर्य यथार्थ के सम्पर्क में अधिक प्राणवान् होकर व्यक्त होता है। आज का कवि आधुनिकतम वैज्ञानिक एवम् ऐतिहासिक विकास के बाद सौन्दर्य और सत्य को आत्मतुष्ट लक्ष्य के साथ लेकर नहीं चल सकता और न यह मान सकता है कि सौन्दर्य और सत्य स्वयम् ही पूर्ण हैं। सौन्दर्य का जीवन से अनिवार्य सम्बन्ध है। जीवन स्थिर नहीं है इसीलिए उसके मानदण्ड, उसकी अनुभूति, उसके भावबोध के स्तर ये सबके सब गतिशीलता की नयी-नयी पृष्ठभूमियों और सन्दर्भों को जन्म देते हैं। सत्य इन सन्दर्भों से पृथक् नहीं हो सकता, सौन्दर्य इनके बिना निरर्थक प्राणहीन वस्तुस्थिति बनकर जी नहीं सकता; इस लिए सौन्दर्य, अनुभूति और सम्वेदनाओं का अर्थ जीवन के यथार्थ में ही व्यक्त होता है और इस यथार्थ के आधार पर ही वे मानव मूल्य स्थापित हो सकते हैं जो चैतन्यता के साथ-साथ मानव विशिष्टता को विकसित करके उसे पूर्णता की ओर अग्रसर कर सकें। भौतिक यथार्थ भी तब एक बृहत् महत्त्व हो जाता है। यह कहना कि भौतिक यथार्थ केवल जड़ है या चेतनाशून्य है, उतना ही बड़ा भ्रम है जितना यह कि मानव विशिष्टता, जीवन की गतिशीलता के बिना भी सौन्दर्य का अस्तित्व है, सत्य का उद्गम है, बोध का सन्दर्भ है और भावनाओं का अस्तित्व है।

मानव विशिष्टता स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि हम यह मानकर जीवन की सार्थकता को समझें कि मनुष्य इस व्यापक यथार्थ में संघर्षरत प्राणी है। वह तो ईश्वर-प्रदत्त जीव है और न ही वह केवल एक यन्त्र है जो मात्र परिचालित किया जाता है, स्वतः उसमें गति नहीं है। ईश्वरवाद जहाँ मनुष्य को ईश्वर-प्रदत्त प्राणी मानकर उसे केवल ईश्वरीय प्रेरणा से परिचालित होनेवाला जीव मानता है वहीं मार्क्सवाद उसे केवल यन्त्रस्थ जीव मानता है जो ऐतिहासिक द्वन्द्व के कारण क्रियाशील होता है। यदि एक मनुष्य को नकारात्मक बनाकर छोड़ देता है तो दूसरा उसे केवल कठपुतली-सा निर्जीव सिद्ध करता है। ये दोनों मत भ्रामक हैं। यथार्थ का साक्षात्कार मनुष्य उसी समय करता है जब

वह अपनी विशिष्टता स्वीकार करने के साथ-साथ स्वतः निर्णय-निश्चय करने वाला व्यक्ति सिद्ध होता है। मानवीय चेतना में संकल्प-शक्ति है, उसकी अपनी धारणाशक्ति है, और इस धारणा-शक्ति के माध्यम से वह यथार्थ और जीवन का सम्बन्ध स्थापित करता है। मार्क्सवाद मनुष्य की चेतना-शक्ति को केवल ऐतिहासिक प्रतिक्रिया-रूप में स्वीकार करके उसकी सक्रियता को स्वतः कोई शक्ति मानता ही नहीं। बिना इस मानव विशिष्टता को स्वीकार किये उसका दायित्व निभ नहीं सकता है। ईश्वरवाद, भाग्यवाद, अथवा दैविक मतवाद अपूर्ण इसलिए हैं कि वे मनुष्य और उसके संसार से यथार्थ को दो पृथक वस्तुयें मानते हैं और मानव मुक्ति को संसार से सम्बन्धित न करके पारलौकिक शक्ति से सम्बन्धित करते हैं। मार्क्सवाद यथार्थ स्वीकार करते हुए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अन्तिम कसौटी मान लेता है। अर्थात् यदि ईश्वरवाद मनुष्य से बड़ा ईश्वर को मानता है तो मार्क्सवाद मनुष्य से बड़ा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को मानता है। यदि उसके लिए वेद अन्तिम शब्द कह चुके हैं तो दूसरे के लिए मार्क्स का अन्तिम शब्द वेद बन गया है। इस प्रकार दोनों ही यथार्थ की वास्तविकता और उसकी सक्रिय आन्दोलन-शक्ति की अवहेलना तो करते ही हैं साथ ही वे मानव विशिष्टता की भी हत्या करते हैं और उनको सामान्य परिधि की अपेक्षा अपनी परिधि में पंगु और जर्जर बना देते हैं।

मानव विशिष्टता इसलिए और भी प्रसंगानुकूल है क्यों कि यथार्थ का सौन्दर्य, उसकी विकृतियाँ, उसकी कमियाँ या उसके विभिन्न आयाम और चिरविकसित परिप्रेक्ष्य सदैव मानव चेतना को चुनौती देते हैं। यह चुनौती, रूप और शिल्प दोनों को प्रभावित करती रहती है। मानव विशिष्टता इस यथार्थ का साक्षात्कार करने में ही पूर्ण होती है। इनसे पलायन करके वह निम्न स्तर की, झूठी एवम् आडम्बरयुक्त प्रवृत्तियों की शिकार बन जाती है।

•

अब प्रश्न यह है कि जिस यथार्थ का साक्षात्कार मनुष्य करता है वह उसे किस रूप में प्रभावित करता है। क्या समस्त मानवीय चेतना यथार्थ को चित्रित (reproduce) करती है या वह यथार्थ के इस बदलते परिप्रेक्ष्य और आयाम को धारण कर नया रूप देती है। स्पष्ट है कि यथार्थ की गतिशीलता (dynamics) मनुष्य की विशिष्ट चेतना पर जिस प्रकार आक्रमण करती है उससे दो प्रकार की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। पहली स्थिति तो यह कि मनुष्य मात्र उस यथार्थ का चित्रण (reproduce) करके अपनी क्रियाशीलता को सन्तुष्ट कर ले और दूसरे यह कि वह स्वयम् अपने विशिष्ट गुणों से यथार्थ को प्रभावित करे, उसे नया

परिप्रेक्ष्य दे, उसे नये आयामों तक ले जाये। केवल यथार्थ चित्रणकला या कविता को निम्न स्तर प्रदान करता है। इस प्रकार की अनेक कविताएँ प्रगतिवाद और उसके निकटवर्ती यथार्थवादी कविताओं में मिलेंगी जिसमें सिवा यथार्थ की अति मुग्ध स्थिति के और कुछ नहीं मिलता। कहीं-कहीं एक ऐसे यथार्थ का चित्रण मिलता है—(खासकर कम्युनिस्ट विचार-धारा से प्रभावित कविताओं में इसका बाहुल्य है।) जिसमें एक मतवाद स्थापित करने के लिये यथार्थ को माध्यम बनाया गया है और उस माध्यम से उस ख़ास मन्तव्य की स्थापना की गयी है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ मनुष्य की विशिष्ट स्थिति को त्याज्य मानती हैं और दोनों ही। यथार्थ की अवहेलना करती हैं। इनमें से प्रथम में केवल आतंकित प्रभाव रूप में यथार्थ मानव विशिष्टता को नष्ट कर देता है। दूसरे में मन्तव्य (motive) इतना प्रबल है कि उसमें यथार्थ और मानव विशिष्टता दोनों ही पीछे हट जाते हैं। शेष जो कुछ बचता है वह या तो प्रचार है या केवल नारा, जो अनुभूतियों की गहराइयों से न उपजकर मात्र मन्तव्यों की दृष्टि से उपजता है, एक प्रकार का नारा प्रस्तुत करता है और फिर समाप्त हो जाता है। इस प्रकार की रचनाएँ शिवमंगलसिंह 'सुमन', नागार्जुन जैसे कवियों में बहुत अधिक हैं। इस प्रवृत्ति के प्रतिनिधि कवि डॉ० रामविलास शर्मा का आचार्यत्व तो बड़ा है। वे यथार्थ को मानते हुए मानव विशिष्टता को न मान कर एक विशेष प्रचारक मतवाद को ही सत्य मानते हैं। उसके समक्ष वे समस्त मानवीय चेतना के स्तर को निम्न समझते हैं। बिना आत्म-उपलब्धि के वे अनुभूति की सारगर्भित गहराई को यथार्थ से सम्बद्ध करना चाहते हैं। इन समस्त भ्रान्तियों के कई परिणाम निकलते हैं। पहला यह कि वे मानव-जीवन को 'लघु' सम्बोधन करते हैं, उसकी सीमाओं की लघुता को भावहीन मानते हैं। लघु मानव का लघु परिवेश या उसकी लघु सीमा को पुंस्त्वहीन और निष्क्रिय मानते हैं। मानव भविष्य को 'अनजान राह' जैसी उक्ति देकर छायावादी रहस्यवाद का अनुकरण करते हैं और इन सबके साथ स्थापित यह करते हैं कि जीवन 'क्षुद्र' है, चंचल है। इस लघु जीवन को क्षुद्र मान लेने के बाद यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि लघुजीवन का लघु परिवेश क्षुद्र है तो क्या उदात्त या महान् इस क्षुद्रता और जीवन दोनों के बाहर है। और इस तर्क की परिणति होती है बाह्यारोपित 'बहुजन-जीवन' के सम्बल में। दूसरे शब्दों में उस अधिनायकवाद में जो 'टोटेलिटेरियन' तत्त्वों से परिपूर्ण होकर अधिनायकवाद को जन्म देता है, जो साधारण जीवन को क्षुद्र समझकर यह स्थापित करता है कि इस साधारण जीवन की क्षुद्रता को नष्ट करके एकाधिकरण की दिशा अपनायी जाये। यह एकाधिकरण अवश्य 'क्षुद्र इस्पात' नहीं होगा किन्तु यह कितना मानवीय होगा, इस में सन्देह है। शायद इसीसे

प्रेरित होकर डॉक्टर रामविलास शर्मा यह तथ्य स्वीकार करते हैं :

बँध न सकेगा लघु सीमाओं में लघु जीवन
लघु जीवन से अमर बनेगा बहुजन जीवन
अडिग यही विश्वास, क्षुद्र है जीवन चंचल
अनजानी है राह, यही साहस है सम्बल
यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है
भय से सिहर उठे वह तरुपात नहीं है !

जीवन लघु नहीं होता। उसका सतत प्रवाह बाँधा नहीं जा सकता। लघुता परिवेश की होती है। लघुता मानव के व्यक्तित्व की होती है ; जीवन अजस्र स्रोत के समान गतिमान फिर भी रहता है। उसे व्यक्तित्व के विकास में अधिक से अधिक अपनाया जा सकता है। परिवेश बड़ा भी हो सकता है विस्तृत भी, किन्तु इसकी सीमा मानव का व्यक्तित्व ही निर्धारित कर सकता है। उसे न तो कोई बाह्य मत स्थापित कर सकता है और न ही वह किसी अनजानी राह पर प्रगति करके ही अपनाया जा सकता है। उसे न तो नारे या प्रचार स्थापित कर सकते हैं और न ही वह किसी आडम्बर से जीवन ग्रहण कर सकता है। वस्तुतः यथार्थ का वास्तविक सौन्दर्य वहीं नष्ट हो जाता है जहां मानव की निष्ठा को त्याग कर किसी अनुभूतिहीन 'बहुजन जीवन' की घोषणा द्वारा सामान्य सौन्दर्य को सीमित करने की चेष्टा की जाती है।

'बहुजन जीवन' का सम्बल जब रूढ़ि बन जाता है तो व्यक्ति की मर्यादा नष्ट होती है और उसे व्यापक परिवेश नहीं मिल पाता। यह सत्य है कि छायावाद के कुण्ठाग्रस्त मानव ऊब कर 'बहुजन जीवन' का सम्बोधन अधिक मानवीय स्तर पर ग्रहण करता है किन्तु जब यह 'बहुजन जीवन' व्यक्ति मानव की निष्ठा को कुचलकर आगे बढ़ने की चेष्टा करता है तो उसमें वे सभी विकृतियाँ आ जाती हैं जो छायावाद में एक विभिन्न प्रकार से विकसित हुई थीं। अन्तर केवल इतना ही रह जाता है कि छायावाद रहस्य में उलझकर निरर्थक हो गया, प्रगतिवादी 'बहुजन जीवन' के नारे के साथ कलाहीन और प्रक्रियावादी सिद्ध हुआ। मानव नियति को यदि छायावाद ने आकाश की शून्यता में भटकने के लिए छोड़ दिया तो प्रगतिवादियों ने उसे उस रसातल को पहुँचा दिया जहां अन्धकार में मनुष्य के व्यक्तित्व को भेड़बकरियों के समान समझा जाने लगा। दोनों ही एक दूसरे की प्रतिक्रिया में टूट गये। वास्तविक मूल्यों से दोनों वंचित रहे।

छायावाद ने मानव अस्तित्व का अन्तिम सत्य केवल इस सीमा तक पाया कि ईश्वरत्व को मनुष्यत्व की सीमा में बांधना ही सर्वश्रेष्ठ समझा। ईश्वर का यह मानवीकरण, अथवा केवल ईश्वर में शान्ति, जो भी हो, उत्पन्न करना मानवीय स्तर की उपेक्षा है। यद्यपि इस प्रयास में यह तथ्य निहित था कि मानव जीवन का यथार्थ ईश्वरत्व की गरिमा पर आघात कर रहा था। फिर यथार्थ की उपेक्षा करके ईश्वर के मानवीकरण को श्रेयस्कर मानकर छायावाद पतनोन्मुख होने से बच नहीं सका। यही कारण है कि 'वीणा' से 'स्वर्णधूलि' तक के कालान्तर में पन्तजी की केवल दो सीमायें मिलती हैं—प्रथम में वे कहते हैं :

और नहीं तो अपना ही सा
मुझ को भी सीधा जीवन
हे सीधे मग-गामी दे दो
दिव्य, अप्रकट-गुण पावन—(वीणा)

किन्तु दूसरी सीमा पर स्वर्णधूलि में वे यथार्थ से अति मानवीय चेतना के समक्ष असमर्थ ईश्वर की दयनीय दशा देखकर कहते हैं:

ईश्वर को मरने दो
वह फिर भी जी उठेगा
वह क्षण-क्षण मरता, जी उठता
ईश्वर को नित नव स्वरूप धरने दो
शत रूपों में, शत नामों में, शत देशों में
शत सहस्र बल होकर उसे सृजन करने दो..

ईश्वर का यह विघटन यदि एक छोर पर यथार्थ का समर्थन करने में असमर्थ था तो दूसरी ओर प्रगतिवाद अपने समस्त बल-पौरुष से यथार्थ और मानव की अवहेलना करके यह स्थापित करने में व्यस्त था कि मानव जीवन केवल एक जघन्य क्रिया है:

नोन तेल लकड़ी की फिक्र में लगे घुन से
मकड़ी के जाले से, कोल्हू के बैल से,
मकाँ नहीं रहने को, फिर भी ये धुन से
गन्दे, अँधियारे और बदबू भरे दड़बों में
जनते हैं बच्चे।

प्रभाकर माचवे की यह कविता प्रगतिवाद की छत्र-छाया में लिखी गयी कविता थी। इसमें स्पष्ट है कि कवि के पास जीवन की दृष्टि एक सीमा के आगे प्रकाश नहीं पाती थी। प्रगतिवाद का सारा आन्दोलन इस दृष्टि से केवल उन विद्रोहियों का आन्दोलन बनकर रह गया जो किसी प्रतिक्रिया में उबल तो पड़ते हैं किन्तु जिनके पास न तो विद्रोह को बौद्धिक स्तर पर वहन कर सकने की क्षमता ही थी और न उसकी दृष्टि। उन्होंने मानव विशिष्टता का परित्याग इसलिए किया कि वह मानव व्यक्तित्व की अपेक्षा समाज और बहुजन-जीवन को स्थापित करने की चेष्टा थी। उन्होंने यथार्थ को माध्यम के रूप में स्वीकार किया, उसे वस्तुसत्य के रूप में वह देख नहीं पाये। परिणाम इन सब का यह था कि वे समाज-सत्य और यथार्थ दोनों के साथ न्याय नहीं कर पाये। वे एक तीसरे कक्ष में उतर गये और वह था सम्प्रदायवाद का। उन्होंने समझा कि उस सम्प्रदाय को स्वीकार कर लेने से यथार्थ का बोध होगा, सामाजिक सत्य अवतरित होगा। किन्तु हुआ यह कि उनके तर्क और उनकी दृष्टि केवल एक वृत्त में घूमती रही और वे केवल भ्रान्तिजनक तथ्यों का ढोल पीटते रहे। इसका प्रमाण हमें उस काल की कविता में स्पष्ट मिलता है। तारसप्तक के तीन प्रगतिवादी कवियों का सन्देह और उनकी भ्रमित आस्था, दृष्टि की सीमा के साथ कहती है :

मार्गदर्शक बोल दो—
हो रही हैं पुतलियाँ अनवरत चेष्टा से—
देखने की

....

किन्तु पथ दर्शक,
विवश मैं हार जाता हूँ, भयंकर मौन से
बेमाप अपने प्राण में छाये हुए एकान्त से
सतत निर्वासित हृदय से !
तिरस्कृत व्यक्तित्व के
थोथे असंगत दर्प ने मन की
सहज अनजान स्वाभाविक अनावृत धार को
कर दिया कुण्ठित—
सहज अंगारे
कि मानो दब गये हों, बुझे-से
जैसे कि ठण्डी राख से।

कहने को प्रगतिवाद के पास एकमात्र आशावादी जीवन-दर्शन, सामाजिक दायित्व और यथार्थ की दृष्टि थी, उसके पास इतिहास की विशिष्टता थी, आर्थिक

आन्दोलन की विशिष्टता थी, राजनीतिक मतवाद की विशिष्टता थी, किन्तु व्यक्ति उस समस्त वातावरण में कहीं टूट रहा था, कहीं वह इन सब आरोपित तथ्यों से पृथक् अपनी आत्म-उपलब्धि से वंचित था। उसका अपना व्यक्तिगत लघु परिवेश, उस समस्त व्यथा द्वारा तिरस्कृत एवम अपमानित हो रहा था। इसलिए वह बार-बार व्यक्तिनिष्ठा के विरुद्ध उन समस्त तथ्यों से समझौता कर रहा था जो एक चमत्कार के रूप में उसके सम्मुख प्रस्तुत थे। छायावाद का चमत्कार यदि रहस्य की ओर उन्मुख होकर पतनोन्मुख हो रहा था तो प्रगतिवाद अपने चमत्कार को सम्प्रदायवाद के रूप में पतन की ओर ले जा रहा था। इसी भाव का एक दूसरा रूप गिरिजाकुमार माथुर की कविता में मिलता है—

मैं शुरू हुआ मिटने की सीमा-रेखा पर
रोने में था आरम्भ किन्तु गीतों में मेरा अन्त हुआ।
मैं एक पूर्णता के पथ का कच्चा निशान
अपनी अपूर्णता में पूरन,
मैं एक अधूरी कथा

....

है अन्त हुआ जाता मेरा
इन अन्तहीन इतिहासों में
जाने कैसी दूरी पर से
मुझपर लम्बी छायां पड़ती
किसकी आधी आवाज़ भरी
मेरे बोझीले गिरते हुए उतारों में
मैं अधिकारी न होने वाली बातों का,
मैं अनजाना, मैं हूँ अपूर्ण। —**गिरिजाकुमार माथुर**

यदि नेमिचन्द्र जैन की पराजय मूल्यों के संक्रमण से ओतप्रोत है तो गिरिजा-कुमार माथुर की सम्पूर्ण कविता में एक स्थल ऐसा भी है जिसमें वह अपनी व्यक्तिनिष्ठा को ढलते और गलते पाते हैं, जिसकी परिणति उन्हें यह बोध कराती है कि वह अपूर्ण और पराजित हो चुके हैं और उनके असम्भव स्वप्नों की मिठास उस समस्त वातावरण में मिटती-सी प्रतीत होती है। यह असन्तोष उस काल के कवियों में अनेक रूपों में मिलता है। गजानन माधव मुक्तिबोध की कविताओं में तो व्यक्तिनिष्ठा और सामाजिक दायित्व का तथाकथित संघर्ष भरा पड़ा है। शायद इसी संघर्ष में उनकी सारी शक्ति टूटी भी है। बाह्यारोपित मतों के अनुकूल अपनी कलाप्रियता और व्यक्तिविभूति को वे पूर्णतः बदल भी नहीं पाये हैं किन्तु वह संघर्ष और वह व्यथा तो उनकी कविताओं में स्पष्ट दिखायी पड़ती है। शायद

इन सबसे अधिक स्पष्ट स्वर भारतभूषण अग्रवाल का है जो कुण्ठाग्रस्त होने के बावजूद भी यह स्पष्टतः पूछता है कि

> **कौन सा पथ है,**
>
> ....
>
> ....
>
> **पर महाजन-मार्ग-गमनोचित न सम्बल है न रथ है,**
> **अन्तरात्मा अनिश्चय-संशय-ग्रसित**
> **क्रान्ति-गति-अनुसरण योग्य है न पद सामर्थ्य**
> **कौन सा पथ है ?** —**भारतभूषण अग्रवाल**

अस्तु, प्रगतिवाद की अन्तिम परिणति उस भ्रान्तिजनक स्थिति में होनी थी जहां यथार्थ केवल माध्यम बनकर रह गया और दृष्टि केवल सम्प्रदाय की सीमा में बँध जाने के कारण भाव और व्यक्तिपक्ष के विरुद्ध दीवार प्रस्तुत करने लगी। यह दीवार यथार्थ की भी अवहेलना करके खड़ी की गयी थी और इसलिए वह टिक भी नहीं पायी। यथार्थ के प्रति उनकी क्या दृष्टि थी यह तो उस समय और भी स्पष्ट हो जाता है जब वे उसे केवल नीति (tactics) के रूप में मार्क्सवादी विचारधारा अथवा कम्यूनिज़्म को स्थापित करने में प्रयुक्त करते हैं। यथार्थ और मानव विशिष्टता दो तत्त्व के रूप में उन्हें स्वीकार ही नहीं होते; उनके सामने तो कम्यूनिस्ट नीति और उसके साथ यथार्थ की उपयोगिता (विशेषकर उस नीति को स्थापित करने के लिए) की ही समस्या प्रमुख है। इसलिए उनके सामने मनुष्य और यथार्थ से भी बढ़कर वह साम्प्रदायिक नीति महत्त्वपूर्ण है जिसकी पुष्टि करना वे महत्त्वपूर्ण और उपयुक्त समझते हैं।

इस बात की पुष्टि हमें उस समय मिलती है कि जब १९४२ में राष्ट्रीय आन्दोलन चल रहा था और कम्यूनिस्ट पार्टी की नीति मुस्लिम लीग की प्रशस्ति में लगी थी। इतने बड़े ऐतिहासिक उथल-पुथल को ये ऐतिहासिक दायित्व वाले लेखक केवल दलगत नीति, कम्यूनिस्ट नीति के कारण त्याज्य एवं बहिष्कृत समझकर मौन रूप में सो गए। इसके बाद बंगाल का अकाल आया जिसमें इनको भूखों मरने वाली जनता की अपेक्षा अमरीकी जहाज, हवाई जहाज और उनकी सेना भली लगती थी और वे बंगाल के अकाल के नाम पर उनकी प्रशस्तियाँ भी गाते फिरते थे। इससे बढ़कर इनका खोखलापन उस समय सिद्ध हुआ जब बी० टी० रणदिवे की नीति के अनुसार देश-विभाजन के बाद वे छः महीने की क्रान्ति का दावा लेकर मोर्चेबन्दी के कार्य में भिड़ गए। नागार्जुन की उस समय की कविताएं विशेष महत्त्व की हैं। अगिया बैताल और निरंजन शर्मा के नाम

से लिखने वाले प्रगतिवादी धुरन्धर डॉ० रामविलास शर्मा की कविताओं में भी उस समय इसकी झलक मिलती है। तथाकथित व्यक्तिवादी , कुण्ठाग्रस्त, अहंवादी लेखकों की बात छोड़िये, किन्तु यह जो ऐतिहासिक दायित्व और यथार्थ का नारा लगाने वाले प्रगतिवादी थे इनको भी बंगाल के अकाल की भांति स्वतंत्रता के बाद पंजाब की नरबलि उतना प्रभावित नहीं कर सकी जितना कि राजनीतिक मतवाद का वह चमत्कार जिससे ये क्रान्ति करके छः महीने में कम्यूनिस्ट शासन स्थापित करना चाहते थे। कहने का सारांश यह कि प्रगतिवाद ने न तो कभी मानव विशिष्टता को ग्रहण किया और न यथार्थ के वास्तविक सौन्दर्य को ही वह अपना सका। यदि छायावाद ने परलोक के रहस्य-मय चमत्कार के सामने प्रतिभा कुण्ठित कर ली तो इसने उसकी प्रति-क्रिया में अपनी प्रतिभा किसी अन्य विदेश में गिरवी रख दी। देश काल और इतिहास की दुहाई देने के बावजूद भी प्रगतिवादी यथार्थ की सापेक्षता के प्रति अनुत्तरदायी रहे और इन्होंने उसको केवल अपने भ्रमों के कारण निर्जीव बना कर छोड़ दिया।

प्रगतिवादियों ने कई और भ्रान्तियाँ पैदा कीं। केवल नीति की दृष्टि से इन्होंने अपनी विचारधारा में आधुनिकता को प्रश्रय नहीं दिया। ये आधुनिक केवल उस सीमा तक रहे जहाँ तक इनकी साम्प्रदायिक नीति ने इनको अनुमति दी। कम-से-कम काव्य-क्षेत्र में इनकी आधुनिकता उस सीमा तक नहीं पहुँची कि जिस सीमा तक विचार के क्षेत्र में कम्युनिज़्म विचारधारा में हो सकती थी। परम्परा पर इन्होंने चोट अवश्य की किन्तु वह भी सशक्त रूप में कम, शंकित रूप में अधिक। इन सबसे बढ़कर भ्रान्ति इन्होंने आधुनिकता और लोकतत्त्व के सम्मिश्रण से पैदा की जिसे ये अन्त तक नहीं सम्हाल पाये। लोकतत्त्व की पूजा या उसका संरक्षण इनको धारणा और विश्वास रूप में प्रेरित नहीं कर पाया, किन्तु नीति के अनुसार ये उससे चिपके रहे, क्योंकि लोकतत्त्व का पूर्णतः खण्डन करके भारतीय ग्रामीण जीवन का उपयोग अपने मतवाद की स्थापना के लिए करना असम्भव था। आगे चलकर जब इन दोनों तत्त्वों में विरोधाभास होने लगा--विशेषकर बी० टी० रणदिवे के काल से--तो यह भ्रान्ति इस सीमा तक बढ़ी कि प्रगतिवादियों ने आधुनिकता का खण्डन करके लोकतत्त्व को प्रोत्साहित करना प्रारम्भ किया। उस काल के हिन्दी साप्ताहिक 'नया सबेरा' और इस प्रकार के अन्य पत्रों में यदि देखा जाये तो आल्हा से लेकर बिरहा और कजली तक लोक भाषा में लिखी जाने लगी

थी; और साहित्यिक मानदण्ड को समाप्त करके ये केवल लोकजीवन के कल्याण पर पिल पड़े। साहित्यिक स्तर, सौन्दर्यबोध, यथार्थवाद, प्रगतिवाद ये सबके सब समाप्त होकर केवल लोकतत्त्व की शरण में जा बैठे थे क्योंकि भारतीय स्वतंत्रता के बाद देश को 'कॉलोनियलइज़्म' से मुक्ति दिलाने के नारे में यह निहित था कि आधुनिकता छोड़ो, साहित्य छोड़ो, सौन्दर्यबोध को गिरवी रख दो और अगिया बैताल के साथ लाठी लेकर जुट जाओ।

प्रगतिवाद के इन मिथ्या आडम्बरों ने यथार्थ के नाम पर जो कलंक लगाया वह इस सीमा तक बढ़ गया कि कोई भी अपने को यथार्थवादी कहलाने के लिए तैयार नहीं था। प्रगतिवाद के लेखकों में से शमशेरबहादुर सिंह तक ने अपनी एक कविता में यह स्पष्ट लिख दिया कि शमशेर मर गया——मर गया शमशेर... किन्तु यह मृत्यु किसकी थी? किस सत्य की मृत्यु थी? क्या इसमें यथार्थ मर रहा था? क्या इसमें शमशेरबहादुर सिंह की गजलें और गीत मर रहे थे? क्या उनकी प्रतिभा मर रही थी? वस्तुतः उनकी कविता द्वारा प्रगतिवाद का वह भोंडापन, प्रतिक्रियावादी तत्त्व पतनोन्मुख हो रहा था जो समस्त यथार्थ की उपेक्षा करके वस्तुस्थिति, सौन्दर्य तत्त्व, प्रतिभा और विवेक की हत्या करके अपना अस्तित्व जमाना चाह रहा था। प्रयोग के नाम पर प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों को हतोत्साह किया जा रहा था, फॉर्मलिस्ट होने के अपराध में प्रगतिवादी क्षेत्र के लोग अन्य कवियों को फ्रांस का पतनोन्मुख अनुकरणकर्ता सिद्ध कर रहे थे, अहं और व्यक्तिनिष्ठा का वास्तविक मूल्यांकन न करके उन्हें वर्जनाओं की परिधि में घेर दिया गया था; अच्छे-अच्छे प्रतिभा वाले लेखक 'संयुक्त मोर्चे' से लेकर 'मिलिटेण्ट साहित्य' तक के गोरख-धन्धे में भटक रहे थे। काव्य का वास्तविक मूल्य और साहित्यिक मानदण्ड के स्थान पर सत्य था 'तेलंगाना'; सत्य थे 'स्टॉलिन'; सत्य था 'विद्रोह'; सत्य था 'मध्यवर्ग' का तिरस्कार, खेतिहर मजदूरों का मनगढ़न्त क्रांतिपूर्ण लोमहर्षक युद्ध!

किन्तु इन भ्रान्तियों के बावजूद भी साहित्यिक दृष्टि कहीं न कहीं अपने वास्तविक सन्दर्भ में प्रस्तुत थी। उसने यथार्थ को मानवीय विशिष्टता के साथ ग्रहण करने की चेष्टा की थी। यह दृष्टि विरोधी तत्त्वों की उपेक्षा के होते हुए भी अपनी कला-सम्बन्धी मान्यताओं में दृढ़ थी। युद्ध ने समस्त मानव चेतना को यथार्थ का कटु रूप तो दे ही दिया था साथ ही साथ युद्ध ने यथार्थ की शक्ति का भी बोध करा दिया था। छायावादी उसके सामने अपना समस्त सौन्दर्य लेकर टिक नहीं सकते थे। प्रगतिवादी यद्यपि विकसित हुए थे उसी काल में किन्तु उनमें वहन करने की सामर्थ्य ही नहीं थी। गीतकार अपनी प्रेयसी की लोकलज्जा लेकर सिमट गया था, क्योंकि यथार्थ के जो

नए धरातल विकसित हो रहे थे उनके सामने केवल झीना-सा मान लेकर चलना असम्भव था। यद्यपि गिरिजाकुमार माथुर ने आलोचना, अंक १२ में नयी कविता का भविष्य बताते हुए केवल रस, रंग और रोमान को ही जीवित रहने वाला सत्य बताया है और रंगीन चूड़ियों से लेकर रेडियम की छाँह तक की सीमा में समस्त सौन्दर्यबोध को सीमित करना चाहा है, फिर भी यह सत्य है कि उनका सारा तर्क-वितर्क यथार्थ की अवहेलना और उसके विकास-शील धरातल के समक्ष टिक नहीं सकता। इसका यह आशय कदापि नहीं है कि जीवन में रस, रंग और रोमान का महत्त्व नहीं है, किन्तु यह कहना कि केवल यही प्रवृत्ति प्रतिनिधि है, गलत होगा। सामाजिक यथार्थ के स्तर शायद युद्ध के बाद अधिक तीव्रता से उभरे हैं। रंग, रस, रोमान की प्रवृत्ति को यदि आज का यथार्थ सम्बोधित नहीं करता, उसे छूता नहीं तो वह रंग, रस अधूरा होगा ; उसमें एकांगीपन होगा, विकृतियां होंगी और वह सन्दर्भ- हीनता के कारण प्रषणीय भी नहीं होगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि यथार्थ के वे कौन से धरातल हैं जो इस युग में आधुनिक परिवेश के साथ विकसित हुए और जिन्होंने छायावाद और प्रगति-वाद के विरुद्ध नए स्तरों को प्रेषणीय बनाने का प्रयास किया? यह प्रश्न जितना स्पष्ट है उतना ही कठिन भी, क्योंकि वर्तमान स्थिति में निखरे हुए तत्त्वों के समक्ष विवेचन उतना सरल नहीं है। प्रयोग काव्य के प्रत्येक स्तर पर हो रहे हैं; शिल्प, विषय-वस्तु, भाव, स्थिति और दृष्टिकोण में आज की कविता किसी एक बिन्दु पर सीमित नहीं रह सकी है। उसने कभी निष्प्राण धरातलों को नष्ट किया है, कभी परम्पराओं को तोड़ा है, कभी शब्दों के आयामों को नयी तराश दी है; कहीं भावना-स्तर के तत्त्वों को तोड़कर परखा है तो कहीं बिखरे हुए तत्त्वों को सँजोया है। यदि नयी कविता ने तथाकथित प्रगतिवाद को नया परिवेश दिया है तो दूसरी ओर उसने यथार्थ के स्तरों को अधिक निकट से देखा है। छायावादी इस यथार्थ को भोगने की अपेक्षा इसे त्याज्य समझता था, इसलिए उसने यथार्थ से पृथक् कल्पनायें गढ़कर यथार्थ की अवहेलना करने को सबसे बड़ा मूल्य मान लिया था। प्रगतिवादी यथार्थ के नाम पर साम्प्रदायिक तत्त्वों की संकीर्णताओं में उलझ गया था, इसलिए उसमें भी यथार्थ का साक्षातकार न कर उसे वहन करने अथवा भोगने की क्षमता नहीं थी। इन दोनों से पृथक् नयी कविता ने इस यथार्थ को उसके औचित्य के साथ स्वीकार किया! मानवीय स्तर पर नयी कविता न तो वस्तु-स्थिति से पलायन करने में विश्वास करती है और न उससे मुक्ति चाहती है। यथार्थ की नीरसता, तिक्तता, विद्रूपता को सहन करके नयी कविता मानव

विशिष्टता और विवेक के आधार पर उसके नए स्तरों और संभावनाओं को विकसित करती है। और आज की यथार्थ स्थिति उसे यह शक्ति देती है कि वह सब कुछ सहन करे, सजीव चेतन प्राणी की भांति उसे भोगे और उससे साहचर्य स्थापित करने में अन्यथा स्नॉबरी या कूटनीति का छल न उपजाये। शायद यह दृढ़ भावना उसे यह शक्ति देती है कि उसका स्वर बार-बार यह कह उठता है :

कौन कल तक बन सकेगा कवच्च मेरा ?
युद्ध मेरा, मुझे लड़ना,
इस महाजीवन सफर में अन्त तक कटिबद्ध :
सिर्फ मेरे ही लिए यह व्यूह घेरा
मुझे हर आघात सहना
गर्भ निश्चल मैं नया अभिमन्यु, पैतृक युद्ध । —कुँअर नारायण

यथार्थ का अन्य धरातल हमें सौन्दर्य-बोध के उस पक्ष में मिलता है जहां यथार्थ सौन्दर्य को नए भावबोध और नयी वृत्ति में मानवीय विशिष्टता को स्थापित करके देवत्व और साम्प्रदायिक तत्त्वों से पृथक् एक नया स्वाभिमान प्रस्तुत करता है। यह नयापन अनुभव विशेष है जो यथार्थ को जीवन से सम्बन्धित करके उसमें व्यक्तित्व की स्पष्टता प्रदान करता है। सौन्दर्य की अखण्डता और उसके ठहराव के प्रति विद्रोह करके उसे कर्मशील जीवन के समक्ष देखता है। समस्त मानव चेतना स्थिर होकर किसी भी सौन्दर्य को पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सकती, उसे उस सब में भाग लेना है जो उसके चारों ओर विकसित हो रहा है; और इस भाग लेने में उसे इस बात का ध्यान रखना है कि वह केवल यन्त्रवत् भाग नहीं ले सकता वरन् उसे उन स्तरों के क्षेत्रों में जाना पड़ेगा जो जीवन की गति में आते हैं। सौन्दर्य का केवल आत्मविभोर करने वाला जादू मनुष्य को निष्क्रिय बनाता है। इस धरातल पर आकर जीवन के यथार्थ ने मनुष्य के भावस्तर को इस बात के लिए भी प्रेरित किया कि वह अपनी प्रत्येक अनुभूति को एक व्यापक प्रवाह में संघर्षरत होने दे और उस संघर्ष से, यथार्थ के प्रति सहानुभूति एवं रूढ़ि से, जूझने में जो-जो उपलब्धियाँ हों उनको ग्रहण करे। छायावाद स्वयं 'स्वच्छन्द' होते हुए इस सीमा तक की व्यापकता को सहन करने में असमर्थ था। किन्तु दूसरी सीमा पर प्रगतिवाद द्वारा उसका संस्कार बदलता जा रहा था। अस्तु, सौन्दर्य और यथार्थ ये दोनों एक दूसरे के पूरक बनकर प्रस्तुत होने लगे। रस जो

केवल सीमाओं और अलंकारों में बन्दी था उसे विस्तृत रूप से प्रस्तुत होने का अवसर मिला और इस आधार पर जीवन का वह व्यापक क्षेत्र जो केवल उपेक्षित और तिरस्कृत समझा जाता था वह भी अनुभूतियों के स्तर पर अवतरित होने लगा। सौन्दर्य की बाह्य स्थापना स्वयं बाह्योन्मुख न होकर जीवन की सीमाओं में पनपने लगी और नयी अनुभूति ने यह अनुभव किया कि :

कर्म रत हो,
स्वप्न मत देखो
कहीं उन्माद रह जाए न भौंरों का
निरर्थक गीत उद्दीपन
इस गली के छोर पर बुनियाद डालो :
कोठरी में दीप की लौ
सेंकती ठण्डा अंधेरा
इन्हीं पर्तों में कहीं सोया हुआ है
रूप का गोरा सबेरा

—कुँअर नारायण

वर्तमान जीवन के यथार्थ का एक धरातल इस तथ्य में प्रकाशित हुआ कि मानवीय सम्वेदनाओं के समक्ष वर्जनायें नहीं रह गयीं। यथार्थ ने मनुष्य को यह चेतना दी कि वह मात्र इतिहास के क्रमिक विकास का यंत्रवत्‌रूप नहीं है वरन् वह स्वतः एक चेतन प्राणी है जो इतिहास के मोड़ों में भाग लेता है, इतिहास को उतनी ही तेजी से प्रभावित करता है, बदलता है जितनी तेजी से कि कोई ऐतिहासिक सत्य उस पर घात-प्रतिघात करता है। इस धरातल पर आकर यथार्थ ने समूचे मानव व्यक्तित्व के समक्ष उसका बौनापन और उसकी सीमित लघुता को भी एक नयी शक्ति दी। बौनेपन या छोटेपन की जिस अनुभूति ने छायावाद-युग में मनुष्य को केवल द्रष्टा के रूप में रख छोड़ा था और प्रगति-काल में जो मानवीय अनुभूति एक बाह्य मन्तव्य और नीति के सामने आत्मसमर्पण की गूंज से टूट चुकी थी उसे एक नया सम्बल मिला और मनुष्य ने यह अनुभव करना आवश्यक समझा कि वह उन व्यापक सत्यों का भागी है, उनके यथार्थ में सम-भोगी है जो उसके चारों ओर विकसित होता है। इतिहास का दायित्व मात्र ऐतिहासिक गति से बँधा हुआ नहीं रह सका; उस गति का अर्थ और उसके सन्दर्भ में मानव परिभाषायें, मानव सत्यों का क्रियाशील योग इस बात के लिए तत्पर हुआ कि वह सम्पूर्ण यथार्थ को स्वयं ग्रहण करे, उसके परिप्रेक्ष्य और आयामों को अपना योग दे। यह योग जागरूकता का योग है, विद्रोह का योग है। इसलिए उसमें वर्जनाओं का मिटना स्वाभाविक है, कुण्ठाओं की समाप्ति आवश्यक है।

बीसवीं सदी की जटिल समस्याओं ने
मुझे उत्पन्न किया,
अकाल मृत्यों के परिवार ने
मेरा लालन-पालन किया
शत-शत वैयक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक
ग्रन्थियों से मेरा निर्माण हुआ,
आगे-पीछे के युग ने
मुझे हैरत से देखा––
यह––यह क्या है ?
कुछ ने ताने मारे
कुछ ने व्यंग्य कसे
कुछ ने ऐसी श्रद्धा से मेरी ओर देखा
कि मैंने अनुभव किया –
मैं तीनों देवताओं की सम्मिलित शक्तियों का
नया पुरुष रूपान्तर हूँ।
घबराकर मैंने सोचा––
मुझे संहार करना ही होगा
अपना या अपने युगका। ––राजेन्द्र किशोर

इस नयेपन के भावबोध के पीछे यथार्थ की वह कटुता भी है जो मनुष्य के कोमल और यथार्थ अस्तित्व को बार-बार चुनौती देती है। आज के कवि में जीवन की कटुता को झेलने की शक्ति है, साहस है और इसके साथ उसको विवेकगत संगति देने की क्षमता भी है। वह यह भी जानता है कि यथार्थ के इस पक्ष को केवल उपेक्षा की दृष्टि से देखकर आगे नहीं बढ़ाया जा सकता और यही विवेक है जो कटुता के प्रति भय की भावना नहीं उत्पन्न करता और न उसे अयथार्थ, वैयक्तिक सत्य मानकर उसका तिरस्कार करता है। उसके भावबोध में यह स्पष्ट है कि इस कटुता की स्वीकृति में जो भी वेदना मिलती है वह बेकार नहीं होती. . वह दृष्टि देती है. . जीवन को उच्छृंखल बनाने की अपेक्षा उत्तरदायी बनाती है।

सच मानो प्रिय
इन आघातों से टूट-टूटकर रोने में कुछ शर्म नहीं
कितने कमरों में बन्द हिमालय रोते हैं
मेजों से लगकर सो जाते कितने पठार
कितने सूरज गल रहे अंधेरे में छिपकर
हर आँसू कायरता की खीझ नहीं होता। ––विजयदेवनारायण साही

जीवन की कटुता और उसका प्रभाव आज के सौन्दर्य-बोध से पृथक् नहीं किया जा सकता। यथार्थ का यह अनुभव मानव भावबोध को नया सन्दर्भ तो देता ही है, साथ ही साथ अनुभूतियों को नया परिवेश भी प्रदान करता है। यह परिवेश महामानव के अस्तित्व से पृथक् लघुमानव के लघु परिवेश की स्थापना करके उसे आत्मनिष्ठा की ओर अग्रसर करता है। प्रगतिवाद ने लघु-मानव के अस्तित्व को तथाकथित सामाजिक यथार्थ की बलिवेदी पर चढ़ा दिया था। उस काल का समस्त भावस्तर जीवन के यथार्थ से साक्षात्कार न करके ऐतिहासिक यथार्थ का नकाब ओढ़कर लघुमानव की लघुता को आत्म-बल नहीं दे पा रहा है। यथार्थ के धरातल के उस स्तर को जिसमें जीवन की समग्रता विकसित होकर व्यक्तित्व को पूर्ण बनाती है प्रगतिवादी जानने पह-चानने से इन्कार करते थे। युद्धोपरान्त जीवन ने यह अनुभव किया कि वास्त-विक रूप में सार्थकता लघुता का अस्तित्व स्वीकार किये बिना असम्भव है।

अस्तु, इस उपलब्धि से ही यथार्थ का वह धरातल विकसित हुआ जिसमें आज के वैज्ञानिक तत्त्वों के प्रति मनुष्य का ध्यान गया और उसने यह माना कि किसी भी मानवीय संवेदना का वास्तविक प्रारूप उसके व्यक्तिगत (per-sonal) तत्त्वों के योग से ही विकसित हो सकता है। व्यक्तिगत अनुभूतियों को केवल विकृत एकाकी (obscurity) अथवा एकांगी कहकर नहीं टाला जा सकता। बिना इस व्यक्तिगत तत्त्व को उचित महत्त्व दिये सौन्दर्य का विराट अथवा उसका सम्पूर्ण बोध नहीं हो सकता। छायावाद के पास व्यक्ति-गत रूप में देने की कोई क्षमता ही नहीं थी, प्रगतिवाद में सम्भावना तो थी किन्तु वह यथार्थ से पृथक् होकर दूसरी मरीचिका में फँसा हुआ था। और इन दोनों के संघर्ष में जिस चेतनशील कलाबोध का रूप विकसित हुआ उसने यथार्थ के परिवेश को समझने की चेष्टा की। और इस प्रकार नये धरातल ने व्यक्तिगत तत्त्व को कला का आवश्यक अंग बनाया। मानव स्वा-भिमान को एक बार आत्मविश्वास का आधार मिला।

शायद कल,
टूटी बैसाखी पर चलकर
फिर मेरा खोया प्यार
वापस लौट आये
शायद कल
प्रकाश-स्तम्भों से टकराकर
फिर मेरी अन्धी आस्था
कोई गीत गाये

किसी के कन्धों पर या चढ़कर
फिर मेरा बौना अहम्
विवश हाथ फैलाये ।
तजो,
इस सूखी रागों में तजो
ओ काठ की घटियाँ तजो —सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

सौन्दर्यबोध के स्तर पर नए यथार्थ ने अमूर्त्त (abstract) की अपेक्षा मूर्त्त सौन्दर्य के प्रति विशेष आग्रह किया। यह मूर्त्त की सार्थकता आज के औद्योगिक जीवन की देन है। इसलिए समस्त मानव चेतना आज इतनी जागरूक बन गयी है कि वह सौन्दर्य की स्थिरता को ग्रहण ही नहीं कर सकती। जो यथार्थ सौन्दर्य की स्थिरता को अस्वीकार करके बृहत् मानव जागरूकता पर आधारित होगा उसमें अमूर्त्त के प्रति स्वाभाविक विद्रोह भी अवश्य होगा। यथार्थ का यह नया धरातल मूर्त्त सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य को अमूर्त्त की अपेक्षा अधिक सशक्त उपलब्धि मानता है। सत्य, शिव या इस प्रकार के अन्य भावों की उपादेयता इस जागरूक बौद्धिक एवं मानव विशिष्टता के समावेश में प्रत्यक्ष और अनुबोधन (perception) की स्पष्टता को नया अर्थ देती है। हो सकता है इस भावना में सीमायें अधिक हों किन्तु ये सीमायें अन्ततोगत्वा मानवीय सीमायें ही होंगी, जिन्हें स्वीकार करना अधिक उचित होगा। आज का मानव यथार्थ के बल पर और अपनी विशिष्टता के विश्वास पर जीवन के कटु से कटु अनुभवों के बीच भी जीने की क्षमता पाता है। अमूर्त्त सौन्दर्य, स्थिर सौन्दर्य वह उपलब्धियाँ नहीं दे सकता जो जागरूक, क्रियाशील, मूर्त्त सौन्दर्य का परिप्रेक्ष्य दे सकता है।

सामाजिक चेतना के स्तर पर आज का यथार्थ उस धरातल को विकसित करता है जहाँ सामाजिक सत्य और सामाजिक उपलब्धियां बाह्यतः आरोपित न होकर आत्मप्रेरित होती हैं। यह आत्मप्रेरणा कोई आध्यात्मिक या सत्यवादी मानसिक स्थिति न होकर विशुद्ध मानवीय स्तर की मानसिक स्थिति है। यह मानसिक स्थिति उन समस्त आरोपों का खण्डन करती है, जो ऐतिहासिक यथार्थ के नाम पर ऐतिहासिक दायित्व की उपेक्षा करके व्यक्ति की समस्त जागरूकता की आहुति माँगते हैं। सामाजिक सत्य का एक बहुत बड़ा अंश व्यक्ति सत्य से निर्मित होता है। कहा जा सकता है कि यह व्यक्ति सत्य के कुण्ठाग्रस्त रूप की दूसरी परिभाषा है; किन्तु साहित्य, कला और कविता के क्षेत्र में बिना इस व्यक्ति-सत्य की उपलब्धि को स्वीकार किये रचना के काव्यगत सौन्दर्य का रूप नहीं विकसित होता। आज का कवि जब यथार्थ की

दृष्टि को स्वीकार करता है, उसके धरातल और परिवेश की सार्थकता को मानता है, तो उसके साथ वह यह स्वीकार करता है कि यथार्थ का कोई भी रूप, चाहे वह सामाजिक हो या वैयक्तिक, उसमें इस बात का आग्रह निहित है कि वह उस प्रकार के कुण्ठाग्रस्त अविवेक के प्रति श्रद्धानत नहीं है जो यथार्थ की गतिशक्ति (dynamics) के प्रवाह में गतिरोध प्रस्तुत करता है। ऐसा इसलिए है कि व्यक्ति की विशिष्टता यह है कि वह सामाजिक यथार्थ की गतिशक्ति तत्त्व के समक्ष स्थिर नहीं है। वह सामाजिक यथार्थ के घात-प्रतिघात को उतना ही प्रभावित करता है जितना कि सामाजिक यथार्थ उसे प्रभावित करता है। इसलिए इस पारस्परिक घात-प्रतिघात में कुण्ठा और कुत्सा स्वयं परिष्कृत होती रहती है। बाह्यारोपित उपलब्धियों में यह प्रक्रिया नहीं होती। इसलिए वे सतही और झूठी भी सिद्ध होती हैं। प्रमाण के लिए प्रगतिवाद का अधिकांश साहित्य इस बाह्यारोपित उपलब्धि के कारण चेतनाहीन होकर रह गया है।

जहाँ यथार्थ ने आधुनिक दृष्टि को बौद्धिक सहगमन और सहयोग की शक्ति दी है वहीं उसने इस सामाजिक चेतना को भी एक नया स्तर दिया है। मानव इतिहास में युग-पुरुष युग-मानव, युग-निर्माता और अधिनायक के रूप में महामानव की प्रशस्ति करके यह देख लिया गया है कि प्रत्येक ऐसी दृष्टि सामाजिक यथार्थ की उपेक्षा करके परम्परा स्थापित करती है। समग्र मानव चेतना को एक सीमित मानव प्रतिनिधि बनकर उसकी इकाइयों का विनाश करता है। किन्तु यदि प्रत्येक मानव अपनी विशिष्टता के साथ विवेकशील है, और सामाजिक यथार्थ को भोगने, बदलने और रूप देने में, बिना किसी श्रेणी के विभाजन या साम्प्रदायिकता के, योगशील है तो यथार्थ को एक नया रूप अवश्य मिलता है। युद्धोत्तर काल की पृष्ठभूमि में यथार्थ का वह धरातल बड़ी तेजी से उभरा है। सामाजिक-चेतना और व्यक्ति-चेतना के बीच जो दीवार जान-बूझकर बनायी गयी थी और जिसे तथाकथित कम्यूनिस्ट पार्टी के सांस्कृतिक वक्तव्यों में बार-बार प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की गयी थी वह दीवार स्वतः टूट गयी। इतिहास ने यह अनुभव किया कि कम-से-कम साहित्य, कला और काव्य के क्षेत्र में सामाजिक यथार्थ का यह रूप नहीं चल सकता; इसे टूटना पड़ेगा क्योंकि विगत युद्ध में सामाजिक यथार्थ टोटेलिटेरियन रूप में अथवा फासिस्ट रूप में खोखला सिद्ध हो चुका था और व्यक्ति वर्तमान स्थिति में यह समझने लगा है कि इन माध्यमों से कोई भी उचित उपलब्धि नहीं मिल सकती। वस्तुतः वर्तमान युद्धजनित संस्कृति की पृष्ठभूमि में व्यक्ति ने यह अनुभव कर लिया कि सामाजिक यथार्थ के बाह्य आरोपण से एक विशिष्ट

वर्ग भले ही समुन्नत हो ले किन्तु सम्पूर्ण मानव समाज उससे समग्रता नहीं प्राप्त कर सकता।

गतिशील यथार्थ परम्परा का खण्डन करता है इसलिए वह सदैव उस दिशा का प्रतिनिधित्व करता है जो समसामयिकता के प्रश्न को जीवन का सशक्त अंश मानती है। परम्परा की गतिहीनता यथार्थ की गति के साथ चल नहीं पाती। आज का, विशेषकर यान्त्रिक युग का मनुष्य परम्परा के ठहराव के साथ जीवित ही नहीं रह सकता। यथार्थ के साथ मानव चेतना का ऐतिहासिक दायित्व सम्बद्ध है। परम्परा केवल यथार्थ के मोह से प्रभावित होकर अतीत और विगत की निष्ठा है। परम्परा गतिहीन होकर बहुधा हमें भी गतिहीन बना देती है। समसामयिकता का आग्रह यथार्थ का आग्रह है और यह बोध काव्य को अधिक मानवीय स्तर प्रदान करता है। नयी कविता के समक्ष परम्परा का उतना ही अंश ग्राह्य है जो जीवन्त तत्त्वों के साथ विकास का सहायक है। इसके विपरीत प्रगतिवाद परम्परा और यथार्थ में उचित सम्बन्ध स्थापित करने में समसामयिकता के दायित्व को भूल जाता है। बाह्यारोपित यथार्थ के समर्थक होने के नाते वह यह मानता है कि परम्परा का खण्डन या विद्रोह, लोकपरम्परा का खण्डन या उसका विद्रोह उसकी संगठन-शक्ति को कमजोर और कृत्रिम बना देगा। इसीलिए वह अपने उस ऐतिहासिक दायित्व के प्रति कभी भी जागरूक नहीं हो सका जो समसामयिकता के आधार पर उसके लिए अनिवार्य था। नयी कविता ने इस दायित्व के निर्वाह करने का साहस किया है। उसने परम्पराओं को तोड़ा है। तोड़ा इसलिए कि परम्परायें विकृत रूप में, सारे बोध स्तर पर लदी हुई थीं, उनका कोई उपयोग नहीं था, वे अयथार्थ के अधिक निकट थीं। नयी कविता का यह साहस कुछ लोगों को निन्दनीय भी लग सकता है किन्तु यह आज की समसामयिकता का दायित्व था। इसे छोड़कर या इसके प्रति अनुत्तरदायी रहकर यथार्थ की अवहेलना करना शायद अधिक घातक सिद्ध होता इसलिए इस कटु किन्तु कल्याणमयी प्रवृत्ति से नयी कविता बच नहीं सकती थी।

जैसे परम्परा के प्रति नयी कविता ने विद्रोह किया है, उसकी विकृतियों का विरोध किया है, ठीक उसी प्रकार आज के यथार्थ के रूप में उसने उस अध्यात्मवाद का भी खण्डन किया है जो मात्र अपनी निरपेक्ष सत्ता के आधार पर जीवित रहना चाहता है। यह परिणति यथार्थ की माँग है। आज के वैज्ञानिक जीवन से बँधा यथार्थ अध्यात्म की अपेक्षा आत्मनिश्चय और आत्मबल को अधिक मूल्यवान समझता है। जहां यथार्थ वास्तविक रूप में व्यक्ति को महत्त्व देता है, उसकी विशिष्टता, समसामयिकता और विवेक को स्थापित करता है, वहीं

आज का कवि यह स्वीकार करता है कि आज के जीवन के समक्ष कोई भी दर्शन या चिन्तन केवल ईश्वरीय या दैविक अनुभूति पर नहीं टिक सकता। ऐसा इसलिए है कि उसमें असंगति है। असंगति इस बात की है कि यह जीवनेतर सत्य की स्थापना करता है। जीवनेतर सत्य और चाहे जो हो वह यथार्थ का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता; क्योंकि यथार्थ जीवन की समग्रता, उसके संघर्ष, संकल्प, विकल्प में पनपता है और उससे परिचालित होकर जीवन के प्रति एक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है। यह बात भी नयी कविता के कुछ आलोचकों को बुरी लग सकती है। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि कविता मूलत: अध्यात्म की वस्तु ही है किन्तु आज के सन्दर्भ में अध्यात्म का जीवनेतर सत्य नितान्त बौद्धिक स्तर पर ग्राह्य नहीं हो सकता। आध्यात्मिक सत्य, सत्य-सापेक्ष नहीं है। उसमें संस्कार, परम्परा और विश्वास की रूढ़ि अधिक है। जैसे नयी कविता चमत्कार को सत्य नहीं मानती, उसी प्रकार वह अध्यात्म के आग्रह को भी परम्परा-रूप में स्वीकार नहीं करती।

आज का यान्त्रिक युग एक सत्य है। यन्त्रों की सहायता से मनुष्य-चेतना-स्तर को नये आयाम मिले हैं। वैज्ञानिक अन्वेषणों ने प्रकृति का अपराजेय रूप खण्डित किया है। विश्लेषण बुद्धि ने प्रकृति और मनुष्य का एक नया सम्बन्ध स्थापित किया। जिस अंश तक यह उपलब्धियाँ हमारे साथ हैं उस सीमा तक अध्यात्म का बहुत बड़ा क्षेत्र रहस्यगर्भित न होकर वस्तुपरक बन गया है। यह वस्तुपरक दृष्टि हमारे आन्तरिक कुहासे और अन्धकार को, उसकी विचित्र उक्ति (fantasy) और चमत्कार को, एक दूसरे स्तर पर ले आयी है। आज तड़ित्, दामिनि, मेघ, जल-प्लावन, आँधी इन सबका एक नया रूप हमारे सामने है। मानव विजय की गाथा से इनका सन्दर्भ संबंधित है। आज ये हमारे भीतर आदिकालीन भाव नहीं पैदा कर सकते; इनका चमत्कार भी आज नष्ट हो गया है। भय, मोह, आदर, श्रद्धा के रूप भी आज के सन्दर्भ में बदले हैं। मनोवैज्ञानिक सत्यों ने इनका भी रहस्य उद्घाटित किया है। इस उद्घाटन में काफी अंश ऐसा है जिसे हम तिरस्कृत नहीं कर सकते। बहुत कुछ ऐसा है जो नए सत्य के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होता है। अस्तु, इन सबके साथ जब हम जीवन को देखते हैं, उसके परिप्रेक्ष्य का अध्ययन करते हैं, उसकी अनुभूतियों से प्रभावित होते हैं, तो रहस्य या अध्यात्मवाद, या अन्य विश्वास, या केवल श्रद्धा का निरपेक्ष स्वीकार करना कठिन हो जाता है। ये सब स्थितियां इस बात को प्रमाणित करती हैं कि यथार्थ की गतिशक्ति (dynamics)

हमें जिस वस्तुस्थिति का साक्षात्कार कराती है वह रहस्यात्मक नहीं, विश्लेषणात्मक है। नयी कविता इस अंश को स्वीकार करती है।

अस्तु, यथार्थ के धरातल से हमारा आशय है आज के जीवन के सन्दर्भ में विकसित वे भावस्तर जिनकी पृष्ठभूमि में आज के मानव की सम्पूर्ण चेतना-वृत्ति जीवन की वस्तुस्थितियों के साथ जीवित रहने की क्रियाशीलता स्वीकार करती है। जीवन की इन समस्त स्थितियों में, यथार्थ के समवेत भावस्थल में वह मार्मिक सत्य प्रस्फुटित हो रहा है जो हर दर्द, हर तीखी अनुभूति के साथ हमें अधिक जागरूक बना देता है। नयी कविता की यह स्वीकृति युग की परिस्थितियों की स्वीकृति है।

उतरो थोड़ा और
पानी कुछ हो, आने दो
रासायनिक धुन्ध के इस चीकट कम्बल की नयी घुटन को :
मानव का समूह-जीवन इस झिल्ली में ही पनप रहा है।
उतरो थोड़ा और ;
धरा पर ।
हाँ, वह देखो ?
लगते ही आघात ठोस धरती का
धमनी में भारी हो आया मानव-रक्त और कानों में
गूंजा सन्नाटा संसृति का ?
उतरो थोड़ा और :
साँस ले गहरी
और पैर रक्खो मिट्टी पर
खड़ा मिलेगा
वहाँ सामने तुम को
अनपेक्षित प्रतिरूप तुम्हारा
नर, जिस की अनझिप आँखों में नारायण की व्यथा भरी है।

—अज्ञेय

जहाँ आज के यथार्थ में वस्तुस्थिति और यथार्थ की यह ध्वनि है और इसकी उपलब्धि है, वहीं संघर्षरत और आस्थामय स्वर भी है। यह आस्था अध्यात्म और तथाकथित दर्शन की आस्था से भिन्न यथार्थ की आस्था है और इसमें वनश्री के चरणकमल में झुककर श्रद्धा का ऐतिहासिक रूप न होकर स्वस्थ और क्रियाशील रूप है। यह आस्था मूक स्वरों में पीड़ा वहन करने की आस्था नहीं है वरन् इस समस्त पीड़ा को वहन करने के साथ-साथ उसको नए अर्थ और

नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने की आस्था है। भारती के शब्दों में—

जीवन है कुछ इतना विराट इतना व्यापक
उसमें है सब के लिये जगह सब का महत्त्व
ओ मेजों की कोरों पर माथा रख रख कर रोने वाले
यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ यह सब का है
सबने पाया है प्यार, सभी ने खोया है
सबका जीवन है भार
और सब जीते हैं
बेचैन न हो
यह दर्द अभी कुछ गहरे और उतरता है
तब एक ज्योति मिल जाती है
जिसके मंजुल प्रकाश में सब के अर्थ नये खुलने लगते
. . . .
हर एक दर्द को नये अर्थ तक जाने दो —धर्मवीर भारती

यथार्थ की यह प्रतिक्रिया और उसकी यह उपलब्धि कि हर एक दर्द को नए अर्थ तक जान दो—नयी कविता की अन्वेषण दृष्टि है। जो सौन्दर्यबोध या यथार्थ के आयामों को स्थिर मानते हैं वे इस अन्वेषण की स्वीकृति को अपरिपक्व और अधकचरा समझते हैं। विशेषकर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह मत है कि इन्होंने अभी मंजिलें नहीं पायीं हैं इनका महत्त्व क्या है। किन्तु यह वह भूल जाते हैं कि कला के क्षेत्र में मंजिल कोई स्कूली परीक्षा नहीं है वह एक क्रमबद्ध श्रृंखला है। प्रत्येक मंजिल या प्रत्येक उपलब्धि दूसरी के लिए अन्वेषणरत रहती है। यदि वह क्रम और श्रृंखला समाप्त हो जाये तो कला का गतिशील (dynamic) गुण ही समाप्त हो जाये। नयी कविता के कवियों में और छायावादियों में अन्तर यहाँ इस स्तर पर भी है। हम अपनी गति-विधि के प्रति जागरूक होने के नाते उसकी सीमायें भी स्वीकार करते हैं। वे न तो अपनी गति-विधि के प्रति जागरूक हैं और न सीमायें स्वीकार करते हैं। आज का यथार्थ हमें जो स्पष्टता देता है हमें उसे स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं है।

तृतीय खंड

मानववाद

[७]

मानव विशिष्टता एवं आत्मविश्वास के आधार (१)

यथार्थ का मूल गुण है जीवन की स्वीकृति। उसकी विशेषता है वर्तमान सन्दर्भ का समीकरण। उसकी मूल प्रवृत्ति है मानव विशिष्टता द्वारा मानव मूल्यों की निष्ठा। उसका विस्तार है समस्त मानव जीवन में विकसित मान-मर्यादाओं का नया परिप्रेक्ष्य। उसकी सीमा है जीवन और उसका परिवेश। और तब इन समस्त तत्त्वों के साथ आज का यथार्थ जीवन को उसकी विशिष्टता और मानव चेतना को आत्मविश्वास देने में समर्थ हो पाता है। यदि यथार्थ केवल दृष्टि को सीमित करता है तो वह जीवन के विकासशील तत्त्व की उपेक्षा करता है। यदि वह केवल भावनाओं को जीवन से सम्बद्ध नहीं करता तो वह एकांगी बन जाता है, कुण्ठाग्रस्त हो जाता है। यथार्थ सौन्दर्यानुभूति को उतनी ही सजीव प्रेरणा देता है कि जितना वह जीवन को अर्थ देता है। सक्रियता सौन्दर्य को सजीव बनाती है और यह सक्रियता यथार्थ के बल पर ही सम्भव हो पाती है।

यह तो हुआ यथार्थ का रूप। किन्तु इससे भी बड़ा सत्य मानव जीवन है जिसकी सापेक्षता में यथार्थ विकसित होता है। मानव जीवन के सन्दर्भ में यथार्थ का क्या दायित्व है, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए आवश्यक है कि हम जीवन की विशेषता को समझें और जानें। बहुधा 'जीवन' शब्द निरर्थक सन्दर्भों में भी प्रयुक्त होता है। खासकर

आलोचना में बहुधा लोग जीवन की दुहाई देकर किसी भी कृति को अच्छा या बुरा कह देते हैं; किन्तु जीवन का वास्तविक अर्थ क्या है इसपर विचार नहीं करते। प्रगतिवादी केवल मिलिटेण्ट तत्त्व या वर्ग-चेतना की अभिव्यक्ति को जीवन मानते हैं। यदि किसी कृति में यह दोनों वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में हों तो उनकी तुष्टि हो जाती है। सौन्दर्यवादी या वे, जो यथार्थ को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं दे पाते उनके लिए जीवन का अर्थ केवल सौन्दर्य तक सीमित रह जाता है। जहाँ प्रगतिवादी मिलिटेण्ट तत्त्व की पृष्ठभूमि में मानव निष्ठा का अस्तित्व नहीं स्वीकार कर पाते और उसे केवल एकांगी बनाकर छोड़ देते हैं वहाँ ये सौन्दर्य-वादी या इस प्रकार के विचार वाले जीवन से उसका सक्रिय पक्ष निकाल कर शेष को जीवन की संज्ञा देने लगते हैं। इन दोनों प्रकार की विचार-प्रणालियों में जीवन का वास्तविक मूल्य, उसका सन्दर्भ, उसका पक्ष एवं उसकी सार्थक शक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। वस्तुत: जीवन बिना मानवीय सन्दर्भ के कोई अर्थ नहीं रखता। जैसे केवल अमूर्त्त नैतिकता बिना मानव सक्रियता के मूल्यहीन लगती है वैसे ही जीवन की सार्थकता में मानव एवं मानवीय स्तरों का उभारना आवश्यक है। बिना मानव सक्रियता के और बिना मानवीदृष्टि के आग्रह के जीवन का कोई अर्थ ही नहीं बन पाता।

प्रगतिवाद ने जीवन को स्थापित करने में जीवन के उन तत्त्वों को नष्ट करने की चेष्टा की है जो उसे समग्रता देते हैं। प्रगतिवादी अपने बहुजन जीवन के नारे में 'बहु' के संघरूप (collective) को ही स्थापित करना श्रेयस्कर समझते हैं। व्यक्ति मानव की इकाई का महत्त्व उनके सामने नहीं है। इसीलिए व्यक्ति की बलि वे जीवन की दुहाई देकर करते हैं, साथ ही वे सौन्दर्य की बलि यथार्थ की दुहाई देकर कर डालते हैं और यथार्थ और जीवन को एक साथ रखकर न तो वे सौन्दर्य को देख पाते हैं और न बहुजन के संघ को। इकाई का जीवन और संघजीवन की सापेक्षता भी वे नहीं देख पाते। किसी फूहड़ बनिये की गठरी में जैसे भांति-भांति की चीजें बिना किसी क्रम के पड़ी हों, उसी भांति वे अपनी गठरी में यथार्थ की डिबिया और जीवन की डिबिया को ठीक शोरे और बारूद की भांति रखते हैं। वे चाहते हैं कि विद्रोह का ग्राहक जैसे ही सामने दीख पड़े वे जीवन और यथार्थ के साथ मिलिटेन्स का पलीता लगाकर उसे दे दें। साहित्य-कार का केवल यही काम है; कविता, कला, और सौन्दर्य की मात्र यही उपयोगिता है। और फिर जिस साहित्य में अथवा जिस कृति में ये तत्त्व मौजूद हों उनको वे जीवन मानते हैं अन्यथा वे जीवन को अस्वीकार करते हैं। प्रगतिवाद ने इसी प्रकार समाज और व्यक्ति के औचित्य की ओर भी कुतर्कपूर्ण विचार अपनाया है। जैसे यथार्थ को जीवन से पृथक् देखने का आग्रह उन्हें यथार्थ को माध्यम

रूप में ही स्वीकार करने की क्षमता दे पाता है, ठीक उसी प्रकार उनकी दृष्टि इतनी सीमित हो जाती है कि—समाज का आग्रह उन्हें यह बोध नहीं दे पाता कि जीवन से सम्बद्ध समाज के अस्तित्व में व्यक्ति और जीवन का सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण है न कि समाज का एकांगी नारा।

दूसरे शब्दों में प्रगतिवाद ने मानव विशिष्टता पर आग्रह नहीं किया है। इसके विपरीत उसने मानव-कृत्रिमता पर अधिक ध्यान दिया। यथार्थ द्वारा प्रतिष्ठित सौन्दर्य की समग्रता पर उसने दृष्टि नहीं डाली है। इसके विपरीत उसने यथार्थ को अपने मन्तव्यों के अनुकूल तोड़ना-मोड़ना चाहा है। सौन्दर्य के प्रति भी उसकी दृष्टि इसीलिए विवेकपूर्ण नहीं हो पाती क्योंकि वह सौन्दर्य के दो मूल तत्त्वों (जीवन और यथार्थ) को 'भ्रमित देखता है। परिवर्त्तन, क्रान्ति, उथल-पुथल, विद्रोह और मिलिटेण्ट अभिव्यक्ति इसीलिए केवल सन्दर्भहीन खिलौने-से लगते हैं जिसे प्रगतिवादी अपने घरौंदों के सामने सुसज्जित रखकर दूसरों को चकाचौंध कर देने से ही तृप्त हो जाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि कोई भी परिवर्त्तन यथार्थ की गतिशीलता से आता है। यथार्थ को रँगकर प्रस्तुत करने मात्र से न तो परिवर्त्तन जन्म लेता है, न इतिहास की घटनाएँ बदलती हैं। इतिहास में प्रत्येक सांस्कृतिक सौन्दर्य और यथार्थ के सन्दर्भ को मानव विशिष्टता बदलती है। ऐसा इसलिए होता है कि यथार्थ के विकसित सत्य को और गतिशील समग्रता को परम्परागत विचारधारा वहन नहीं कर पाती, मूल्यों के महत्त्व नष्ट होने लगते हैं, संक्रमण की स्थिति होती है, संस्कार और प्रगति दोनों एक-दूसरे के विरोध में प्रस्तुत हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में मानवीय स्तर पर परिवर्त्तन होते हैं। यथार्थ के नूतन पक्ष को स्वीकार करके मानव विशिष्टता अपने को स्थापित करती है। इतिहास का यह दायित्व निभाने के लिए आवश्यकता है मनुष्य और मानव विशिष्टता में विश्वास के साथ-साथ नये विकसित आयामों के प्रति विवेकपूर्ण आस्था की !

प्रगतिवाद ने इस ऐतिहासिक दायित्व को स्वीकार न करके एक प्रकार की मिथ्या (pseudo) क्रान्ति की स्थापना करनी चाही है। राजनीतिक स्तर पर उन्होंने साहित्य को मोड़ने की चेष्टा की है। यही कारण है कि वे समकालीन (contemporary) के प्रति जागरूक न होकर केवल तत्कालीन (immediate) सन्दर्भों में प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि समकालीन तत्त्वों में जो व्यापक गहराईयाँ होती हैं वे तत्कालीन (immediate) होने में नष्ट हो जाती हैं। साहित्य की उपयोगिता को वे दैनिक अखबारी साहित्य के स्तर पर लाना चाहते हैं। समकालीन साहित्य के सन्दर्भ में एक काल के बोध की अभिव्यक्ति होती है जिसे प्रगतिवादी तत्कालीन मन्तव्यों (immediate motives) के कारण भुला देते हैं। ऐसा करने का एकमात्र कारण यह है कि वे सम्पूर्ण जीवन

के सन्दर्भ को एक प्रवाह के रूप में न देखकर टुकड़ों में देखते हैं, वर्तमान या समकालीन को अतीत और भविष्य से पृथक् करके देखते हैं। जीवन के ओजमय स्रोत को यदि एक गति के साथ आबद्ध करके नहीं देखा जायेगा तो उसमें दृष्टि (vision) का अभाव अपने आप ही उत्पन्न होगा। यह अभाव साहित्य में भ्रान्तियाँ पैदा करेगा। कृत्रिमता की प्रवृत्तियाँ बहुधा इस दृष्टि (vision) के अभाव में ही पनपती हैं। केवल सामाजिक यथार्थ का नारा देकर कृत्रिमता के तत्त्वों से नहीं बचा जा सकता। कृत्रिमता और निम्न वर्ग के साहित्य-सृजन से बचने के लिए यथार्थ, सौन्दर्य और भावबोध को मानव विशिष्टता के सन्दर्भ में रखना होगा। यथार्थ का वास्तविक परिप्रेक्ष्य बिना इस मानवीय सन्दर्भ के अधूरा रह जाता है। सौन्दर्य की अनुभूति भी बिना इस सन्दर्भ के विस्थापित हो जाती है और भावबोध में वह गहराई नहीं आ पाती जो कि किसी भी साहित्यिक रचना के लिए आवश्यक है।

नैतिकता के स्तर पर प्रगतिवाद ने साहित्यकार से उसकी स्वानुभूति छीन लेनी चाही। सम्पूर्ण जीवन को कुछ इने-गिने सिद्धान्तों में उन्होंने बाँधने की चेष्टा की। प्रगतिवाद यह भूल गया कि साहित्यकार का दायित्व और उसकी दृष्टि सैद्धान्तिक रूढ़ियों के परे भी विकसित हो सकती हैं। एक सीमा में बँधकर सम्पूर्ण मानव चेतना अपने जीवन्त तत्त्वों का परिचय नहीं दे सकती। जब-जब ये सीमाएँ बाँधी गयी हैं तब-तब साहित्य ने कृत्रिम स्तर पर ही विकास पाया है। किसी भी कला-सृजन करने वाले प्राणी के लिए जीवन का एक अंश ही सम्पूर्ण समग्रता नहीं दे सकता। उसकी दृष्टि (vision) में अंश की अपेक्षा समग्रता (comprehensiveness) का विशेष महत्त्व होता है। यह समग्रता जीवन के व्यापक तत्त्व से उपजती है। यह न तो बाह्यारोपित होती है और न यह किसी विशिष्ट मतवाद के सुनहले नियमों द्वारा प्रकाशित की जा सकती है। सिद्धान्तों और मतवादों का निर्माण लेखक के आत्मविश्वास को कुण्ठित करता है, उसकी दृष्टि को संकुचित करता है और उसके भावस्तर को कृत्रिम बनाता है। सिद्धान्तों (principles) का औचित्य बिना आत्मविश्वास के कुछ भी नहीं कर पाता। प्रगतिवाद ने हिन्दी काव्य को यदि अपने सिद्धान्तों के अतिरिक्त आत्मविश्वास विकिसित करने की सुविधा दी होती तो शायद अधिक गति से यथार्थ जीवन का सन्दर्भ विकसित हो पाता। किन्तु प्रगतिवाद स्वयम् आत्मविश्वास से वंचित था क्योंकि उसकी आत्मा अपनी थी ही नहीं। वह तो एक दलगत मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया में उपजा था और उसकी मनोग्रन्थियों का प्रतिबिम्ब प्रगतिवाद में भी उसी मात्रा में व्याप्त था।

कलात्मक तत्त्वों की दृष्टि से भी प्रगतिवाद यह भूल गया कि कविता का

मूल स्रोत व्यक्त्यानुभूति है न कि बाह्यानुभूति । कविता एक गाय या बैल की उपयोगिता पर लिखा जाने वाला निबन्ध या हनुमानाष्टक मन्त्र नहीं है वरन् आज के सन्दर्भ में उसका अर्थ है जीवन और यथार्थ के सन्दर्भ में मानव दृष्टि (vision) की उँचाई के साथ उसका विश्वास, उसकी आत्मनिष्ठा । प्रगतिवादी यह भूल गये कि जीवन की घटनाओं को इतिहासकार चित्रित करता है न कि कवि या साहित्यकार । साहित्यकार या कवि उस मानव विशिष्टता को अर्थ देता है, उस जीवन के व्या-पक सन्दर्भ को प्रस्तुत (explain) करता है जो उसे भावस्तर या सौन्दर्य-अनु-भूति के स्तर पर आन्दोलित करते हैं ।

इस दृष्टि से प्रगतिवाद का सारा आन्दोलन एक भयंकर शंकावाद (scepticism) के अनन्तर विकसित हुआ । एक ओर उसकी आन्तरिक अनुभूति 'लघुमानव' के अस्तित्व से प्रभावित होती रही किन्तु दूसरी ओर यह उस लघुमानव के व्यक्तित्व की विशिष्टता को केवल इसलिए नहीं देख पाता था कि उसने यह मान लिया था कि साम्यवादी विचारधारा पर लघुमानव की विशिष्टता का कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व की वस्तु है बहुजन जीवन से सम्पृक्त वह महामानव जो प्रोलेतेरियत की तानाशाही (dictatorship of the proletariate) में प्रस्फुटित होता है । इसका परिणाम यह था कि अपनी सम्पूर्ण यथार्थवादी शक्ति के बावजूद भी मानव विशिष्टता के अस्तित्व को स्वीकार करने में वे असमर्थ रहे । उनका स्वर मानव विशिष्टता को स्थापित करने के बजाय उसकी असमर्थता पर विशेष बल देने में लग गया । यदि छायावाद रहस्यवाद के स्तर पर घोर निराशावाद की ओर उन्मुख हो रहा था तो प्रगतिवाद ने 'लघुमानव' को असहाय निस्सहाय भुक्तभोगी के रूप में प्रस्तुत करके उस चेतना को जगाने की चेष्टा की जिस में उस महान् तत्त्व का अंकुर पनप सके जिसकी परिणति प्रोलेतेरियत की तानाशाही में होती है । अविश्वास की जड़ इस भावधारा का एक अंग था जिसने सम्पूर्ण प्रगतिवादी आन्दोलन को एक ऐसे छोर पर ले जाकर फेंक दिया जहाँ वह अन्त तक भटकता रहा । एक पर प्रसीमा गतिवाद ने मानव विशिष्टता का अन्त करके यह सिद्ध करना चाहा कि सामाजिक यथार्थ के लिए विशिष्टता पर आग्रह करना व्यर्थ है; दूसरी ओर वह व्यक्ति मानव की बलि देकर संघ मानव या बहुजन के जोर को उस सीमा तक पहुँचाना चाहता था जहाँ सामाजिक यथार्थ के गतिहीन (static) पक्ष उस स्थिति को जन्म दे सकें जिसमें बहुजन जीवन का प्रतिनिधि-मानव विकसित हो सके । मानव मात्र की विशिष्टता की अपेक्षा उनके लिए विशिष्टमानव का अन्वेषण आवश्यक जान पड़ने लगा । इस विचार-धारा ने सम्पूर्ण प्रगतिवादी आन्दोलन पर 'नये मानव' और 'नये नायक' की कल्पना के लिए बाध्य किया । किन्तु विशिष्टता के व्यापक तत्त्व पर उनका

अविश्वास इस सीमा तक विषाक्त था कि वे उस नये मानव को आज तक जन्म नहीं दे सके।

बौद्धिक स्तर पर इस 'नये मानव' या विशिष्टमानव की संगति इसलिए और भी नहीं बैठ सकी क्योंकि सम्पूर्ण भारतीय विचार धारा विभिन्न परिस्थितियों का साक्षात्कार कर रही थी। एक ओर राष्ट्रीय आन्दोलन का ऐतिहासिक दायित्व था जिसकी पृष्ठभूमि में गान्धीवाद का विशुद्ध नैतिक आन्दोलन साम्यवाद से अधिक जीवन्त और ऐतिहासिक दायित्वों के साथ चल रहा था। सम्पूर्ण राष्ट्रीय आन्दोलन और गान्धीवादी विचारधारा के विरोध में प्रगतिवाद था जो उस समय के ऐतिहासिक दायित्व को वहन करने में असमर्थ तो था ही, साथ ही वह गान्धीवाद से अधिक गतिशील विचार-दर्शन देने में भी असमर्थ था। गान्धीवाद ने अपनी दायित्वपूर्ण विशेषताओं द्वारा मानव विशिष्टता के नैतिक पक्ष को अधिक शक्ति दी थी। निस्सन्देह रूप से यह कहा जा सकता है कि गान्धीवाद की भावधारा में 'लघुमानव' की सम्पूर्ण लघुता उस विषेश काल में अधिक आग्रह के साथ रक्षित की गयी थी। जिस सामाजिक यथार्थ के बल पर प्रगतिवादी आन्दोलन साम्यवादी विचारधारा को प्रतिष्ठित करना चाहता था वह सामाजिक यथार्थ ऐतिहासिक सन्दर्भ की समकालीनता के अभाव में सम्पूर्ण जीवन को प्रेरणा देने में असफल था। क्या मानव का रूप भारतीय विचारधारा में बहुत कुछ प्रेमचन्द के रंगभूमि उपन्यास के नायक 'विनय कुमार' के रूप में ढलना चाहता था जिसकी पृष्ठभूमि में 'सूरदास' जैसे व्यक्तित्व की नैतिक दृष्टि का विशेष महत्त्व था? नया नायक प्रगतिवादी विचार-धारा के अनुसार उस समय के सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के सन्दर्भ में विकसित होना कठिन था। यह अनेक कारणों में से एक मुख्य कारण था कि १९३६ से लेकर १९४३ तक के सतत प्रयास के बावजूद भी 'विनय कुमार' जैसे नायक को हटा कर प्रगतिवाद कोई दूसरी प्रतिमा नहीं प्रतिष्ठित कर सका। उसके बाद यदि कोई और नायक आया तो वह 'शेखर' था जो एक ओर बौद्धिक, तो दूसरी ओर घोर क्रान्तिकारी, एक ओर व्यक्तिवादी तो दूसरी ओर घोर अहम्वादी के रूप में सम्पूर्ण यथार्थ का प्रतिनिधित्व करता हुआ मानव विशिष्टता के स्वर के साथ विकसित हो सका। किन्तु यह भी प्रगतिवादी विचारधारा द्वारा स्वीकृत नहीं हो सकता क्योंकि उसकी परम स्वतन्त्रता उसको सह्य नहीं थी।

इस विश्लेषण का तात्पर्य केवल यह है कि समूचा प्रगतिवादी आन्दोलन एक एकांगी रूप में विकसित होकर देश काल की सापेक्षता को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करने के कारण ऐसी दिशा की ओर अग्रसर हो रहा था जो निश्चय ही संकीर्णताओं से ओतप्रोत थी। मानव मात्र की विशिष्टता के प्रति अविश्वास होने

के कारण वह उस सन्दर्भ को पकड़ने में असमर्थ थे जो उस समय के जीवन का एक महत्त्व पूर्ण अंश था। सन्, ४२ के महत्त्वपूर्ण आन्दोलन से लेकर भारतीय स्वतन्त्रता के संग्राम तक में जो व्यापक सामाजिक यथार्थ था उसके प्रति उदासीन रहकर प्रगतिवाद के पास न तो कोई पूँजी थी और न कोई सन्देश। इसलिए उनका विशिष्ट मानव न तो नायक बन सका और न 'नया मानव' के रूप में अवतरित हो सका।

हिन्दी कविता के क्षेत्र में प्रगतिवाद की इस अनुत्तरदायी विचारधारा का बड़ा कुत्सित प्रभाव पड़ा। लेनिनग्राड के आल्हे से लेकर जनयुग के नारे तक में एक भी स्थल एसा नहीं था जो मानव विशिष्टता को स्थापित करता। जनयुग का महत्त्व स्टॉलिन के माध्यम से था। लेनिनग्राड का आल्हा सोवियत सेना के माध्यम से था। जनयुग की प्रशस्ति स्टॉलिन की प्रशस्ति थी, लेनिनग्राड का आल्हा सोवियत सेना की विशिष्टता थी। एक विशिष्ट मानव था। दूसरी विशिष्ट मानव की विशिष्ट सेना थी। इन दोनों से पृथक मानव विशिष्टता और साधारण जीवन के 'लघुमानव' की विशिष्टता को देख सकने की क्षमता प्रगतिवाद के पास थी ही नहीं। इसलिये काव्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद ने जो भी दिया वह केवल एक शंकित मन:स्थिति थी जिसमें लघुमानव और उसका लघु परिवेश और उसकी विशिष्टता ठीक उसी प्रकार उपेक्षित रही जिस प्रकार छायावादी स्नॉबरी द्वारा वह तिरस्कृत होने के कारण कभी भी उनको अपील नहीं कर सकी। ऐसी स्थिति में प्रगतिवाद के पास न तो वह दृष्टि ही थी और न वह बौद्धिक स्तर ही था जिससे वे मानव विशिष्टता को देख या समझ पाते, अथवा वे उस आत्मविश्वास का अंकुर विकसित कर पाते जो सम्पूर्ण काव्यचेतना को समग्र दृष्टि दे पाता।

और जब दृष्टि से समग्रता नहीं होती, उसमें व्यापकता का सन्दर्भ नहीं होता तो वह मात्र खोखली, आडम्बर से भरी प्रवृत्ति का ही परिचय दे पाती है। ऐसी दृष्टि के सामने साहित्येतर उद्देश्य होते हैं, मानवेतर साम्प्रदायिक लक्ष्य होते हैं, सुलझे हुए तार्किक निष्कर्षों से कहीं अधिक पूर्वाग्रह होते हैं—और प्रगतिवाद में ये सब एक साथ विकसित होकर अपनी चरम सीमा पर विकसित होने लगे। साहित्य से जीवन का सन्दर्भ नष्ट हो गया, यथार्थ के स्तर केवल साधन के लिए प्रयुक्त होने लगे, मूल्यों का कोई अस्तित्व नहीं रह गया। इसका विचित्र परिणाम तो इस रूप में आज भी विद्यमान है। सारांश रूप में यह मानना पड़ेगा कि प्रगतिवाद प्रारम्भ से ही उस दायित्व का निर्वाह करने में असमर्थ रहा जो उस समय देश और काल की सीमाओं में उसे करना चाहिये था।

यही नहीं, मानव मूल्यों की उपेक्षा करके प्रगतिवाद ने वर्ग-मूल्यों को स्थापित करने की चेष्टा की और यह देखने का प्रयास ही नहीं किया कि कला और कविता

के क्षेत्र में इन तत्त्वों से भी परे कोई मूल्य हैं जो काव्य के गुण और दोष निर्धारित करते हैं। प्रगतिवादियों ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (dialectical materialism) के आधार पर साहित्य के वर्ग-विभाजन को जिस रूप में प्रस्तुत किया उसमें रूढ़िवादिता इतनी थी कि वह प्रगति के नाम पर अवरोध का समर्थन करने से भी नहीं हिचके। छायावाद के उस अंश को जो अपनी ऐतिहासिक परिधि में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी, वे उसके भी परिप्रेक्ष्य को नहीं समझ सके। इसका परिणाम यह हुआ कि वे अपने पूर्वाधारित वर्गमूल्यों को बिना देश, काल और ऐतिहासिक सन्दर्भ के स्थापित करने लगे और इस शृंखला में उन्होंने साहित्यिक मूल्यों को भी विकृत करना प्रारम्भ कर दिया। वे यह भूल गये कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का विशेष गुण यह है कि वह किसी भी वस्तु को उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ में देखने का एक विशेष आग्रह करता है। उसमें कम-से-कम यह प्रयास है कि वह किसी भी विशेष प्रवृत्ति को उसका उचित दाय दे। किन्तु प्रगतिवाद ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का यह अंश रूढ़ि के रूप में स्वीकार किया जिसका परिणाम यह हुआ कि सामाजिक यथार्थवाद की दृष्टि से भी जो मूल्य मानव मूल्यों के तत्त्वों से ओतप्रोत थे उनका बहिष्कार करना प्रारम्भ कर दिया। डा० रामविलास शर्मा ने तो इस रूढ़ि को इस सीमा तक पहुँचा दिया कि कुछ समय तक प्रगतिवादी लेखक के सामने कोई ऐसा आधार ही नहीं बचा जिस पर वह टिक सके अथवा जिसको मानकर वह कोई रचना करके अपने दल के सामने यह प्रस्तुत कर सके कि यह कृति ठीक मार्क्सवादी विचार-धारा का समर्थन करती है।* यह दोष जहाँ अन्य कई प्रकार की कृत्रिम मनःस्थितियों को पैदा करने में समर्थ हुआ उनमें से विशेष महत्त्वपूर्ण मनःस्थिति यह थी कि उसने मानव विशिष्टता और आत्मविश्वास दोनों को खण्डित कर दिया। यही कारण है कि उस काल का प्रगतिवादी साहित्य मात्र नारा बनकर रह गया।

कला या कविता के भावस्तर पर मानवीय अनुभूतियों को साम्प्रदायिक ढाँचे में ढालने का यह प्रयास एक दूसरे रूप में बाह्याडम्बर के प्रति अधिक जागरूक हो गया। प्रगतिवाद के सामने वे आयाम कुण्ठित हो चुके थे जो किसी भी साहित्य के निर्माण में उसके निर्माता को स्वतन्त्र अनुभूति देते हैं। नियन्त्रण, अनुशासन की यह दुहाई १९४३ और '५० में तो इस सीमा तक गूँजी कि लेखक या कवि अपने द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और अभिव्यक्ति के बारे में सन्दिग्ध हो गया। उसका आत्मविश्वास इतना जर्जर था कि उसकी सम्पूर्ण चेतना-शक्ति सदैव इसमें नष्ट हो जाती थी कि उसकी रचना बुर्जुआ वर्ग के डिकेडेण्ट तत्त्वों से बचकर किसी ऐसे नारे या आधार पर टिक जाये जिसमें किसी-न-किसी प्रकार से नया आदमी जन्म

*The essence, as Marx says, of dialectical materialism is that it accepts nothing permanent, that it is critical to the bitter end.
—JOHN STRACHEY

लेता हुआ दीख पड़े, या जनवादी मोर्चे की झलक दिखलायी पड़े या पूँजीवाद की छँटी शिष्ट गाली पर समाप्त हो। साहित्य के और मानदण्ड, उसके मूल्य, और उसकी दृष्टि का कोई महत्त्व ही नहीं रख छोड़ा गया। इन सब प्रतिबन्धों का परिणाम यह हुआ कि प्रगतिवाद ने ऐसी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अपनायीं जो केवल प्रतिक्रिया-वादी, मिथ्या और संस्कारच्युत होकर रह गयीं।

और साहित्य जब कभी भी ऐसे नियन्त्रणों और प्रतिबन्धों के दौर से गुज़रता है तो उसकी सम्पूर्ण शक्ति केवल एक आडम्बर के रूप में प्रस्तुत होती है। यह आडम्बर भी इतना खोखला और निष्प्राण होता है कि वह केवल साम्प्रदायिक बल पर जीता है।

प्रगतिवाद की यह परीक्षा इस लिए आवश्यक थी कि बिना इसके वह सन्दर्भ प्रस्तुत नहीं हो पाते जिनमें नयी कविता का भावबोध एवम् यथार्थ के आयाम विकसित हुए हैं। विशिष्ट मानव और मानव-विशिष्टता के स्तर में जितना भेद है वही प्रगतिवाद को नयी भावधारा से पृथक् करता है। प्रगतिवादी चिन्तन का विकास साधारण जन का नारा तो होता है किन्तु उसका लक्ष्य विशिष्ट मान की स्थापना करना चाहता है। नयी कविता का नारा कोई नहीं है पर वह मानव विशिष्टता में विश्वास करती है। वह यह स्वीकार नहीं करती कि किसी विशेष मतवाद द्वारा ही भावस्तर की गहराइयाँ उपलब्ध हो सकती हैं। सृजन क्षेत्र में नयी कविता इसीलिए यथार्थ के साथ-साथ सौन्दर्य-बोध (aesthetic sense) के तत्त्व को महत्त्वपूर्ण मानती है, अनुभूति के साथ दृष्टि की माँग करती है—ऐसी दृष्टि जिस में विशुद्ध मानवानुभूतियों को अभिव्यक्ति मिले। सप्तक की भूमिका में सम्पादक का यह वक्तव्य विशेष महत्त्व का है। कि "तार सप्तक में सात कवि संगृहीत हैं। सातों एक दूसरे के परिचित हैं—बिना उसके इस ढंग का सहयोग कैसे होता? किन्तु इससे यह परिणाम न निकाला जाये कि वे कविता के किसी एक स्कूल के कवि हैं, या कि साहित्य-जगत् के किसी गुट्ट अथवा दल के सदस्य या समर्थक नहीं हैं...उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में, समाज और धर्म और राजनीति के विषय में; काव्य-वस्तु और शैली के छन्द और तुक के, कवि के दायित्वों के, प्रत्येक विषय में उनका आपस में मतभेद है"। इस वक्तव्य में ही हमें उस उत्कट इच्छा की झलक मिलती है कि हिन्दी कविता प्रगतिवाद के नियन्त्रणों और उसकी सीमाओं से निकल कर अधिक व्यापक धरातल का अन्वेषण करना चाहती है। सप्तक का प्रकाशन वस्तुतः उस ऐतिहासिक माँग की अभिव्यक्ति था जिस में पहली बार

विशिष्ट मानव की अपेक्षा मानव विशिष्टता पर बल देने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। साथ-साथ यह इस बात की सूचना भी है कि प्रगतिवाद अपनी संकीर्णताओं के कारण कला के उन विकासशील तत्त्वों का संरक्षण नहीं कर सकता था जो उस समय की बौद्धिक और कलात्मक अभिरुचि की सम्वेदनाओं से ओत-प्रोत थे। सप्तक के कवियों की विभिन्नता ही वह स्वस्थ परम्परा थी जिसके माध्यम से मानव विशिष्टता और आत्मविश्वास के आयाम विकसित हो सकते थे।

इसीलिए तारसप्तक के कवियों में हमें दो स्वर साथ-साथ उठते हुए दिखायी देते हैं। यदि एक सीमा पर उसके अधिकांश कवियों में व्यक्त्यानुभूति की मर्मस्पर्शी प्रयोगशीलता है तो उसी से सम्बद्ध हमें वह आडम्बर भी दिखलाई पड़ता है जिस में बाह्यारोपित प्रगतिशीलता भी है। जहाँ वे अपनी व्यक्त्यानुभूति के प्रति ईमानदार हैं वहाँ उस मानव विशिष्टता के प्रति उन की अनवरत प्यास और जिज्ञासा की झलक मिलती है जिससे नयी काव्य-व्यंजना का सूत्रपात होता है। उसी के साथ-साथ हमें वे तत्त्व भी मिलते हैं जिन में केवल एक मतवाद की झलक है। प्रभाकर माचवे में यह द्वन्द्व बड़े विचित्र प्रकार से विकसित हुआ है। 'निम्न मध्य वर्ग'* जैसी कविता में फ्लॅट काव्य गुण यदि एक सीमापर हैं तो दूसरी सीमापर नारा भी है जो "दा ज्द्रास्तव्युते सोवित्स की सोयूज" जैसी कविता में सोवियत के जयघोष के रूप में व्यक्त हुआ है। इसी से सम्बद्ध वह कविता भी है जिसमें प्रगतिवादी आलोचकों के अनुसार घोर कुण्ठावादी प्रवृत्ति है जैसे "मैं" और "खाली चाय की प्याली"! गजानन माधव मुक्तिबोध की कविताएं यदि एक ओर विराट् मानव पुत्र की कल्पना से ओतप्रोत हैं तो उसी के साथ-साथ वे यह भी अनुभव करते हैं कि बाह्यारोपित विराटत्व के साथ-साथ यह स्वर भी उठता है कि :°

जो कि अपने ही प्रगति-पथ का सहारा
जो कि अपना ही स्वयम् बन चला चित्र
भीतिहीन विराट-पुत्र
इस लिए प्रत्येक मनु के पुत्र पर
विश्वास करना चाहता हूँ। —**गजानन मुक्तिबोध**

यही नहीं, तार सप्तक में यह स्वर स्थल-स्थल पर आत्मविवेचना के स्तर

*देखिये—तारसप्तक पृष्ठ ५६
देखिये— ,, ,, ,, ५७
देखिये— ,, ,, ,, ५९
°देखिये— ,, ,, ,, १३

पर व्यक्त हुआ है । स्वयम् गजानन मुक्तिबोध की अधिकांश रचनाएँ इस संघर्ष से ओपप्रोत हैं । उनकी उपलब्धि है :

जब कि शंकाकुल तृषित मन खोजना
बाहरी मरु में अमल जल स्रोत है
क्यों न विद्रोही बनें ये प्राण जो——
सतत अन्वेषी सदा प्रद्योत हैं । ——**गजानन मुक्तिबोध**

नेमिचन्द्र जैन की कविताओं में बन्धन और आडम्बर की घुटन पर्याप्त मात्रा में है । उनका तीखा स्वर बार-बार उन्हें यह बोध देता है कि जिस भी धारणा को लेकर कवि चलना चाहता है वह बन्धनों और आडम्बरों के शिकंजों में इतना टूट रहा है कि सहसा उसका शंकाकुल मन उसके प्रति विद्रोह कर बैठता है । प्रगतिवाद की यह देन प्रगतिवादी होने के नाते ये कवि भले ही स्वीकार न करें किन्तु जहाँ तक उनकी अभिव्यक्ति का प्रश्न है वह उनकी रचनाओं में बराबर व्यक्त हुई है :

थे उलझे आवरण यहां के,
बन्धन की छाया
झूठी जीवन की परिभाषा
रीते-से आडम्बर की ओछी-सी अभिलाषा......
इस कोलाहल के अंचल में आकर क्या पाया ?
क्या पाया ?
क्यों मन खिंचकर बह आया ।

जिन तीन कवियों के उद्धरण ऊपर दिये गये हैं वे तीनों कवि प्रगतिवादी आन्दोलन के उस काल-विशेष के प्रतिनिधि कवि हैं जब प्रगतिवाद नये मानव, विशिष्ट मानव, और नये हीरो के निर्माण में व्यस्त था ! उस समूचे आन्दोलन का सारा विरोधाभास सप्तक के इन तीन कवियों और भारतभूषण अग्रवाल में पूर्ण मात्रा में मिलता है । यही विशेष पहचान है जिसके माध्यम से स्पष्ट कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद स्वयम् इतना संकीर्ण हो रहा था कि उसकी परिधि में नये तत्त्वों का विकास असम्भव हो रहा था, नये भावबोध के प्रति आग्रहपूर्वक विरोध भी उसमें पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगत हो रहा था ।

शंकाकुल मन:स्थितियों के ये उद्धरण प्रगतिवाद की लीक छोड़कर जिस दिशा की ओर उन्मुख हो रहे थे वह निश्चय ही उस भाव-भूमि की सहज विज्ञप्ति थी जिसमें निम्नलिखित तथ्यों का विकास हो रहा था :

● सर्वप्रथम व्यक्ति-मर्यादा की स्थापना और उसके सशक्त अंकुरों ने

वर्ग-जीवन और संघ (collective) जीवन के विरोध में नहीं तो उसके साथ-साथ अपना अस्तित्व स्थापित करना चाहा था ।

● दूसरे यह कि व्यक्ति-मर्यादा का यह स्वर स्वतन्त्र मन:स्थिति को कला और काव्य के लिए आवश्यक समझता था । यदि छायावादी रूढ़ि के प्रति उनका सक्रिय विद्रोह था तो उसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि यह काव्य के निर्माण के लिए एक ओर छायावाद के कुहा जाल का खण्डन कर रहे थे और दूसरी ओर प्रगतिवाद के बन्धनों के प्रति भी विद्रोह कर रहे थे ।

● तीसरी बात जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है वह यह कि तारसप्तक के प्राय: सभी कवि कलाकार के अहम् के प्रति निष्ठावान् थे । इस अहम् की अभिव्यक्ति प्राय: सभी कवियों में हुई है । अहम् की मर्यादा की माँग, स्वत्व की यह स्वीकृति, इस बात का परिचायक है कि ये कवि आत्मविश्वास को खोकर कोई भी मतवाद स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पा रहे थे ।

● चौथी बात यह कि अपनी इस अहम्-स्थापना में वे उस मानव विशिष्टता के प्रति जागरूक होने के प्रयास में रत लगते हैं जो विस्थापित मानव व्यक्तित्व को उसकी लघुता के साथ सम्पूर्ण सम्वेदना प्रदान कर सके । दूसरे शब्दों में वे सम्पूर्ण प्रगतिवादी आन्दोलन के साथ रहते हुए भी ईमानदारी के साथ यह अनुभव कर रहे थे कि विशिष्ट मानव की खोज या उसकी माँग से अधिक मूल्यवान् सम्पूर्ण मानव विशिष्टता में विश्वास करना है ।

● पाँचवी बात यह कि इन कवियों के वक्तव्यों और इन की रचनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल्यों के स्तर पर ये अपेक्षाकृत अन्य कवियों से अधिक जागरूक और बौद्धिक तुष्टि के अनुयायी थे ! यह बौद्धिक जागरूकता आधुनिकता का बड़ा महत्त्वपूर्ण अंश था जिसे स्वीकार कर के इन कवियों ने अपने ऐतिहासिक दायित्व का समुचित रूप में प्रतिनिधित्व किया था ।

अस्तु, जिस व्यक्ति-मर्यादा और अहम् की बौद्धिक जागरूकता के साथ तार-सप्तक के कवियों ने नये पथ का अन्वेषण करना चाहा था वह सर्वथा नयी दिशा थी । यद्यपि आज उन कवियों में से कोई—विशेष कर नेमिचन्द्र जैन जैसे मध्यम-मार्गी, विनम्र एवम् शीलवान् कवि—यह भले समझें कि सप्तक का प्रकाशन अपने युग की महत्त्वपूर्ण घटना नहीं थी किन्तु जब कोई साहित्यिक स्तर पर विश्लेषण किया जायेगा तो यह मानना पड़ेगा कि तारसप्तक के कवि यों ही भानमती के पिटारे की भाँति एकत्र नहीं हुए थे वरन् उनमें कहीं-न-कहीं कोई आँच ऐसी थी जो अन्य माध्यमों की अपेक्षा उस माध्यम को अधिक महत्त्वपूर्ण समझती थी । और वह आँच थी यह भावना कि उनमें से प्रत्येक एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी प्रतिष्ठित कवियों से बिल्कुल भिन्न था । इनका आपसी मतभेद

इस सीमा पर था कि ये बिल्कुल नया लिखते हुए भी एक-दूसरे के समक्ष अपने व्यक्तित्व के पृथकत्व को बनाये रखना चाहते थे; किन्तु ये दूसरी तरह से एक थे क्योंकि इनकी रचनायें उनसे भिन्न थीं जो साधारणतया उस काल के प्रवाह में लिख रहे थे। इस से इन्कार करनेवाला तारसप्तक का कवि अपने महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक दायित्व के प्रति ईमानदारी दबाने के सिवा और कुछ भी नहीं करेगा। जाने या अनजाने रूप में, शंकाकुल मन:स्थिति में ही सही तारसप्तक का प्रकाशन नये भावबोध की अभिव्यक्ति था। अभिव्यक्ति कमज़ोर हो सकती है, उसमें कमियां गिनाई जा सकती हैं, उनमें साहित्यिक स्तर पर विरोध हो सकते हैं किन्तु उसे यह कहकर नहीं टाला जा सकता कि वह घटना महत्त्वपूर्ण नहीं थी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिन साहित्यिक मूल्यों और बौद्धिक तुष्टि के लिए तारसप्तक का प्रकाशन किया गया वे उपर्युक्त भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन कवियों की शंकाकुल मन:स्थिति, भीतरी घुटन और दुविधा में वह नयी शक्ति छटपटा रही थी जो एक ओर छायावाद की परम्परा से उद्विग्न थी तो दूसरी ओर प्रगतिवाद के आडम्बर से भी खीझी हुई थी। इसीलिए इन कवियों में भिन्नता होते हुए भी एक ऐसा सूत्र था जो इनको इस बात के लिए बाध्य करता था कि ये अपनी अनुभूतियों को स्वतंत्र रूप से व्यक्त करें। इस भिन्नता से यह भी सिद्ध होता है कि प्रगतिवाद जिस भावधारा को ग्रहण करने में असमर्थ था अथवा वह जिस व्यक्ति की उपेक्षा करके अपना मतवाद प्रतिष्ठित रखना चाहता था वह उसकी सीमा से टूट चुका था। दूसरे शब्दों में यह कहना अधिक उचित होगा कि एक जागरूक मानसिक एवम् बौद्धिक स्थिति इस रूप में प्रस्तुत हो चुकी थी कि जो छायावाद और प्रगतिवाद के स्वरों से अलग अपना स्वर बिखेरने के लिए आकुल थी। यह दूसरी दिशा थी व्यक्ति के आत्मा की, उसके अहम् की, उसके उस स्वत्व की जो दो भयानक युद्धों में टूट चुकने के बाद एवम् राष्ट्रीय उथल-पुथल को देख चुकने के बाद भी अपनी विशिष्टता के प्रति आस्थावान् था। इसीलिए उसमें पराजित नैतिकता नहीं थी। प्रगतिवाद जिस संघर्षविशृंखल व्यक्तित्व को अपने नारों की चकाचौंध से आकर्षित करना चाहता था उस खण्डित व्यक्तित्व की तीव्रानुभूति यह अनुभव कर रही थी कि उस टूटेपन का निराकरण 'विशिष्ट मानव' या तथाकथित प्रगतिवादी दर्शन नहीं कर सकता वरन् उसकी मूल स्थापना स्वयम् व्यक्ति की आत्म-मर्यादा में है, उसकी निजी अनुभूति और सम्वेदना में है, उसकी अपनी निजी दृष्टि में है। वह बाह्यारोपित आडम्बर द्वारा नहीं हो सकती। यही कारण है कि तारसप्तक के कवि शंकाकुल और द्विविधारत होते हुए भी जागरूक हैं। वे अपने रूढ़िगत संस्कारों से मुक्ति पाने के प्रयास में हैं। यदि उनका आत्मविश्वास कहीं किसी स्तर पर संदिग्ध है तो उसका एकमात्र

कारण यह है कि उनके चारों ओर उतना घना कुहासा था कि उनका प्रत्येक प्रयोग, प्रत्येक कदम बहुत बड़े निश्चय की माँग करता था। जिस स्थिति में तारसप्तक के कवि अपनी वाणी से अपनी बात कहने का प्रयास कर रहे थे उस समय प्रगतिवाद एक फैशन के रूप में चल रहा था। उस में एक विचित्र प्रकार का आग्रह-मिश्रित रीतिवाद (mannerism) भी विकसित हो चुका था। किन्तु जहाँ एक ओर प्रगतिवाद का मैनरिज़्म था वहीं उस मैनरिज़्म से पृथक् उस आत्मविश्वास की भी झलक मिलती है जो अज्ञेय की निम्नलिखित कविता में स्पष्ट रूप से चित्रित हुई है :

ठहर, ठहर आततायी ! ज़रा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा
रागातीत, दर्पस्फीत, अतल, अतुलनीय,
मेरी अवहेलना की टक्कर सहार ले--
क्षण भर स्थिर खड़ा रह ले--
मेरे दृढ़ पौरुष की एक चोट सह ले--
नूतन प्रचण्डतर स्वर से
आततायी, आज तुझको पुकार रहा मैं--
रणोद्यत, दुर्निवार ललकार रहा मैं--
कौन हूँ मैं ?
तेरी दीन, दुःखी पददलित पराजित
आज जो कि क्रुद्ध सर्प-सा अतीत को जगा
'मैं' से 'हम' हो गया।

--अज्ञेय

स्पष्ट है कि अज्ञेय के उस 'आह्वान' में उस व्यक्ति का स्वर है जो औरों से भिन्न तो है ही, साथ ही जिसमें पौरुष और आत्मशक्ति भी है। इस भिन्नता में आत्म-अवहेलना का स्वर न होकर आत्म-उपलब्धि का स्वर है क्योंकि बिना इस तीव्र आत्म-उपलब्धि के "मैं" से व्यापक "हम" होने का स्वर इस सन्दर्भ में प्रस्तुत नहीं होता। इस स्वर में प्रबुद्धशक्ति और विवेक का स्वर साथ-साथ व्यक्त हुआ है इसीलिए अहम् किसी बाह्याडम्बर द्वारा परिचालित यन्त्र नहीं है वरन् चेतन, प्रबुद्ध एवम् शक्ति-गर्वित अहम् है जो अपने अहम् को स्वेच्छा से 'हम' के सन्दर्भ में प्रस्तुत पाता है। इसीलिए वह विशिष्ट मानव की खोज भी नहीं करता। इसके विपरीत वह अपने भीतर वह मानव विशिष्टता पाता है जो ज्ञानरत होकर अपने सामर्थ्य के साथ "मैं" से "हम" होने के लिए प्रस्तुत होता है। यह अनुभूति सारी दृष्टि के सामने अहम् की मर्यादा का एक नवीनतम आयाम प्रस्तुत करती है।

यहीं यह कह देना आवश्यक है कि तारसप्तक से लेकर नयी कविता

तक में– नकेनवादी कविता को छोड़कर– यह मानव विशिष्टता का स्वर मात्र विशिष्टता का नारा लेकर नहीं व्यक्त हुआ है वरन् उस विशिष्टता का अर्थ यह रहा है कि मानव स्वाभिमान की माँग है कि वह प्रबुद्ध चेतनाशील प्राणी बन कर जीवन को भोगने का प्रयास करे, उसके सन्दर्भ को समझने का प्रयास करे, उसके विभिन्न स्तरों में क्रियाशील होकर प्रस्तुत हो और व्यक्ति द्वारा उस मानवीय स्वाभिमान की रक्षा कर सके जिसे छायावाद रहस्यवाद के चरणों पर झुका चुका था तो प्रगतिवादी तथाकथित प्रगतिवाद के माध्यम से मानव अनुभूतियों को भी भेड़-बकरी के समान हाँकना चाहता था।

छायावाद में जो कविमन अबोध बालक की भाँति प्रकृति, जीवन, सौन्दर्य, यथार्थ और इसके अतिरिक्त भी जीवन के विभिन्न स्तरों पर प्रश्न करता, अबोध बालक की भाँति भटकता सा दीख पड़ता था, तारसप्तक में वह कविमन इन शिशुवत् प्रश्नचिह्नों का अर्थ और उसका सन्दर्भ अनुभव करने लगा था। उसकी प्रौढ़ता में प्रश्न मात्र का महत्त्व नहीं था। वह सन्दर्भ की ओर बढ़ गया था। उसने जीवन और उसके सन्दर्भ का विश्लेषण भी कर लिया था। वैसे उसका प्रयास प्रगतिवादियों ने भी किया था किन्तु वे अपनी संकीर्णताओं के नाते उसकी अतल गहराई तक नहीं पहुँच सके थे। तारसप्तक के कवियों ने जीवन की उन जटिलताओं को निकट से देखने का प्रयास किया था, इसीलिए वे बार-बार उन सभी सन्दर्भों में अपने को सापेक्ष रूप से स्थापित कर रहे थे। प्रकृति भी उनके लिए जादूगरनी नहीं रह गयी थी। यथार्थ भी उनके लिए केवल चमत्कार नहीं रह गया था। तारसप्तक का कवि उन दोनों से सम्बद्ध अपने यथार्थ के प्रति भी जागरूक था और उसकी उपलब्धि थी :

> मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता––
> मैं ही वह मीनार-शिखर का प्रार्थी मुल्ला––
> मैं वह छप्पर तल का अहम् लीन शिशु-भिक्षुक
> और, हाँ, निश्चय,
> मैं वह तारक-युग्म,
> अपलक द्युति, अनथक -गति, बद्ध-नियति
> जो पार किये जा रहा नील-मरु-प्रांगण नभ का।
> मैं हूँ ये सब, ये सब मुझ में जीवित––
> मेरे कारण अवगत––मेरे नेत्र में अस्तित्व-प्राप्त !
> उष:काल
> उष:काल की रहस्यमय
> भव्य शान्ति !
>
> ––अज्ञेय

१०

यह अनुभूति रखने वाले तारसप्तक के कवि उस काल के परम्परावादी कवियों से कई रूप में भिन्न थे । सर्वप्रथम तो ये कि ये कवि यह कहने का साहस रखते थे कि, "मैं हूँ ये सब, ये सब मुझ में जीवित" और इस सापेक्षता में वह परम्परा के सभी बन्धनों को तोड़कर चलने का साहस अनुभव कर रहे थे । यदि इसमें सम्मिलित प्रगतिवादी कवि अपनी इस अनुभूति को तोड़ दबे स्वर में कह रहे थे तो अज्ञेय के शब्दों में इसकी स्थापना दृढ़तर रूप में व्यक्त हो रही थी । दूसरे यह कि इस साहस के पीछे कोई कौतुक नहीं था वरन् अनुभव था जो उस समय के शंकित व्यक्तित्व में बार-बार तेजी से उभर रहा था । ऐसा स्वर उसी समय उभर सकता है जब मनुष्य वास्तविक रूप में यह अनुभव कर लेता है कि प्रकृति और जीवन दोनों का सम्बन्ध आत्म-उपलब्धि से है, यथार्थ और मानव स्वाभिमान (dignity) से है । साथ-ही-साथ यह भी स्थापित करता है कि जीवन की व्यापकता और उसका वास्तविक सन्दर्भ किसी आडम्बर या विशेष मत द्वारा दिखाया नहीं जा सकता वरन् वह स्वानुभूति स्वचेतना की वस्तु है ।

यह स्वानुभूति और स्वचेतना की स्वतंत्रता ही मानव विशिष्टता को व्यापकता के प्रति आस्था प्रदान करने का स्वर है क्योंकि बिना इस शर्त्त के और बिना इसके समर्थन के मानव विशिष्टता की स्वीकृति ही नहीं हो सकती । मानव विशिष्टता इसी स्वानुभूति की स्वतंत्रता और स्वचेतना की पवित्रता की जागरूक दृष्टि है जो सामान्य मानव वर्ग को समान मानती है और इसीलिए वह किसी आदर्श और किसी भी मतवाद से अधिक मूल्यवान् मानव मात्र के व्यक्तित्व की पवित्रता में विश्वास करती है । तारसप्तक में व्यक्त किये गये ये भाव इसीलिए अत्यधिक आधुनिक हैं जिनकी आधुनिकता में बहुत बड़ा सत्य है ।

तारसप्तक के अध्ययन से एक और बात का आभास मिलता है और वह यह कि कवियों में व्यक्तिगत तथ्यों और अनुभूतियों को कह सकने का सामर्थ्य था । यही नहीं ये कवि अनुभूतियों के अनुकूल भाषा (diction) भी निर्माण करने में सफल रहे । यथार्थवाद की वस्तुस्थिति को स्वीकार करने के बाद इनकी भाषा भी छायावादी स्नॉबरी की भाषा नहीं थी और न प्रगतिवादी नारे की भाषा को इन्होंने अपनी कृतियों की भाषा स्वीकार किया है, उस में व्यक्तिगत तत्त्व बहुत अधिक हैं । इनका यह विद्रोह भी इस बात की पुष्टि करता है कि इन कवियों ने अपनी मानवीय सम्वेदनाओं को व्यक्त करने के लिए किसी भी प्रकार की रूढ़ि को स्वीकार नहीं किया । रूढ़ि से टूट कर जब कोई भी प्रवृत्ति अपनी व्यक्तिगत आत्मसाक्षात्कार-अनभूति को व्यक्त करने का साहस करती है तो वह मानव विशिष्टता के इस सत्य को स्वीकार ही कर लेती है कि कविता के क्षेत्र में व्यापक मानवीय सन्दर्भ को प्रस्तुत करने के लिए जिस तीव्र भाव-भंगिमा की मात्रा विकसित हो रही थी

वह मानव विशिष्टता के समर्थन में थी।

कवि की भावनाएँ अधिकांश रूप में व्यक्तिगत होती हैं क्योंकि वह अपने माध्यम से ही समस्त व्यापक जीवन को देख सकने में समर्थ है। अपना माध्यम एक बहुत बड़ा सत्य है जिसको स्वीकार किये बिना कविता के भावस्तर को अर्थ देना कठिन होता है। तारसप्तक के कवियों में इसीलिए अपनी माध्यम-शक्ति की जागरूकता है। इसीलिए उन में वह स्पष्टता या आग्रह नहीं है जो प्रगतिवाद या इस भावधारा के अन्तर्गत अन्य कवियों में पाया जाता है। प्रयोग इसीलिए उसकी भाव-भंगिमा को पूरा करता है क्योंकि वह व्यक्ति माध्यम की सापेक्षता में जीवन, सौन्दर्य, समाज की दृष्टि पाता है। कुछ सीमाओं तक व्यक्तिगत तत्त्वों की यह विशेषता उस विशिष्टता की ओर उन्मुख लगती है जिसका अनुभव उस काल के कवि-मन को बराबर हो रहा है। गिरिजाकुमार माथुर की यह कविता व्यक्तिगत होते हुए भी उस साधारण जीवन की भावना के कितनी निकट है जो मानव विशिष्टता के स्तर पर मनुष्य मात्र में आस्था रखती है :

> **आज अचानक सूनी सन्ध्या में**
> **जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था**
> **किसी काम में जी बहलाने**
> **एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा**
> **गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा–सा टुकड़ा**
> **उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं**
> **रंग भरी उस मिलन रात में** —**गिरिजा कुमार माथुर**

प्रगतिवाद ने जिस व्यक्तिगत अनुभूति को वर्जना के रूप में तिरस्कृत कर दिया था या जिसे वह 'डिकेडेण्ट बुर्जुआ' भावनाओं की सम्वेदनशीलता कहकर त्याज्य बनाने की चेष्टा कर रहा था—तारसप्तक ने उस स्वर की ईमानदारी और उसकी कलात्मकता को भी महत्त्वपूर्ण समझा था। यद्यपि उस समय बच्चन और उनके साथ के अन्य गीतकारों का भाव-पक्ष भी इसी प्रकार की भावनाओं को गाता जा रहा था फिर भी गिरिजाकुमार माथुर की इस कविता में व्यक्तिगत भावना उन कविताओं के मैनरिज़्म से भिन्न थी। इसी का एक दूसरा प्रमाण हमें नेमिचन्द्र जैन की कविता में मिलता है :

> **यह मधु-मास लजीला चुप-चुप**
> **तेरे उर के आँगन को**
> **गीला कर-कर जाता होगा री ;**
> **परिमल के मिठास से भाराकुल**
> **यह बासन्ती बयार**

उलझ-उलझ खोल-खोल देता होगा री,
तेरा कच सँभार सुरभिमय

. . . . .

मैं एकाकी
मेरे आगे टेढ़ा-मेढ़ा— बिखरा फैला है
अनन्त पथ अब भी बाकी —नेमिचन्द्र जैन

कहने का सारांश यह कि यह व्यक्तिगत सम्वेदना का स्वर जिस रूप में तारसप्तक के कवियों में मिलता है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगतिवाद का नारा अपनी प्रेषणीयता खो चुका था और तब ऐसी स्थिति में जो स्वर बिकसित होकर अपनी आत्म-अनुभूति को व्यक्त कर रहे थे वे जाने या अनजाने उस नयी दिशा की ओर अग्रसर हो रहे थे जो मानव विशिष्टता और उसके स्वाभिमान द्वारा प्रतिष्ठित व्यक्ति-मर्यादा के प्रति आस्थावान् थी। यह आस्था एक ओर अपने में आत्मविश्वास के स्वर गुंजा रही थी, दूसरी ओर यह अपनी सम्वेदना की साक्षी में उस 'विशिष्ट मानव' या 'नया हिरो' के स्वप्न से पृथक् थी जो सहज मानवता में विश्वास करने के बजाय उसे आग्रहपूर्वक एक संकुचित सीमा में ही बाँधना चाहता था। यही कारण है कि तारसप्तक की विषय-वस्तु (content) और उसकी भावगत संगति नयी होने के साथ-साथ अधिक समर्थ और सशक्त स्वर में प्रस्तुत हो रही थी। गहराई से देखने के बाद यह भी स्पष्ट हो जायगा कि इनका प्रयोग अथवा इनका शब्दशिल्प भी इसी लिए भिन्न था। ये कवि छायावाद के शब्दाडम्बर को स्वीकार नहीं कर सकते थे, साथ ही प्रगतिवाद के आग्रह को भी एकदम स्वीकार करने में असमर्थ थे, इन की मन:स्थिति बच्चन जैसे गीतकारों से भी मेल नहीं खाती थी, साथ ही यह मनोरंजनवादी भी नहीं हो पाते थे, इसीलिए इनका स्वर, इनकी मन:स्थिति, इनका शिल्प, इन की शब्द-व्यंजना, इनकी विषय-वस्तु, इसके माध्यम, इसके प्रतीक, बिम्ब इत्यादि भी भिन्न थे। यह इसीलिए नहीं था कि ये सहसा साहित्यिक जगत् को चौंका कर कुछ नये चमत्कार करने वाले थे वरन् यह इसलिये था कि जिस रूप, शिल्प, शब्द, रचनाविन्यास को इन्होंने अपनाया था, केवल वही इनकी भावधारा के लिए अधिक सुगम और सुदृढ़ था। प्रभाकर माचवे के शब्दों में इनकी मन:स्थिति थी :

निर्जन की जिज्ञासा है निर्जन की तुतली बोली में,
विटपों के हैं प्रश्न चिह्न—विहगों की वन्य ठठोली में
इँगित है "कुछ और पूछ लूँ" इन्द्रचाप की रोली में,
संशय के दो कण लाया हूँ आज ज्ञान की झोली में—प्रभाकर माचवे

कालक्रम के साथ प्रथम तारसप्तक का यह संशय, यह शंकाकुल मन दृढ़ता

की ओर अग्रसर होकर दूसरे सप्तक में अधिक स्पष्ट होकर और आत्मविश्वास के साथ व्यक्त हुआ है। दूसरे सप्तक के प्राय: सभी कवि अपनी बात करने में प्रथम सप्तक के कवियों से कहीं अधिक दृढ़ता और आत्मविश्वास का परिचय देते हैं। दूसरे सप्तक के कवियों का यह गुण-विशेष सिद्ध करता है कि कवि को अपनी दृष्टि और अपनी भावनाओं को यह कह सकने की स्वतन्त्रता सर्वप्रथम ही प्राप्त हुई थी। अपनी कमियों और सीमाओं को जानते हुए भी कहने का साहस निश्चय ही एक स्वस्थ प्रवृत्ति का परिचय देता है। इसी भाव से प्रेरित होकर भवानी-प्रसाद मिश्र का निम्नलिखित काव्यांश बड़ा मार्मिक बन गया है :

वाणी की दीनता
अपनी मैं चीन्हता
कहने में अर्थ नहीं
कहना पर व्यर्थ नहीं,
मिलती है कहने में
एक तल्लीनता!

—भवानी प्रसाद मिश्र

● दूसरी विशेषता दूसरे सप्तक की यह है कि वर्जनाओं और कुण्ठाओं में जो कविता कसकसाकर मुक्ति की ओर उन्मुख होकर प्रथम तारसप्तक में व्यक्त हुई है उस उन्मुखता को विशेष शक्ति का भास मिला है और कवि को अपनी मार्मिक व्यथा कह सकने की पूरी शक्ति और स्वतन्त्रता मिल पायी है। जैसा कि प्रथम सप्तक में अपने वक्तव्य में अज्ञेय ने कहा था—"आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति मौन वर्जनाओं का पुंज है। उसके जीवन का एक पक्ष है उसकी लम्बी परम्परा, जो परिस्थितियों के परिवर्त्तन के साथ-साथ विकसित नहीं हुई है और दूसरा पक्ष है स्थिति-परिवर्त्तन की असाधारण तीव्र गति जिसके साथ रूढ़ि का विकास असम्भव है। इस विपर्यास का परिणाम है कि आज के मानव का मन यौन परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनाएँ सब दमित और कुण्ठित हैं। उसकी सौन्दर्य-चेतना भी इसी से आक्रान्त है।"—इस कथन में बहुत बड़ा सत्य था। दूसरे सप्तक में इन वर्जनाओं से कवि को मुक्ति मिली है। यह मुक्ति आत्म-उपलब्धि के स्तर पर एक स्वस्थ परम्परा और पूर्ण व्यक्तित्व का परिचय देती है। यदि एक ओर भारती प्रश्नरत होकर उन समस्त वर्जनाओं के सामने प्रश्नचिह्न अंकित करते हुए कहते हैं :

गुनाहों से कभी मैली हुई बेदाग तरुनाई
सितारों की जलन से बादलों पर आँच कब आयी
न चन्दा को कभी व्यापी अमा की घोर कजरायी
बड़ा मासूम होता है गुनाहों का समर्पण भी

हमेशा आदमी मजबूर होकर लौट आता है
जहाँ हर मुक्ति के, हर त्याग के, हर साधना के बाद
मेरी ज़िन्दगी बरबाद। —भारती

—तो दूसरी ओर शमशेरबहादुर सिंह की कविता में इन प्रश्नचिह्नों के परे ऐसे तत्त्व हैं जो आधुनिकता से सम्पन्न व्यक्ति की आत्मविश्वास-पूर्ण प्रौढ़ता का भी परिचय देते हैं :

धरो शिर
हृदय पर
वक्ष-वह्नि से—तुम्हें
मैं सुहाग हूँ
चिर सुहाग हूँ
प्रेम अग्नि से—तुम्हें
मैं सुहाग हूँ
विकल मुकुल तुम,
प्राणमयि
यौवनमयि
चिर वसन्त स्वप्नमयि
मैं सुहाग हूँ
विरह आग से—तुम्हें
मैं सुहाग हूँ। —शमशेरबहादुर सिंह

कहने का सारांश यह कि दूसरे सप्तक में इन वर्जनाओं का स्वतन्त्र रूप से अन्त हुआ है। यही नहीं, काव्य के रूप में, मूल्यों के रूप में, नैतिकता के स्तर पर भी इन वर्जनाओं के प्रति जो विद्रोह व्यक्त हुआ है वह सर्वथा नयी सुरुचि और नयी भाव-भंगिमा का परिचय देता है। शमशेर की उपर्युक्त कविता में व्यक्तिगत तत्त्व का चरम उत्कर्ष है। इसकी कलात्मकता में यह निहित है कि कवि का गतिशील (dynamic) अहम् और उसका सौन्दर्यबोध सर्वथा नये आयाम प्रस्तुत करता है। यही नहीं, वह सौन्दर्य को भोगने की, उस साहचर्य को बौद्धिक स्तर पर ग्रहण करने की क्षमता रखता है।

● तीसरी विशेषता जो दूसरे सप्तक में पहले से अधिक आत्मविश्वास से व्यक्त हुई है वह है नये माध्यमों और नये रास्तों के अन्वेषण के प्रति अटूट श्रद्धा। तथाकथित आदर्शों और उनके निरपेक्ष उपयोगों का नग्न ताण्डव देख लेने के बाद उस सन्दिग्ध युग से निकलती हुई कवि-चेतना बार-बार अपने चारों ओर के बिखरे आडम्बर और वाग्जालों से मुक्ति चाहती है। उसका स्वर बार-बार

अपनी स्वतन्त्रता को फिर से पाने की चेष्टा करता है। वह यह भी अनुभव करती है कि विश्व के आदर्श की भुजाएँ युग के यथार्थ को वहन करने में असमर्थ हैं, इसलिए वह बार-बार यह कहती है :

विश्व के आदर्श की छोटी भुजाएँ
यह हमारे स्वप्न का ब्रह्माण्ड इसमें
किस तरह सिकुड़े-समाये
इसलिए आओ बदल लें राह अपनी
चल नयी पगडण्डियों पर
हम नया आदर्श पायें
यह हमारा पथ छिदा है कण्टकों से
झर चुकीं निर्गन्ध सूखी पँखुड़ियाँ बन-फूल की।
. . .. ..
जन समुन्दर के किनारे की समय की बालुओं पर
हम युगल पद-चिह्न अपने भी बना दें।

—हरिनारायण व्यास

लगता है दूसरे सप्तक के कवि के पास अपनी पहचान (identity) की भी बहुत बड़ी समस्या थी। यह उसकी चौथी विशेषता है! जिस जनाकुल, युद्धजनित संस्कारों के हाहाकार के बीच वह जी रहा था उसमें वह प्रतिक्षण यह अनुभव कर रहा था कि उसका व्यक्तित्व बार-बार अवहेलना के शाप से विफल होता जा रहा है। वस्तुतः प्रत्येक जनाकुल, विभ्रमित एवम् शंकित आदर्शों के बीच व्यक्तिमन का यह अनुभव बार-बार उसे विक्षिप्तता की सीमा तक उद्वेलित कर देता है। यह उद्वेलित मन:स्थिति सदैव शुद्ध मन से अपने अस्तित्व के प्रति जिज्ञासु होती है और अपनी पहचान (identity) को स्थापित करने के लिए बाध्य भी होती है। दूसरे सप्तक में अपनी पहचान को बनाये रखने की बात बार-बार कई कवियों ने उठायी है। एक दूसरे-स्थान पर नरेश मेहता की अनुभूति है :

मेरी अहम् की मीनार की ही नींव में
एक पत्थर हिचकियाँ है ले रहा
एक हिचकी!
प्रतिध्वनित हो चाहती इतिहास होना
आह, मैं ऊँचा गगन,
औ' नींव का पाताल, आँसु की नदी में।

—नरेश मेहता

इस पहचान के आग्रह के साथ ही दूसरे सप्तक के कवियों में दृष्टि की व्यापकता का भी परिचय मिलता है। यह दूसरे सप्तक के कवियों की पाँचवीं विशेषता है। दृष्टि की व्यापकता (broad vision) के साथ-साथ जीवन को प्रबुद्ध क्रिया-शीलता एवम् सहगमन (participation) की उनकी चेष्टा है। इसका प्रमाण हमें भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेरबहादुर सिंह और भारती में स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ता है। शमशेरबहादुर सिंह यद्यपि अपनी रचनाओं में प्रगतिवादी विचारधारा का सशक्त समर्थन करते चलते हैं और कहीं-कहीं यह समर्थन अनावश्यक प्रयास ही लगता है फिर भी उनकी बातों में केवल नारा नहीं है वरन् अनुभूति की गहराई भी है। उनकी कविताओं को पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि शमशेर सर्वप्रथम तो कवि हैं उसके बाद और कुछ। यही कारण है कि अपनी दृष्टि की पवित्रता को संयमित रूप से निभाते हैं। दृष्टि की व्यापकता बिना आत्मविश्वास के और अपनी निजी अनुभूति की पकड़ के सम्भव नहीं हो पाती :

ये किसी निश्चित नियम, क्रम की सरासर सीढ़ियाँ हैं
पाँव रखकर बढ़ रही जिसपर कि अपनी पीढ़ियाँ हैं
बिना सीढ़ी के बढ़ेंगे तीर के जैसे बढ़ेंगे
इसलिए इन सीढ़ियों के फूटने का सुख
टूटने का सुख !
—भवानीप्रसाद मिश्र

इसी ध्वंस में मूर्छित हो कहीं
पड़ी हो नयी जिन्दगी, क्या पता ?
—भारती

घिर गया है समय का रथ कहीं
लालिमा से मढ़ गया है राग
भावना की तुंग लहरें
पन्थ अपना अन्त अपना जान
रोलती हैं मुक्ति के उद्गार।
—शमशेर

इस प्रकार दृष्टि की व्यापकता और परम्परागत रूढ़ियों के प्रति विद्रोह दूसरे सप्तक के कवियों का विशेष गुण है। शकुन्त माथुर की कविताओं में व्यक्त जीवन के हल्के-फुल्के स्पर्श एक नयी परिधि की ओर संकेत करते हैं। ये मधुर स्पर्श तारसप्तक के कवियों में मर्मस्पन्दन के रूप में ही व्यक्त हुए थे। यह नया प्रयास कहीं-कहीं अधकचरा भी लग सकता है किन्तु यह सब होते हुए जो महत्त्वपूर्ण बात इन रचनाओं में हमें स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ती है वह यह है कि कवि का स्वर इस संग्रह में अधिक मुक्त और अधिक मानवीय सम्वेदनाओं से ओतप्रोत है। साथ-ही-साथ इन कवियों में एक निर्भीकता का भी भास मिलता

है। यह निर्भीकता विशेष महत्त्व की है। महत्त्व इस बात का नहीं है कि वे केवल निर्भीक हैं वरन् इस निर्भीकता के पीछे मन्तव्यों और उद्देश्यों की स्पष्टता अधिक मार्मिक वेदनाओं के साथ व्यक्त हुई है।

रूढ़ि से मुक्ति और दृष्टि की व्यापकता का परिप्रेक्ष्य, विषय-वस्तु का मानवीकरण, यथार्थ की सशक्त सार्थकता की स्वीकृति इन कवियों की विशेषता है। जिस मुक्ति की अनुभूति से ये कवि ओतप्रोत हैं वह अपने में कुण्ठाग्रस्त न होने के कारण अथवा किसी भी पूर्वाग्रह से परिचालित न होने के कारण प्रयोग की ओर अग्रसर होती है। यह प्रयोग की बौद्धिक एवम् रागात्मक अभिव्यक्ति इस बात को सिद्ध करती है कि कविता ऊँचाई और विस्तार की बाह्य प्रतीक नहीं है वरन् आत्मवेदना और आत्म-निवेदन की गहराई के स्तर पर विकास पा रही है। साथ ही इस प्रवृत्ति में यह बात भी निहित है कि यह विशिष्ट प्रयास इसलिए नहीं है कि इसमें किसी विशिष्ट मतवाद की स्थापना है वरन् यह विशिष्टता इस बात की है कि इस काव्य-स्वर में कवि का मानवीय रूप अधिक प्रस्तुत हुआ है। जैसे प्रगतिवाद में मानवीय स्तर की अपेक्षा मतवाद को विशेष महत्त्व मिलता है उससे पृथक् इन कवियों में विभिन्नता एक विशिष्टता है जो यह स्थापित करती है कि काव्य का गुण मानवीय होना है न कि शास्त्रीय अथवा मात्र औपचारिक।

साथ ही इस संग्रह में हमें एक बात का और भास मिलता है और वह यह कि जीवन के वे मुक्त क्षण जो अब तक नेगेटिव मोमेण्ट (negative moment) कहकर तिरस्कृत कर दिये जाते थे उनको सहसा व्यंजना और अभिव्यक्ति का महत्त्व मिल गया है। यह परिवर्त्तन दृष्टिकोण की प्रेषणीयता के नाते विशेष महत्त्व का है। जीवन एक सतत प्रवाह है जिस की हर लहर अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ सम्वेदना के स्तर पर मार्मिक हो सकती है। यदि उसको अनुभव और दृष्टिबोध दोनों का योग मिल जाये तो वही लहर अथवा वही क्षण अधिक मूल्यवान् रूप में प्रस्तुत हो सकता है। यही कारण है कि तारसप्तक के कवियों में विस्तार (extensity) और तीव्रता (intensity) दोनों का समुचित बोध मिलता है। यदि इस विस्तार को अथवा इस तीव्रता को कला की दृष्टि से देखा जाये तो निश्चय ही ये दोनों आयाम सप्तक के कवियों में बड़े महत्व के हैं और ये इस बात का परिचय देते हैं कि तथाकथित नेगेटिव मोमेण्ट भी किसी सन्दर्भ में विशेष महत्व का हो सकता है।

यही कारण है कि सत्य की सापेक्षता में सम्पूर्ण सत्य और अंश-सत्य का जितना भयंकर द्वन्द्व हमें आदर्शवादियों में मिलता है उतना ही प्रगतिवादियों में भी मिलता है। ये दोनों अपने-अपने क्षेत्र में जीवन की उस छोटी-से-छोटी अनुभूति को भी बल दे सकते हैं, अथवा व्यापक-से व्यापक सम्वेदना को तिरस्कृत कर सकते हैं

क्योंकि यह सर्वप्रथम मानव व्यक्तित्व को एक सीमित दायरे में बाँधकर ले चलती है; उसे मुक्त परिस्थितियों में सोचने का अथवा विस्तृत सन्दर्भ में जीने का नैतिक साहस ही नहीं दे पाती ! दूसरे सप्तक के कवियों की विशेषता यह है कि वे आग्रह नहीं करते, वे अपनी सीमा में अपनी बात कहते हैं । अपनी सीमाओं को स्वीकार करना बहुत बड़ा नैतिक साहस है । कवि की वास्तविक अनुभूति है :

बात बोलेगी
हम नहीं
भेद खोलेगी
बात ही
सत्य का मुख
झूठ की आँखें
क्या—देखें :
अभय जनता को
सत्य ही सुख है,
सत्य ही सुख ।

—शमशेर

'सत्य का मुख—झूठ की आँखें' यह भावानुभूति प्राय: दूसरे सप्तक के कवि की वास्तविक अनुभूति थी । यही कारण है कि वह उन सभी माध्यमों को त्यागना चाहता है जो केवल झूठ की आँखें प्रदान करती हैं । इसीलिए उसका विश्वास अपनी बात पर है और वह स्पष्ट स्वरों में यह कहता है कि बात बोलेगी हम नहीं—भेद खोलेगी बात ही ।

अपनी बात पर इतना आत्मविश्वास नये कवि की वास्तविक मन:स्थिति का परिचय देता है । यह बात अलग है कि आज के सन्दर्भ में वह कितना कह पायेगा किन्तु अपनी बात पर आस्थावान् रहना और उसे ईमानदारी से कहना आज के कवि की सबसे बड़ी शक्ति है । इसी के आधार पर वह आज अपनी स्थिति को समस्त विरोधों के बावजूद भी बनाये रखने में समर्थ है । यदि उसके पास यह पूंजी न होती तो वह भी या तो छायावादियों की तरह दिग्भ्रमित होता अथवा कोरा प्रगतिवादी होकर नारा लगाने वाला नाराबाज़ । शमशेर सर्वप्रथम कवि हैं, इसीलिए उनकी अनुभूति में यह ईमानदारी उभरकर व्यक्त हुई है ।

आज के सन्दर्भ में सारी बौद्धिक जागरूकता की यह माँग है कि वह समस्त चेतना और शक्ति के साथ विशिष्ट मानव वर्ग के विभाजित अंश का विरोध करे, मानव विशिष्टता के दायित्व में पूर्ण विश्वास विकसित करे । आज आदमी को आदमी के सन्दर्भ समझने की विशेष आवश्यकता है । उसके वास्तविक मूल्य को और उसकी वास्तविक जीवित शक्तियों को विभिन्न वर्गों में बाँटकर देखने वाली

प्रवृत्ति निश्चय ही कहीं-न-कहीं उसके समुचित आत्मविश्वास को खण्डित करती है। इसीलिए जहाँ आदमी को उसकी विशिष्टता सुरक्षित रखनी है वहीं उसे इस बात का भी प्रयास करना है कि संस्कारों और परम्पराओं के विरुद्ध, उनकी रूढ़िगत शक्तियों के विरुद्ध उसे आत्मविश्वास का अनुभव होने दिया जाये जो उसके सम्पूर्ण व्यक्ति को उभार कर प्रस्तुत कर सके। इतिहास, राजनीति, युद्ध, संक्रान्ति, धर्म, दर्शन इन सब-के-सब ने अपनी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य से उसका वास्तविक अस्तित्व छीन लिया है। यदि नयी कविता अपनी विशिष्टता के साथ मानव अनुभूति को अपने में समग्र करके कवि के व्यक्तित्व को स्वतन्त्रता का बोध नहीं कराती तो निश्चय ही इस नयी अनुभूति का कोई महत्त्व नहीं होगा। यदि जीवन की विभिन्नता (variety) को स्वीकार नहीं किया जायेगा, यदि इस स्वीकृति में सम्मान और दूसरे को सहन करने (tolerance) की क्षमता नहीं होगी तो यह नयी कविता भी या तो प्रगतिवाद की रूढ़ि की भाँति संकीर्ण हो जाएगी या छायावाद की भाँति केवल रहस्य तक आकर समाप्त हो जायेगी। नया भावबोध इस विश्वास का प्रतीक है कि कम-से-कम आज का कवि इन संकीर्णताओं से पृथक् है। उसमें अपनी बात कहने का साहस है। साथ ही उसमें गलत बात की कटुता के विरुद्ध भी कह सकने की सामर्थ्य है। यह सामर्थ्य किसी वर्ग विशेष का उत्तराधिकार नहीं है। साथ ही इस सामर्थ्य का कोई भी गलत उपयोग करना कम-से-कम कविता की आत्मा की हत्या करना है। नयी कविता का मूलाधार यह धारणा-शक्ति है, उसकी आन्तरिक चेतना इसके प्रति सजग भी है। मनुष्य आज एक ओर अपने विकास के चरमोत्कर्ष पर है; दूसरी ओर उसे अपनी भाव-भूमि पर भी इस एक सत्य को सुरक्षित रखना है कि उस में मनुष्य मात्र के प्रति आस्था है। इसीलिए उसकी आस्था अपने में भी है।

आदमी आज खीजता है, पकता है, टूटता है, बनता है; और इन परिस्थितियों में वह अपने और अपने से बाहर विषाक्त वातावरण से जूझता है। इस जूझने में, इस टूटने में, इस खीझने में और पकने की प्रक्रिया में निश्चय ही उसका आत्मविश्वास भी विकसित होता है। सम्प्रदायों के विष को आज के मानव ने काफ़ी झेला है; इसीलिए वह आज अपनी भाषा में बोलना चाहता है, अपनी शैली में कहने के लिए आग्रह करता है। यही उसकी विशेषता है।

इस प्रकार इस निर्णय पर पहुँचना स्वाभाविक है कि प्रथम सप्तक में जो स्वर शंकाकुल और द्विविधाग्रस्त हो उठे थे, वे दूसरे सप्तक में ईमानदारी के साथ और पूर्ण आत्मविश्वास के साथ व्यक्त हुए हैं। व्यक्ति-मर्यादा की स्थापना की वह तड़प, जो प्रथम सप्तक के कवियों में कसमसा रही थी उसकी स्थापना हमें दूसरे सप्तक के कवियों में पूर्ण रूप से मिलती है। साथ ही स्वतन्त्र मनःस्थिति

की भंगिमाओं की झलक जो प्रथम सप्तक के कवियों में दुरूहता के साथ व्यक्त हुई थी , उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति भी दूसरे सप्तक में हुई है । यह स्वतन्त्र मन:स्थिति प्रगतिवाद अथवा किसी भी सम्प्रदायवाद की खोखली आवाज़ों की गूंज के समक्ष अधिक शक्तिशाली रूप में व्यक्त हुई है । कवि का वह अहम् जिसकी निष्ठा को छायावाद और छायावाद के बाद प्रगतिवाद ने शंकाकुल बना दिया था, जो दो युद्धों के बीच टूट चुका था और जिससे आदर्शों के थपेड़े में यथार्थ का नग्न एवम् कटु दर्शन करना पड़ा था वह अधिक निष्ठा के साथ उभरने में समर्थ हुआ है। अर्थात् व्यक्ति समस्त मानव विशिष्टता के साथ अपने अहम् और उसके सन्दर्भ को व्यक्त करने में सफल हुआ है । मानव विशिष्टता के प्रति अधिक जागरूक बौद्धिक प्यास भी इस युग के कवियों में पर्याप्त मात्रा में मिलती है । ऐसा लगता है कि विस्थापित व्यक्ति को अपने जीवन की परिधि में ही अपनी सम्पूर्ण लघुता के परिवेश के साथ जी सकने का बल विकसित हो रहा है । यह आभास जहां हमें यह विश्वास दिलाता है कि कविता अधिक मानवीय स्तर पर व्यक्त हो रही है। दूसरे सप्तक के कवियों में सौन्दर्य को आत्मसात् करने के साथ उनका यथार्थ से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध भी अधिक स्पष्टता के साथ दिखलायी पड़ने लगा है । उनकी बौद्धिक जागरूकता और भावनात्मक सहगमन-शक्ति भी काफी प्रौढ़ रूप में व्यक्त हुई है । प्रथम सप्तक में हमें इन तत्त्वों की स्वीकृति मिली थी, दूसरे सप्तक में उस स्वीकृति का सम्पूर्ण समर्थन और उसको सम्वरण करने की क्षमता का भी परिचय मिलता है ।

मानव विशिष्टता और आत्मविश्वास के आधार (२)

मनुष्य को मनुष्य के रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति के साथ कई प्रश्न उपस्थित हैं जिनका उत्तर और समाधान नयी कविता में विकसित होता है । प्रथम तो यह कि मनुष्य के मानवी रूप की परिभाषा क्या है और उसकी सीमायें क्या हैं ? दूसरे यह कि जीवन के यथार्थ की क्या सीमायें हैं और उन सीमाओं की क्या संभावनायें हैं ? तीसरा यह कि जीवन ही यथार्थ है या यथार्थ ही जीवन है ? इसका मानव विशिष्टता से क्या सम्बन्ध रखता है ? चौथा यह कि विशिष्ट मानव का अर्थ क्या है और उस का तात्पर्य क्या है ? पाँचवां यह कि आत्म-विश्वास की पृष्ठभूमि क्या है ? उसकी परिणति किसमें है ?

जहाँ तक मनुष्य के मानवीय रूप और उसकी संभावनाओं का सम्बन्ध

है उस से तात्पर्य यह है कि मनुष्य को सजग और सतत विकासोन्मुख व्यक्ति मानते हुए उसकी प्रकृति को आदर्शवादी दृष्टि से न देख कर यथार्थवादी दृष्टि से देखा जाय। अब तक की परम्परा काव्य की कला की अभिव्यक्ति को मानवीय राग-बिराग के स्तर पर भी विराटत्व से अभिभूत करने की रही है। मानव स्वत्व और उसके निजित्व का भी एक मूल्य है, उसकी एक परिधि है, इस पर दृष्टिपात नहीं किया जाता था। जीवन को केवल उदात्त और आदर्श की सीमा में सीमित करने से यथार्थ की उचित दृष्टि विकसित नहीं हो पाती। अस्तु जब हम मानवीय होने का आग्रह करते हैं तो मनुष्य को उसकी सीमाओं और उपलब्धियों के साथ देखने का आग्रह करते हैं। अर्थात् हमारा यह उद्देश्य होता है कि मनुष्य की भावनाओं को उसकी प्रकृति के अनुसार देखा जाय और उस प्रकृति के आधार पर जो कुछ भी उसकी उपलब्धि है उसको उसकी सहजता और स्वाभाविकता के अनुसार ग्रहण करने की चेष्टा की जाय।

वर्तमान युग की सब से बड़ी विडम्बना यह है कि मनुष्य को उसकी प्रकृति और उसके संदर्भ से पृथक् करके देखने की प्रवृत्ति व्याप्त यथार्थ के बावजूद भी विद्यमान है। मानव प्रगति ने जहाँ वैज्ञानिकता और विवेक के साथ-साथ यथार्थ का सापेक्ष दृष्टिकोण विकसित किया है वहीं मानव चिन्तन में भाग्यवादी रूढ़िवा-दिता, मतवादी रूढ़िवादिता, साम्प्रदायिक रूढ़िवादिता अपनी समस्त जड़वादी मनोवृतियों के साथ विद्यमान हैं। आधुनिक समाज की सब से बड़ी कठिनाई दुहरे संघर्ष में ही निहित है। यथार्थ की स्वीकृति के साथ भी कई साम्प्रदायिक विचारधारायें केवल धर्म रूप में आज भी मौजूद हैं। प्रगतिवाद इत्यादि कुछ ऐसी ही विडम्बनायें हैं जो यथार्थ को स्वीकार करते हुए अपने-अपने विचारों की सीमाओं में इस प्रकार बन्धी हुई हैं कि उनसे उन्हें मुक्ति ही नहीं मिल रही है। यथार्थ के इन विकृत रूपों ने भी काफ़ी भ्रम फैलाया है और मानव चिन्तन को इस ने दूषित भी किया है। आज जो मानवीय आस्था के प्रति अधिक ज़ोर देने की आवश्यकता अनुभव हो रही है उसका एक कारण और शायद प्रमुख कारण यह है कि मनुष्य को मनुष्य के रूप में न देख कर उसे विभिन्न वर्गों, खानों और सम्प्रदायों के रूप में देखा जाता है। मनुष्य को उसकी अपनी चेतना के साथ जीने का संबल न देकर एक आवरण में देखने और दिखलाने की चेष्टा की जाती है और इस प्रकार मानव की नयी संभावनाओं को तिरस्कृत समझा जाता है —चाहे वह कम्यूनिज़म हो चाहे धर्म की रूढ़ि, चाहे वह नियतिवाद हो चाहे एकांगी अधिनायकवाद हो, सब के सब मनुष्य के स्वतंत्र व्यक्तित्व को महत्त्वहीन समझते हैं।

यह पूछा जा सकता है कि मनुष्य के स्वतंत्र व्यक्तित्व को क्यों इतना महत्त्व

दिया जाता है; और तब उसका जवाब यह है कि मनुष्य का वास्तविक जीवन केवल बाह्य यथार्थ तक सीमित नहीं है क्योंकि जब हम यह मानते हैं कि यथार्थ का और मनुष्य का सम्बन्ध वस्तुपरक और आत्मपरक है, तो हम यह भी स्वीकार करते हैं कि मनुष्य जिस यथार्थ से बन्धा है उसको बदल भी सकता है तो बाह्य यथार्थ को ही अन्तिम सत्य मान लेना उतना ही भ्रामक है जितना आन्तरिक यथार्थ को मानना। विशेष कर कला या कविता में बाह्य यथार्थ का रूप और उसकी सीमायें आन्तरिक यथार्थ के बराबर सत्य होते हुए भी अन्तिम सत्य नहीं कही जा सकतीं। मानवीय रूप इन दोनों के औचित्य पर ही विकसित होता है।

और तब मानव विशिष्टता मानवीय होने में ही है। ज्ञान की उपलब्धि और विवेक का संघर्ष उस समय तक अपूर्ण है जब तक उसे मानवीय स्तर नहीं प्रदान किया जाता। धर्म की रूढ़ि मनुष्य को प्रथम रूप में 'गुनाहगार' मानती है। इसी आधार पर वह मनुष्य को विपत्तियों से पूर्ण मानने के साथ नैतिकता का सम्पूर्ण बोझ बाह्य रूप में आरोपित करती हैं। इसके विपरीत मनुष्य अपनी प्रकृति से कृत्रिमताओंके बावजूद नैतिक दायित्व का निर्वाह करने वाला प्राणी है। नैतिकता के इस प्रश्न को कोई भी ऐसी प्रकृति या कोई भी ऐसी विचारधारा—(जो मूलतः इस भूमिका से प्रारंभ होती है कि मनुष्य प्रकृतितः दूषित है) मानव विशिष्टता के प्रति अनुत्तरदायित्व-पूर्ण तर्क का समर्थन करती है। मानवीय चेतना उनकी विशिष्टता की इस प्रतिकृति में है कि मानव जीवन का विकास स्वतः हुआ है और उस स्वतः के नियंत्रण में किसी भी ऐसी शक्ति अथवा किसी भी ऐसी अमानवीय शक्ति का योग नहीं है जो विवेकऔर ज्ञान की सीमा के परे है। इतिहास की आंशिक घटनाओं में कई ऐसे स्थान हैं जहाँ मानव स्वाभिमान और मानव मर्यादा को छोटा सिद्ध करने में उन शक्तियों का हाथ रहा है जो मनुष्य को विवेक न देकर विवेकहीन प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख करती रही हैं। क्रूसेड्स से लेकर आज तक के इतिहास में "मनुष्यार्थ" कार्यों की अपेक्षा जितने भी "धर्मार्थ" या नैतिकता के आधार पर शाश्वत मूल्यों की रक्षा में दुर्घटनाएँ हुई हैं वे मानव विशिष्टता को बौनी बनाती हैं और उसकी मर्यादा को खण्डित करती हैं।

अस्तु, किसी भी ऐसी शक्ति को जो मनुष्य की सीमाओं के परे है किन्तु फिर भी जो उसकी गति-विधि को निर्धारित (determine) करती है उसे मानव की नियति से सम्बन्धित नहीं किया जा सकता। मनुष्य के प्रति सब से बड़ी अनास्था का प्रतीक यह दर्शन है कि मनुष्य स्वभावतः अपराधी या गुनाहगार है इसलिए उसके लिए एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता है जो उस पर हावी होकर उसे अनुशासित करे। सामाजिक यथार्थ के स्तर पर चाहे वह 'सुपरमैन' की प्रकृति

हो अथवा जनसत्ता की तानाशाही हो, दोनों की प्रकृति एक है क्योंकि दोनों ही यथार्थ को विकृत करते हैं और मानव विशिष्टता के प्रति घोर अविश्वास उत्पन्न करते हैं। मानव विवेक की परिणति उस दिशा में नहीं है। यदि विवेक महत्त्वपूर्ण है, यदि मानव ज्ञान के आयाम में मानवीय स्वर है तो ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर जो हर प्रकार की प्रवृत्ति अपनाई जाती है उसमें असंगति है, उसमें मानव आस्था के प्रति अविश्वास है। आज के युग की समस्त विकृतियों का मूल कारण यह है कि मानव नियति और मानव भविष्य की बात समूची मानवता से विकसित नहीं होती, इसके विपरीत ईश्वर अथवा भगवान के रिक्त स्थान को 'सुपर मैन' और 'जन-सत्ता के अधिनायक' ने ग्रहण कर लिया है। यदि उन दोनों में से किसी को भी ईश्वर के स्थान पर बैठा दिया जायगा तो निश्चय ही ऐसा करने से मानव विशिष्टता और मानव स्वाभिमान को निम्न स्तर पर लाकर प्रस्तुत करने की चेष्टा की जायगी। वह मनुष्य जो आदि काल की बर्बर स्थिति से आज के वैज्ञानिक युग में एक लम्बे विकास की परम्परा का इतिहास लिये खड़ा है, जिसने एक ओर पिरामिड और ताज जैसी रचनाएँ की हैं, जिसने समाज और दर्शन के नये मानदण्डों की वृद्धि की है और उनकी अन्तर्दृष्टि अपनाई है, उस मनुष्य को अन्ततोगत्वा अपनी नियति और अपने जीवन के प्रति किसी बाह्य स्थिति या शक्ति की शरण जाना पड़े—यह तर्क ही मानव सम्मान में अविश्वास और मानव सामर्थ्य में शंका का प्रतीक है।

इसी प्रकार मानव प्रकृति को शाश्वत नैतिक अथवा सामाजिक प्रतिमानों से बाँधना उसकी स्वतः विकासशील प्रकृति के प्रति अविश्वास करना है। शाश्वत क्या है? क्या मनुष्य का ढाँचा? उसका ज्ञान? उसकी अनुभूति? उसकी संवेदना? उसकी सृष्टि? क्या शाश्वत नैतिकता जैसी कोई वस्तु भी है जो मनुष्य के ऊपर सदैव लादी जाती है और जिसके बल पर यहाँ तक कह दिया जाता है कि मनुष्य से बढ़ कर भी कोई ऐसी शक्ति है जो उसकी नैतिकता को प्रशासित करती है? नैतिकता तो इतनी सापेक्ष वस्तु है कि वह शाश्वत हो ही नहीं सकती। मानव प्रकृति के विकास के साथ उसके भी प्रतिमान को बदलना ही पड़ेगा। यही नहीं प्रत्येक सामाजिक नीति और व्यवस्था देश-काल के अन्तर्गत ही सत्य हो सकती है। यदि वह देश काल निरपेक्ष हैं तो इसके एक मात्र अर्थ यह होंगे कि उस मतवाद में कोई वृद्धि नहीं ह, केवल एक प्रकार की विकृति है जिसका कोई महत्त्व नहीं है।

फिर जो मौलिक प्रश्न उठ खड़ा होता है वह यह है कि क्या मानव विशिष्टता की अपनी कोई मौलिक गतिविधि है या नहीं? क्या इसका भी कोई नैतिक और मानवीय आग्रह है? और यदि है तो उसका आधार क्या है क्योंकि मार्क्सवादी तो द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अन्तिम सत्य मानता है, ईश्वर

मानता है, रोमैन्टिक अपनी स्वच्छन्दवादी अनुभूति की अयथार्थ सत्ता को ही अन्तिम सत्य मानता है और उसी के आधार पर अपना ताना बाना बुनता है ; गीतकार केवल हृदयवाद की हलकी-फुलकी तरंगों में बहना ही जीवन का सत्य मानता है, कुण्ठावादी अपनी कुण्ठाओं में ही रस-विनोद लेना कविता का अन्तिम लक्ष्य मानता है, ईश्वरवादी प्रभु के गुणानुवाद करके अपनी तुष्टि पा लेता है, साम्यवादी केवल एक प्रौढ़ सत्ता की प्रशस्ति को ही चरम लक्ष्य मानता है— फिर विशिष्ट मानववाद का क्या अर्थ हो सकता है अथवा उसका क्या सन्दर्भ संभव है ?

कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त गिनाये गये विभिन्न मतवादों म दो वस्तुओं की कमी है जिससे यह सिद्ध है कि ये मतवाद अपूर्ण हैं। प्रथम तो यह कि इन मतवादों में मनुष्य को मनुष्य रूप में न देखकर इतिहास के रूप में, एकांगी अनुभूति के रुप में, असंतुलित उन्माद के रूप में, सत्तारूढ़ के प्रति प्रशस्ति-गायक के रूप में भी देखने का प्रयत्न किया गया है किन्तु सब से बड़ी कमी जो इन विचार-पद्धतियों में समान रूप से विद्यमान हैं वह है मनुष्य रूप में न देख सकने की असमर्थता। अर्थात् मनुष्य को जाग्रत, स्वनियन्ता, आत्मशक्ति से प्रयुक्त चेतन और गतिशील जीव न मान कर उसे मात्र एक खिलौने के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है जैसे मनुष्य का स्वयम् अपना कुछ है ही नहीं अथवा स्वयम अपनी निर्मित स्थितियों और परिस्तिथियों से छुटकारा पाने की कोई संभावना है ही नहीं। इस से भी बढ़कर यह कि वह केवल किसी अदृश्य ईश्वर, या विचार, या इतिहास, या दर्शन से ऐसा जकड़ा हुआ है कि वह उन समस्त परिस्थितियों से उबर ही नहीं सकता, उन से बच ही नहीं सकता। वस्तुतः इस दिशा में सोचने वाली बुद्धि यह नहीं मानती कि मनुष्य अपनी आचरण-मर्यादा से और विवेकपूर्ण बौद्धिकता से विकासोन्मुख हो सकता है। और यही कारण है कि जैसे-जैसे मानव व्यक्तित्व के विषय में, उसकी इस विशिष्टता के प्रति अनास्था विकसित होती गई है वैसे ही वैसे इतिहासों में मानव नियति और मानव व्यक्तित्व के प्रति अन्याय भी होते गये हैं। यह सही है कि मानव सभ्यता ने और मानव संस्कृति ने अपनी क्रमबद्ध ऐतिहासिक शृंखला में विकासोन्मुख रहने का प्रयास किया है किन्तु यह विकास भी पूर्ण इसलिए नहीं हो पाता कि अन्तिम प्रश्न यह उठता है कि समस्त मानव विकास का, समस्त आर्थिक, नैतिक और अन्य दिशाओं के विकास का केन्द्र कौन है ? साम्यवाद में जिस मानव का रूप इन समस्त विकासों के केन्द्र में है वह है 'वर्गमानव' और इसीलिए वह साम्य-वाद (communism) के समर्थन में विशिष्ट मानव का ही समर्थक बन कर रह जाता है। अथवा उसकी समस्त जागरूकता विशिष्ट मानव का रूप

ग्रहण करके उसी सीमा पर पहुँची होती है जहाँ वर्गमानव की परिणति सशक्त अधिनायक के रूप में ही अभिव्यक्ति पाती है। वर्गमानव की यह भावना इस स्थापना से प्रारंभ ही होती है कि मानव विशिष्टता का रूप और उसके स्वाभिमान का कोई महत्त्व ही नहीं है। इसके विपरीत उसके लिए महत्त्व है वर्गमानव का, वर्ग सीमा का, वर्ग मर्यादा का। अन्य विचार-धाराओं में यदि वर्गमानव स्थान नहीं पाता तो भी उसके स्थान पर, उस व्यक्ति के स्थान पर, किसी-न-किसी शक्ति का आभास इतने ही में मिल जाता है कि उनके संदर्भ में उस व्यक्ति-मानव और लघुमानव को कोई भी स्थान नहीं मिल पाया जो इन समस्त ऐतिहासिक कुचक्रों के बीच भी अपने स्थान पर सम्पूर्ण आस्था के साथ बैठा है और इन समस्त परि-स्थितियों के होते हुए उन शक्तियों को परिचालित करने की क्षमता रखता है जो मानवीय और स्वस्थ हैं।

अस्तु, जब हम मनुष्य को मनुष्य रूप में ग्रहण करने की चेष्टा करेंगे तो निश्चय हमारी दृष्टि में 'सुपरमैन' या 'अधिनायक' का रूप न आ कर उस व्यक्ति का रूप आयेगा जो अपनी लघुता को लिये हुए अपने लघु परिवेश में सतत गतिशीलता के साथ अपनी दृष्टि और वाणी में आज भी अपने प्रति आस्था जीवित रखे है। आज इस मानव और इसकी आस्था के अन्वेषण की आवश्यकता इसलिए है कि इतिहास के 'सुपरमैन' या 'जन सत्ता के अधिनायक' अथवा 'देवदूत' या मसीहा ने अपनी समस्त महानता को लघु मानव की बलि देकर ही अपनाया है। कोई महानता जो इस बलि से विकसित होगी वह कहीं-न-कहीं असमानवीय एवम् कुण्ठाग्रस्त भी अवश्य होगी क्योंकि उस महानता के साथ यह निहित है कि जीवन में कुछ ऐसा है जिसकी उपेक्षा करके, जीवन के अतिरिक्त मूल्यों पर बल दिया जा रहा है। यह प्रवृत्ति ही अपने में मानव मात्र के प्रति अविश्वास से प्रारंभ होती है। यदि मसीहा का ज्ञान और उसकी अनुभूति ईश्वर-प्रदत्त है तो अधिनायक का ज्ञान केवल इतिहास-प्रदत्त है और सुपरमैन का ज्ञान केवल प्रकृति के अपवादों (exceptions) पर आधारित है। ईश्वर, इतिहास और अभाव को जब तक सम्पूर्ण मानव समग्रता से सम्बन्धित नहीं किया जायगा तब तक उसकी कमियाँ स्पष्ट नहीं होंगी। मानव समग्रता चोटी की स्थापनाओं से नहीं वरन् बुनियादी स्थापनाओं द्वारा विकसित होती है। और इन बुनियादी स्थापनाओं में लघुमानव का महत्त्व है। ईश्वर-आरूढ़ तर्क में यह लघु मानव 'पापों का पुंज' के रूप में चित्रित किया जाता है, इतिहास की भक्तिवादी और साम्यवादी परिणति में वह केवल वर्ग-चेतना का प्रतीक बन कर रह जाता है। सुपरमैन में इसका रूप कृत्रिम, रुग्ण और जघन्यता का प्रतिनिधि माना जाता है; किन्तु इस से पृथक जो इस लघु मानव की विशेषता है उस पर कोई भी ध्यान नहीं देता। वह

पापों का पुंज इसलिए माना जाता है कि ईश्वर के भक्तों को इस मानव की पीठ पर वह समस्त नैतिकता लादनी रहती है जिस से वे स्वयम् तो मुक्त हो जाते हैं किन्तु जिस की परम्परा स्थापित कर के स्थानापन्न ईश्वर पैदा करना उनका मन्तव्य होता है। यह लघु मानव वर्ग-मानव के रूप में मात्र इसलिए स्वीकार किया जाता है कि वह यंत्र रूप में अधिनायक के समस्त शासन को बिना किसी उफ़ के वहन करता जाय और अन्त में वह कृत्रिम और विकृत इसलिए सिद्ध किया जाता है कि सुपरमैन ने अपने अभिषेक में उस के रक्त की आहुति चढ़ाने की प्रतिज्ञा ली है। इन आहुतियों और संकीर्णताओं ने जो परम्परा विकसित की है उसने सब से अधिक क्षति उस मानव विशिष्टता को पहुँचाई है जो इन समस्त विरोधों के बावजूद भी विकसित होती रही है।

किन्तु मानव विशिष्टता की विशेषता यह है कि उसने सदैव मानव मूल्यों को इन संक्रामक तथ्यों से ऊपर उठकर देखने की चेष्टा की है क्योंकि समस्त मानव प्रकृति और उसकी बौद्धिकता में यह निहित है कि वह सदैव अपनी धारणा-शक्ति के प्रति ईमानदार रही है। उसकी प्रवृत्ति रही है कि उसने भाव-प्रतिक्रिया के रूप में अपने भाव अंकित न करके उनको एक बौद्धिक और विवेकगत स्तर प्रदान करने की चेष्टा की है। जहाँ यह सत्य है, वहाँ यह भी सत्य है कि मानव प्रकृति मात्र विचारों और भावनाओं को धारण कर के तुष्टि नहीं पाती। उसके साथ-साथ उसकी समस्त चेतना-शक्ति उन धारणाओं के साथ क्रियाशील होने में अभिव्यक्ति पाती है। जहाँ तक उसकी वर्तमान स्थितियों के प्रति जागरूकता का प्रश्न है वह सदैव एक निश्चित दायित्व वर्तमान के प्रति निभाता है और इस निभाने में वह अपने समसामयिक होने की दृष्टि स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है। आज के युग की विडम्बना यह है कि मनुष्य स्वाभाविक अंतःशक्ति को बाह्य मतवाद से बाँधकर निजी व्यक्तित्व की उपलब्धियों को त्याज्य समझने लगा है। सारा सामाजिक क्रम आज इस बात से बंधा है कि मानव विशिष्टता को बिना स्वीकार किये ही कुछ ऐसी शक्तियाँ विकसित हो गई हैं जो मानव भविष्य को समूचे यथार्थ से पृथक् कर के देखने की चेष्टा करती हैं। इस प्रकार देखने में वे मूल्यों को निरपेक्ष रूप में स्वीकार करके उनके गतिशील तत्त्वों को खण्डित भी कर देती हैं। जब हम समसामयिक होने की बात करते हैं तो हमारा आशय होता है कि जो भी भविष्य की उपलब्धि हो अथवा जो भी भविष्य की दृष्टि हमें प्राप्त हो उसके माध्यम से हम यह स्वीकार करें कि वह उपलब्धि हमारे समसामयिक जीवन प्रसंग एवम् परिवेश से सम्बद्ध हो। यथार्थ की स्वीकृति के साथ-साथ प्रत्येक कलाकार अपने लघु परिवेश के आधार पर जितना ग्रहण करता है उसका विशेष महत्त्व होता है।

प्रश्न उठता है : लघु मानव और उसके लघु परिवेश की क्या समस्यायें हैं, जिन से होकर आगे की ओर अधिक क्रियाशीलता के साथ विकासोन्मुख हुआ जा सकता है ? इन समस्याओं द्वारा वे कौन से तत्त्व हैं जो मानव विशिष्टता के लिए अनिवार्य हैं अथवा यह कि जिनको स्थापित करके यह सिद्ध किया जा सकता है कि समस्त मानव चेतना उन पूर्वाग्रहों से पृथक् गतिशील होने में समर्थ है जो लघु मानव के लघु परिवेश की विशृंखलता को अस्तित्वहीन समझ कर केवल एक स्थिति-विशेष को अन्तिम सत्य मान कर समस्त मानव पर लाद देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। स्पष्ट है कि जब तक इन प्रश्नों को सही रूप में समझा नहीं जायगा तब तक मानव विशिष्टता के संदर्भ में प्रयुक्त स्थापनाओं का तर्क-संगत अर्थ भी व्यक्त नहीं होगा। अस्तु, इस संबंध में जिन स्थापनाओं से आज का विवेक प्रशासित होता है उनमें :—

● पहली बात तो यह है कि लघुता या लघु मानव का लघु परिवेश उस आक्रान्त महामानव या सुपरमैन को स्वीकार करता है जो समूची मानवता के अन्तिम सत्य जैसी वस्तु को स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है और फिर कृत्रिम मानव की व्याख्या देकर उसकी समस्त विशिष्टताओं को कुण्ठित करने का प्रयास करता है। वस्तुतः लघु मानव के लघु परिवेश की बात इन कुण्ठाओं से पृथक् है और मानवानुभूति और मानव सार्थकता के महत्त्व से संबद्ध है चाहे वह जिस सीमा पर, जिस स्तर पर, जिस परिवेश में ही क्यों न हो। यह लघु मानव आडम्बर-युक्त विश्वबंधुत्व से कहीं अधिक समसामयिक दायित्व को महत्त्वपूर्ण समझता है। इसे समझनें में जो बात स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है वह यह है कि सम्पूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति न तो यथार्थ से पृथक् होती है और न ही उसमें किसी पूर्वाग्रह से काम लिया जा सकता है। इस स्तर पर प्रत्येक विवेकपूर्ण अनुभूति का महत्त्व है।

● दूसरी बात यह है कि लघुता का परिवेश और उसका संदर्भ उस जागृत क्षण में पूर्ण है जो उसे संवेदना देता है और उस संवेदना के साथ-साथ उसे उस संदर्भ के प्रति गतिशील बनाता है जो उसकी अनुभूति को प्रभावित करके जीवन का सक्रिय अस्तित्व प्रस्तुत करता है। लघु परिवेश का आधार ही समसामयिक है* किन्तु सम्पूर्ण समसामयिकता के होते हुए वह मात्र अपनी जिज्ञासा के नाते

*समसामयिक विचारक एवम् कलाकार अधंकार से घिरा हुआ होता है लेकिन साहस से परिपूर्ण, अनिश्चयशीलता में विवश होता है किन्तु प्रयास में अपराजित, उत्तरहीन प्रश्नों से ग्रस्त होता है किन्तु झूठे उत्तरों का प्रतिरोधी, साम्प्रतिक सत्य से सीमित होता है किन्तु आडम्बर का विरोधी, त्रास और दुःख का अस्तित्व स्वीकार करता है किन्तु स्वतंत्रता का सैनिक होता है, उसका विवेक

केवल तत्कालीन नहीं होता अर्थात् उससे पृथक् होता है । तत्कालीन और समसामयिक में अन्तर यह है कि समसामयिक के संदर्भ में अनुभूतियों का आयाम गहराई और विवेक-दृष्टि से सम्पृक्त होता है और तत्कालीन में सतही अनुभूति केवल प्रतिक्रिया व्यक्त करके नष्ट हो जाती है । जब हम लघु परिवेश का प्रयोग करते हैं तो हमें तत्कालीन से उसे पृथक् करना इसलिए आवश्यक हो जाता है कि उन दोनों के आयामों के अन्तर से बहुधा भ्रम उत्पन्न होने की संभावना हो सकती है । समसामयिकता विवेकगत परिणति है । तत्कालीनता में विवेक का अभाव है और वह केवल प्रतिक्रिया है । भाव-प्रतिक्रिया में हो सकता है कि विस्तार हो, किन्तु गहराई नहीं ही हो सकती । अर्थात्, समसामयिकता को प्रथम प्रभाव (first impression) की प्रतिक्रिया से पृथक् करना आवश्यक है । साथ ही समसामयिकता के बोध में केवल प्रतिक्रिया का उतना महत्त्व नहीं है । लघु मानव का लघु परिवेश अनुभूति की गहराई और विवेक की मर्यादा से प्रशासित होता है । इसीलिए वह मात्र प्रतिक्रिया बन कर भी नहीं रहता, क्योंकि वह क्षण की अनुभूति के साथ दायित्व का भी समर्थक होता है; और यह दायित्व, क्षण का दायित्व, ही उस में विवेक, ईमानदारी और स्वतंत्रता को अंकुरित करता है ।

● तीसरी बात यह है कि भविष्य के प्रति वह अपनी आस्था तो रखता ही है किन्तु लघु परिवेश की सार्थकता के साथ; क्योंकि यदि उसकी दृष्टि उस लघु परिवेश के प्रति सार्थक नहीं होगी तो उसे यथार्थ की गतिशील प्रतिभा ग्रहण नहीं होगी और वह अयथार्थ अथवा कल्पना (utopia) की ओर अधिक उन्मुख हो जायगा । इसीलिए लघु मानव की भविष्य की आस्था भी उसके परिवेश की आस्था में ही सार्थक होती है । इसके विपरीत यदि उसके परिवेश के, यथार्थ के अतिरिक्त भविष्य की स्थापना में किसी मतवाद अथवा ईश्वरवाद की स्थापना की जायगी तो निश्चय ही उस में वे तत्त्व होंगे जो समसामयिक यथार्थ और मानव विशिष्टता के विपरीत तत्त्वों से अंकुरित होकर किसी बाह्य स्थिति द्वारा परिचालित होने के नाते मानव स्वाभिमान की रक्षा नहीं कर सकेंगे ।

● चौथी बात यह है कि मानव विशिष्टता में जहाँ आग्रह, विवेक और समसामयिकता है वहीं उसकी अभिव्यक्ति में यह विश्वास भी निहित है कि उसका भाव-बोध किसी पूर्वनिश्चित नियतिवाद या चमत्कार से प्रभावित नहीं है । समस्त अनुभूतियों और उनके यथार्थ समर्थनों में यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य को कोई पूर्वनिश्चित नियतिवाद या चमत्कार आज के संदर्भ में प्रभावित नहीं

उसकी आस्था है, उसका संशय उसकी ईमानदारी है, उसका साहस उसके व्यक्तित्व की पूर्णता है । उसकी लघुता उसकी सार्थकता है—वि०देव०ना० साही.

कर सकता। आज का मनुष्य आज के संदर्भ में जीवन की उपलब्धि को किसी भी अन्य संदर्भ से महत्त्वपूर्ण मानता है। उसका विवेक इस से अधिक या इसके विपरीत उस चमत्कारपूर्ण तत्त्व को नहीं स्थापित करता जिस में केवल आत्म-समर्पण का मन्तव्य हो, क्योंकि मानव विकास आज उस स्थिति पर पहुँच चुका है जहाँ वह ईश्वर सापेक्ष, या देवदूत सापेक्ष, या अधिनायक सापेक्ष, या नितान्त निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार नहीं कर पाता और न उन खोखले शब्दों पर विश्वास कर पाता है जो बल-बुद्धि और विवेक को गिरवी रख कर चलने की शक्ति प्रदर्शित करते हैं।

पाँचवीं बात यह है कि मानवीय संवेदनाओं का एक विशेष महत्त्व होता है जो यथार्थ से उपजता है, और यह यथार्थ ही उस संवेदना को सार्थक बनाता है। मानवीय संवेदनाओं का अस्तित्व अपनी तीखी अभिव्यंजना के साथ जीवन के उन पक्षों को संगृहीत करता है जो अपनी सार्थकता में मनुष्य को और उसके परिवेश को शक्ति और सजीवता प्रदान करने के साथ उसे स्वतंत्र बनने की क्षमता देते हैं। स्वतंत्रता की कोई और परिभाषा बिना इस मानवीय स्तर के —अर्थात् लघु मानव और उसके लघु परिवेश के—पूरी नहीं होती। वर्तमान युग की सब से बड़ी दुर्घटना यह है कि बहुधा सम्पूर्ण मानव संदर्भ से इस 'लघुता' के महत्त्व को हटा दिया जाता है और तब बिना इस को स्वीकार किये सारे तर्क-वितर्क का परिणाम यह होता है कि समस्त मानवीय अनुभूति को एक ऐसी दिशा में ले जाया जाता है जिस में या तो प्रभु का चमत्कार हो या फिर महामानव या विशिष्ट मानव या सुपरमैन की ऐसी प्रशस्ति हो जिसके समक्ष मान-वीय संवेदनाएँ बौनी लगें, यथार्थ के प्रति जागरूक मानव शक्ति स्वार्थरत लगे और मनुष्य स्वयम् अपने छोटेपन पर अपने समस्त विवेक और स्वाभिमान का समर्पण कर के और उस देवमूर्त्ति के समक्ष श्रद्धानत होकर वापस चला आये।

छठी बात यह है कि मनुष्य आज के जीवन में चाहे जितना भयत्रस्त क्यों न हो किन्तु उसे भय से मुक्ति पाने के लिए किसी ऐसे माध्यम की आवश्यकता नहीं मालूम होती जो उसे शंकाकुल अथवा भयग्रस्त मनःस्थिति में एक आवरण के सहारे गति दे सके। आज वह शंकाकुल होने से विचलित नहीं होता क्योंकि वह यह मानता है कि प्रत्येक शंका केवल विवेक और आचरण द्वारा ही मर्यादित होती है। इसीलिए वह जीवन क्रियाशील के उस रूप को चाहता है जिसमें समग्रता हो संकीर्णता न हो। संकीर्णताओं में निश्चय ही शंकाओं का निराकरण अन्धविश्वास के माध्यम से हो जाता है किन्तु शंकाओं में उपजा अन्धविश्वास मनुष्य को कुत्सित एवम् विकृत बना देता है। समग्रता में विश्वास होने के नाते वह लघु मानव के लघु परिवेश की बात उठाता है, उसमें अपनी और दूसरों की रक्षा

समझता है। वस्तुतः समग्रता के प्रति उचित दृष्टि का अन्वेषण चाहे शंकाकुल हो वह प्रतिक्षण मनुष्य में आत्मविश्वास प्रदान करता है क्योंकि उसकी गतिशीलता सदैव लघु मानव के रूप और उसके विचारों को परिशोधित करके नये मोड़ों के प्रति आस्था प्रदान करती रहती है।

● सातवीं बात यह है कि आज के संदर्भ में मनुष्य मात्र को इस निष्कर्ष पर पहुँचना होगा कि जीवन की समग्रता का व्यावहारिक रूप एक दूसरे को सहन (tolerate) करने में है न कि उस अव्यावहारिक एकाधिपत्य में, जिसमें विरोधों का नाश करके केवल एक सत्तारूढ़ व्यक्ति के प्रति समस्त चेतना अर्पित हो जाये। मानव विभिन्नता से ही जीवन की समग्रता का बोध होता है और जीवन का बाहुल्य भी व्यक्त होता है। यह बाहुल्य (richness) इस बात का परिचायक है कि मानव प्रतिभा और उसकी शक्ति केवल विवेक को उस जागरूकता द्वारा ही संतुष्ट हो सकती है जिसमें इस भिन्नता की स्वीकृति हो। अब तक का मानव इतिहास किन्हीं कारणों से इस तत्त्व के प्रति सतत निष्ठा व्यक्त करने में असमर्थ रहा है। चाहे वे नेपोलियन के युद्ध हों चाहे वह सिकन्दर की विजय की पताका हो, चाहे वे यूरोप के क्रूसेड हों चाहे वे नागास्की हिरोशिमा पर गिराये गये बम हों, चाहे वह स्वेज नहर का युद्ध हो और चाहे हंगेरी में सोवियत सेनाओं का प्रवेश हो—इन सब के बीच केवल एक ही चीज़ स्पष्ट होकर उभरती है और वह है मानव स्वाभिमान की हत्या, उसकी उपेक्षा, अपमानित और पद-दलित करने की अटूट श्रद्धा जो रक्ताभ आवरणों में लिपटी हुई केवल एक बात सिद्ध करती है कि वह सत्तारूढ़ जीवन की दृष्टि को ही सत्य मान कर, उसके समक्ष नतमस्तक होकर, जीवन बिताने के लिए बाध्य हो; अपनी लघुता और विशिष्टता को तिलांजलि देकर या तो दूसरे का मरसिया पढ़े या फिर उनका प्रशस्ति-गायन करे।

मानव इतिहास आज जिस मोड़ पर पहुँच चुका है उसमें इन संभावनाओं का अतिरेक अब अधिक नहीं चल सकता। मनुष्य ने यदि एक छोर पर ईश्वर-प्रदत्त इच्छाओं के लिए क्रूसेड्स लड़े हैं तो दूसरी ओर उसने हिटलर, मसोलिनी, और स्टालिन की छत्रच्छाया में भी रक्तपात करके देख लिया है। मानव नियति में न तो क्रूसेड्स परिवर्त्तन ला सके हैं और न ये युद्ध। नियति का रूप स्वयम् मनुष्य के आत्मविश्वास द्वारा निर्मित होगा, उसकी इतिहास में संघर्षशील मनःस्थिति द्वारा होगा, उसके आत्ममंथन से निकले हुए विवेक द्वारा होगा, उस यथार्थ द्वारा होगा जो लघु मानव के लघु परिवेश से उपजता है क्योंकि यथार्थ की गतिशील शक्ति ही एक ओर मानव प्रतिष्ठा को जागरूक बनाने में सक्षम होती है तो दूसरी ओर उसे वह विशिष्टता भी प्रदान करती है जो समस्त मानव विषमताओं के स्थान

पर मानव सम्मान की मर्यादा को प्रतिष्ठित कर सके। अस्तु, इसके अतिरिक्त क्या अधिकार हो सकता है किसी भी मनुष्य को—चाहे वह देवदूत हो अथवा अधिनायक हो—कि वह किसी भी मनुष्य के जीवन को एक अलौकिक चमत्कार अथवा एक मतवाद के अनन्तर अपमानित करे। यदि कोई भी नैतिक शक्ति स्वयम् मानव समता और व्यक्तित्व के महत्त्वपूर्ण संदर्भ से नहीं उपजती तो उसका मूल्य भी कितना और किस सीमा तक महत्त्वपूर्ण हो सकता है।

अस्तु नैतिकता का उचित प्रयोग इसी में हो सकता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व को, उसकी इकाई को, पूर्ण सम्मान दिया जाय। उसका रूप स्वयम् के आचरण में व्यक्त हो सकता है, दूसरे के प्रति आक्रमणकारी होने में नहीं हो सकता। नैतिकता का उचित (positive) कार्य सामाजिक व्यवस्था को जागरूक बनाने में हो सकता है, किन्तु अर्जित शक्ति द्वारा अयाचित आग्रह में उसका औचित्य नहीं हो सकता। जहाँ तक आज के मनुष्य का सम्बन्ध है वह उन विद्रूप मानव अभियानों का काफ़ी साक्षी रहा है जिनमें मानव नियति और उसकी युक्ति की झाँकियाँ केवल शब्दाडम्बर के रूप में ही व्यक्त हुई हैं। मानव नियति का संरक्षक या उसका निर्माता कोई देवदूत अथवा कोई अद्वैत शक्ति-प्रतिभा-सम्पन्न प्रभु नहीं है, वरन् समस्त मानवता है; उसकी प्रत्येक इकाई की सम्पूर्णता, समग्रता और स्वतंत्रता है।

वस्तुतः आज का यथार्थ यह है कि आज का मनुष्य चाहे कितना "लघु हो" बौना हो, किन्तु वह यह समझता है कि उसकी नियति इस में नहीं है कि वह बड़ा बनने के अभिनय में केवल वह प्रतिभा बन जाय जिसमें अपना कुछ हो ही नहीं। इसीलिए यथार्थ की यह सब से बड़ी अभिव्यक्ति होगी यदि मानव स्वतंत्रता और उसके व्यक्तित्व की इकाईयों की परिपूर्णता रक्षित रहे। पिछली कई शताब्दियों से जो मानव-चिन्तन की स्वतंत्रता पर दूसरों का बोझ लदा है उस से उसको मुक्ति मिले। वह स्वप्न में सोया हुआ मानव न बन कर अपने परिवेश में जागरूक और सशक्त चेतना-पिण्ड बन सके। इसीलिए आज का मानव मन यह समझता है कि उसकी नियति इस में नहीं है कि वह बड़ा बनने के अभिनय में केवल वह प्रतिभा बन जाय जिसमें उसका स्वत्व, उसकी अपनी सक्रिय प्रबुद्ध चेतना के स्थान पर केवल श्रद्धानत रोमांच ही रह जाय। जहाँ तक आज के मनुष्य का सम्बन्ध है वह इन विद्रूप मानव अभियानों को देखते-देखते पक चुका है। शायद इन्हीं संघर्षों से ओत-प्रोत आज के कवि के मन में

> एक मानव भीम ने
> था पी लिया—
> दानव दुशासन का किसी दिन खून
> और तब से दौड़ता

मानव विजेता की रगों में
खून दानव का
और अब वह त्राण देता सभ्यता को
विश्व को पावों तले अपने कुचल कर। ——उपेन्द्रनारायण सिन्हा

आज की मानव चेतना इसीलिए उस व्यवस्था के प्रति आस्थावान् नहीं है जो समस्त मानवता से उसका विवेक लेकर बदले में युद्ध, संक्रमण, अपमान और तिरस्कार देता है।

अस्तु उपर्युक्त स्थापनाओं में ही यह निहित है कि——

● मानव मुक्ति और उस से सम्बन्धित जितने भी प्रश्न आज के राजनैतिक या सांस्कृतिक स्तर पर उठाये जाते हैं उन की उपलब्धि किसी को भी ऐसी व्यवस्था अथवा तर्क द्वारा नहीं स्थापित की जा सकती जिसमें मानव मात्र को केवल एक समूह के रूप में प्रस्तुत करके उसकी सशक्त जीवन-मर्यादाओं की सीमा-रेखा, नैतिकता और अनैतिकता के मान-दण्ड, जीवन और समाज के दर्शन, अनुभूति और व्यंजना के स्तर संक्षेप में पारित कर दिये जायं। केवल वही मार्ग-दर्शन या चिन्तन सम्पूर्ण मानवता को प्रत्येक स्तर पर मुक्ति दे सकता है जो व्यक्ति परिधि और उसके परिवेश को सत्य माने। इसके साथ ही यह भी कह देना आवश्यक है कि मुक्ति की कोई भी भावना उतनी ही समाज सापेक्ष है जितनी कि व्यक्ति सापेक्ष; इसीलिए मानव मुक्ति का वास्तविक रूप इसी आधार पर विकसित हो सकता है।

● मानव नियति और उसकी परिणति इस उपलब्धि में है कि स्वतंत्रता के सापेक्ष गुण के साथ मनुष्य मात्र में आत्मविश्वास विकसित हो सके। यह आत्म-विश्वास किसी भी ऐसे चमत्कार से खण्डित नहीं किया जा सकता जो केवल नियति का नारा प्रस्तुत करके मानव अस्तित्व को यह सिद्ध करे कि वह दुर्बल या कमज़ोर या विद्रूप है। मानव नियति का नियन्ता और उसका लक्ष्य स्वयम् मनुष्य है। वही उसका केन्द्र है और उस केन्द्र की गतिविधि और उसकी नियंत्रित शक्ति भी उसी के हाथ में है,उसी की आत्मशक्ति और निश्चय-शक्ति में है। जब तक मानव नियति का और व्यापक यथार्थ का यह रूप निर्धारित नहीं होगा तब तक जीवन की पूर्णता को वह संवेदना नहीं मिलेगी जो उसे दैविक या ईश्वरीय से पृथक् करके मानवीय चेतना और मानवीय आस्था प्रदान करे। यही नहीं, बिना इसके अर्थात् मानवीय सीमाओं के, यथार्थ का कोई अर्थ ही स्पष्ट नहीं होगा।

● मानव-स्वाभिमान (human dignity) का प्रश्न भी इसी से सम्बन्धित है। मानव-मुक्ति के ही संदर्भ में यह निहित है कि मनुष्य के स्वाभिमान का उचित दृष्टिकोण बिना विकसित किये वर्तमान विषाक्त वातावरण

का कोई भी निराकरण संभव नहीं है। उचित का आशय है विभिन्नता की स्वीकृति, और विभिन्नता की मर्यादा आचरण से सम्बन्धित है। अर्थात् मानव मात्र के विचार को सहने और उसपर आचरण करने का अधिकार मिलना ही चाहिये। कला के क्षेत्र में तो गलत बातों का भी महत्त्व होता है और यदि उनमें जीवन के यथार्थ के प्रति ईमानदारी और अपने दायित्व के निर्वाह की गति सम्यक् रूप में वर्तमान रहने की क्षमता रखती है तो वह निरर्थक नहीं होती। जब हम अन्तिम सत्य के रूप में किसी वस्तु को नहीं मानते तो फिर प्रत्येक उपलब्धि के आगे की संभावना को स्वीकार करके हमें ग़लत बातों को भी उचित स्थान देना पड़ेगा। यह बात अटपटी सी लग सकती है किन्तु इसका एक विशेष अर्थ है।

मानव विशिष्टता (human uniqueness) के ही संदर्भ में प्रस्तुत दृष्टिकोण का परिप्रेक्ष्य उभर सकता है। परम्परा से लदी हुई भावना— जिसका एक मात्र लक्ष्य मानव व्यक्तित्व को कृत्रिम और तुच्छ सिद्ध करके किसी अदृश्य शक्ति के प्रति श्रद्धा उपजाना है—आज के जीवन के अस्तित्व को स्वीकार नहीं है। छोटे-से-छोटे मानव का व्यक्तित्व कृत्रिम नहीं, उदात्त का प्रतीक हो सकता है। विज्ञान से, तर्क से, दर्शन से, और विवेक से उसकी लघुता भी विशिष्ट है और उसका भी एक अर्थ है। जब तक इस स्थापना से आधुनिक विचार को नैतिक शक्ति नहीं मिलेगी तब तक उस दृष्टि में समता नहीं आ सकेगी जो मानवीय स्थापना के लिए आवश्यक है। किन्तु इस स्थापना में यह स्पष्ट होना चाहिये कि प्रत्येक विचार अपने में महत्त्वपूर्ण होकर कोई अर्थ नहीं रखता। महत्त्व पूर्ण होता है समूचे संदर्भ में, यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में। 'सब के सपनों में सत्य पला' की उक्ति में और इस विशिष्टता में वही अन्तर है जो विवेक और भावना में है।

मानव नैतिकता (human morals) का यह आग्रह है कि प्रत्येक दृष्टि के परे एक विरोधी (antithesis) की भी दृष्टि है। किन्तु इन समस्त दृष्टियों के बीच उस मानवीय संवेदना का भी अर्थ है जो समता के स्तर पर विवेक को वह स्थिति प्रदान करती है; जिसमें प्रत्येक लघु मानव के लघु परिवेश की रक्षा हो सके। कोई भी नैतिकता बिना अपने विरोध की स्वीकृति के अपनी आस्था प्रस्तुत नहीं कर सकती। इसलिए प्रत्येक नैतिकता को विरोध की स्वीकृति के साथ मर्यादा स्थापित करनी होगी। बिना इसके कोई भी नैतिक मानदण्ड अपने में पूर्ण नहीं हो पायेगा, कोई भी आचरण अपनी सार्थकता नहीं पा सकेगा और कोई भी विवेक अपना लक्ष्य नहीं अपना सकेगा।

अधिनायकवादी सत्ताओं में विचारों का यह उदार पक्ष नहीं स्वीकार किया जाता वरन् इसके विपरीत सारे राष्ट्र और सारे देश के विचार को एक साँचे में ढाल कर प्रस्तुत करने की चेष्टा की जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि

मानव विशिष्टता का वास्तविक अर्थ और उसका वास्तविक मूल्य उनकी समझ में नहीं आता। वे केवल सत्तारूढ़ शक्ति के मन्तव्य से परिचालित होकर मानव की समस्त चेतना-शक्ति को कृत्रिम बना देना चाहते हैं। प्रगतिवाद, या अधिनायकवाद, या देवदूत की समर्थक बुद्धि यहीं उस दायित्व से वंचित रह जाती है जो विवेक प्रदान करता है। यही कारण है कि मानव मुक्ति और उस से सम्बन्धित अन्य प्रश्नों पर प्रकाश डालने में यह मतवाद सर्वथा असमर्थ है।

इन परिस्थितियों में उस 'महामानव' अथवा 'देवदूत' का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता जो केवल इसलिए मानव समाज में अवतरित होता है कि लघु मानव को ऊपर उठाकर उसको मुक्ति का मार्ग प्रदान करे क्योंकि 'महामानव' या इस प्रकार की और कोई भावना स्वयम् ही इस पूर्वाग्रह से प्रस्तुत होती है कि छोटे मानव की कोई विशेषता नहीं है, लघु मानव का कोई महत्त्व ही नहीं है। किन्तु यह आज का युग-सत्य है कि महामानव के इस निर्माण में मानव समाज ने आज तक जितनी आहुतियाँ दी हैं उनका कोई महत्त्वपूर्ण परिणाम नहीं निकला है। जीवन के चारों ओर जो घुटन और जो पीड़ा, अपनी समस्त संवेदना के साथ, बार-बार दबे हुए सत्य को उभारती रही है, उसका एक नियमित मूल्य रहा है और उस मूल्य की गहराई और बुनियादी अस्तित्व का बहुत बड़ा महत्त्व भी है :

हम छोटे नये लोग
खोजों के पीछे पागल हैं
अनस्पर्श छूने को व्याकुल हैं
अनगढ़ गढ़ने में रत हैं हम।
आ—जमा रहे हैं वे रंग
जो न उड़ पायें धूप में
हम छोटे नये लोग : नींव और सीढ़ियाँ ! ! **—पुरुषोत्तम खरे**

उपर्युक्त कथन केवल एक युक्ति नहीं है। इसमें जीवन का एक बहुत बड़ा सत्य निहित है जिसका आशय है कि आज का युग, वर्तमान मानव-भावनाओं एवम् बौद्धिक आस्थाओं को बिना यह मानवीय संवेदना और स्वाभिमान दिये, जीवन की सार्थकता का निर्वाह नहीं कर सकता। विकास की संभावना को जीवन-शक्ति नहीं प्रदान कर सकता अथवा समूचे मानव व्यक्तित्व के स्वाभिमान और मर्यादा को गतिशक्ति नहीं मिल सकती। नींव और सीढ़ियों के इस अस्तित्व का इसीलिए बहुत बड़ा अर्थ और महत्त्व भी है।

इसके विपरीत महामानवों की शृंखला की सब से बड़ी विद्रूपता यह रही है कि उन्होंने अपने-अपने झण्डे और पताके उठवाकर अपना जुलूस तो निकलवाया है किन्तु उन्होंने इस दिशा में ध्यान नहीं दिया कि उनके पीछे आने वालों के जन-समुदाय

में कितने ऐसे हैं जो इस महा-रथयात्रा में केवल घुट कर मर रहे हैं और वस्तुतः यह रथ-यात्रा उनको कुचल कर बढ़ने का प्रयास कर रही है जो अपनी लघुता के परिवेश में इन से कहीं अधिक पूर्ण थे क्योंकि वे जीवन का प्रत्येक क्षण जीवित रह कर बिताना चाहते थे और उस बिताने में वे आतंक से अधिक अपनी आन्तरिक आस्था और जीवन के यथार्थ से परिचालित थे। वे रथ जिन में महाप्रभु की प्रतिमा रख कर यात्रायें की जाती थीं आज उनकी धुरियाँ टूट चुकी हैं, साथ ही उनके चमत्कार भी नष्ट हो चुके हैं। रथ-यात्रा में जुते हुए मानव समूह की चेतना आज मात्र यंत्रवत् अस्तित्वहीन, अयथार्थ शक्तियों से परिचालित नहीं की जा सकती। आज वह विशाल जन-समूह, जो केवल दूर से जीवन के बहाव को देखता है, अथवा जो मात्र इस संशय को लेकर किसी भी स्टैम्पीड में गिर कर पिस रहा है, उसकी दृष्टि में इस महामानव के खोखले और निर्जीव जीवन की असमर्थतायें भी स्पष्ट दिखलाई पड़ रही हैं। यह प्रतिमायें टूट रही हैं और इनके टूटने से जो उपलब्धियाँ प्राप्त हो रही हैं उनका मूल्य और उनका अस्तित्व मानव चेतना में अधिकाधिक आत्मविश्वास और आत्मबल भर रहा है। लघु मानव का यह परिवेश आज इसीलिए नये संदर्भों में नयी अनुभूतियों के साथ प्रस्तुत हो रहा है। इनकी भाषा अटपटी हो सकती है, इनके भावों में नये की खोज की प्रबल छटपटाहट हो सकती है, इनकी दृष्टि में कुहासा और अस्पष्टता की भी कहीं झलक मिल सकती है, किन्तु इन की सम्पूर्ण उपलब्धि और इनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अनुभूति को सहज में यह कह कर टाला नहीं जा सकता कि उसमें यथार्थ नहीं है या कोई जीवन-दृष्टि नहीं है।

वस्तुतः प्रतिमाएँ जब टूटती हैं तो परम्परा और रूढ़ियाँ ध्वस्त होती हैं। ऐसी स्थिति में कभी-कभी यह अनुभव होता है कि इस विशाल घिरे हुए संदर्भ से पृथक् मानव जीवन जब उसकी चेतना यथार्थ को ग्रहण कर लेती है और उसके अस्तित्व और सौन्दर्य को जान लेती है तो फिर उसके भीतर का उपजा आश्चर्य, विवेक के माध्यम से नया पथ और नयी दिशा को भी जान लेता है। इन प्रतिमाओं का और इन महामानवों की श्रृंखला का टूटना मानव इतिहास का एक नया कदम है।

. . . .

देखा तब सब ने आश्चर्य से :
प्रतिमा की ओट में जो रमी रहीं एक युग
उनकी वे दृष्टियाँ असमर्थ थीं
कि सह सकें सहज प्रकाश आसमान का !
और फिर सबने यह देखा असमंजस से
मूर्त्ति तो हटी परन्तु सामने डटा था प्रश्न चिह्न

मूंद लें वे आँखें या कि प्रतिमा गढ़ें नयी
हर अंधी श्रद्धा की परिणति है यह खण्डन
हर खण्डित मूर्त्ति का प्रसाद है यह प्रश्न चिह्न !

—भारतभूषण अग्रवाल

किन्तु आज इन प्रश्न-चिह्नों ने ही मानव चेतना को अधिक जागरूक बनाने में योग दिया है। आज इन चिह्नों ने ही उसमें वह आत्मविश्वास प्रदान किया है जिसके माध्यम से वह महामानव को केन्द्र में रख कर किसी भी नये मूल्य के अन्वेषण की अपेक्षा केवल मनुष्य को केन्द्रस्थ करके उसे आगे बढ़ाने में समर्थ हुआ है। इन प्रश्न-चिह्नों का एक दायित्व और एक महत्व यह भी रहा है कि मनुष्य ने सत्य के विभिन्न आयामों को जानने के प्रति, उनके अन्वेषण के प्रति समूचे मानवीय बोध को विकसित किया है। जब तक हमारे सामने प्रतिमायें होती हैं, महामानव, या सुपरमैन, या देवदूत या अधिनायक की कल्पनायें होती हैं, तब तक हमारी समस्त प्रज्ञा मात्र शून्य ही रहती है।

एक दूसरे स्थल पर इसी भाव से सम्बन्धित प्रयाग नारायण त्रिपाठी की एक कविता है जिस में इस स्थिति का सफल चित्रण किया गया है और उसके साथ-साथ उन संवेदनाओं का भी जो जीवन को तोड़ देती हैं, किन्तु जिनमें यह शक्ति भी होती है कि मानव में पुनःसंगठित होने की प्रेरणा देकर उसे नये यथार्थ के प्रति अधिक शक्ति के साथ प्रस्तुत होने का संकल्प भी प्रदान करें। यद्यपि यह सत्य है कि इस व्यवधान में बहुधा मानवात्मा अधिक बेचैन होती है, किन्तु यह भी सत्य है कि यह बेचैनी उसे नयी दृष्टि भी प्रदान करती है :

. . . .
टूट गया मैं
मुझे व्यथा ने तोड़ दिया
झन्नाटे से जा गिरा फ़र्श पर दर्पण सा
लेकिन उसने ही मेरे अन्दर
कुछ ऐसा भी जोड़ दिया
हीरक कण सा
जो था अभीष्ट
जो सुन्दर है
कठोर भी है इतना
दुःख दर्द सभी सह लेता है
जो चाहे तो सम्पूर्ण तोड़ दे मुझे किन्तु
ख़ुद में अटूट रह लेता है

वह मेरी अनाश्रित आस्था है
जिसको चाहा था मैंने समीपता में पाना
व्यवधान किन्तु दे गया मुझे। —प्रयागनारायण त्रिपाठी

यह दर्द भी छायावादियों और गीतकारों से भिन्न है। साथ ही उस एक नये भावबोध से उद्भूत वह मार्मिक वेदना है जो अभिव्यक्ति और अनुभूति में भिन्न है। यह भिन्नता और उसकी संवेदना एक नये धरातल को छूती है—ऐसा धरातल जिसमें अनुभूति की गहराई के साथ-साथ स्पष्टता और आत्मवेदना का सफल चित्रण है।

जब हम मनुष्य के मानवीय रूप की व्यवस्था करना चाहते हैं तो हमें इस भावबोध के मानवीय संदर्भ और वेदना की ईमानदारी, स्पष्टता और अनुभूति को महत्त्व देना पड़ेगा क्योंकि इसी से वह आत्मविश्वास और आत्मसम्मान के औचित्य का सार विकसित हो सकेगा। संवेदना और उपलब्धि के मानवीय स्तर के इस गुण से ही वह भाव उपजता है जिससे यथार्थ की दृष्टि के साथ-साथ अपने परिवेश के प्रति आस्था और विश्वास का भाव प्रतिष्ठित होता है। अपने परिवेश के यथार्थ की स्वीकृति ही उस महामानव, सुपरमैन, या देवदूत अथवा अधिनायक की सत्ता को खण्डित करने में सफलता प्रदान कर सकती है।

अस्तु, तो अब यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस महामानव के प्रति परम्परागत विश्वास विकसित हुआ था वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति के बावजूद भी मानव स्वाभिमान से वे तत्त्व पृथक् करने में असमर्थ रहा जो मानव प्रकृति द्वारा उसका अपना निजी गुण हैं। जिस परिवेश और यथार्थ के सम्बन्ध में नयी कविता का भावबोध आस्थावान् है, वह मानव प्रकृति और उसकी ईमानदारी के समक्ष किसी भी महामानव में आस्था नहीं रख सकता। साथ ही उसके स्वर में यह स्पष्ट ध्वनि है—

सुनो—
सूर्यास्त है—
झेल लो तुम क्षितिज बनकर,
सांझ को संज्ञा दो
संज्ञा दो सूर्य को
हलद डैना चाँदनी।
वचन-जल में दुःख बला का तैर जाने दो
समर्पण को व्यक्ति-वेदी दो; —नरेश मेहता

यथार्थ की स्वीकृति के साथ किसी भी महामानव की असीम शक्ति के प्रति आज के मानव की कोई आस्था नहीं विकसित हो सकती है, क्योंकि जहाँ एक ओर विज्ञान ने प्रतिभा को खण्डित करने में सहायता दी है वहीं मानव इतिहास के इस

लम्बे अनुभव ने भी यह सिद्ध कर दिया कि इन महामानवों की कल्पना सदैव एक ऐतिहासिक चमत्कार के आवरण में ही विकसित होती है। आज इतिहास का वह चमत्कार नहीं रहा वरन् आज उसका वैज्ञानिक रूप ही अधिक ग्राहक और व्यापक स्तर प्रदान कर क्षमता के साथ व्यक्त हुआ है। धर्म का आवेश भी आज समाप्तप्राय है। इसलिए आज का मानसिक विकास किसी भी रूप में महामानव या सुपरमैन या इसके अन्य किसी रूप को स्वीकार नहीं कर सकेगा।

यथार्थ की स्वीकृति के साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मानव नियति को प्रभावित करने वाली वस्तु धर्म या सम्प्रदाय या गुट नहीं है। इस प्रकार की विचार-धाराओं के पीछे बहुधा अन्धविश्वास और अज्ञानता का बहुत बड़ा हाथ रहता है। यह अन्धविश्वास यद्यपि आज भी काफ़ी मात्रा में मौजूद है किन्तु यह दिन पर दिन क्षीण ही होता जा रहा है, क्योंकि मानव विचारधारा वैज्ञानिकता की ओर क्रमशः उन्मुख होती रही है। अन्धविश्वास का क्रम जैसे-जैसे कम होगा, जैसे-जैसे जीवन और उसके परिवेश का पूर्ण ज्ञान हमें होता जायगा वैसे-वैसे यह दायित्व बढ़ेगा कि हम अधिक से अधिक वैज्ञानिकता पर ज़ोर दें और अधिक मानव होने की चेष्टा करें।

अब यह देखना आवश्यक है कि प्रस्तुत मत का नयी कविता में कहाँ तक समर्थन हुआ है। बहुत से आलोचकों का यह मत हो सकता है कि नयी कविता में व्यक्त स्वतंत्रता अथवा व्यक्तिवादिता कवियों की दुनिया से पृथक् वस्तु है। वह यह भी मानते हैं कि कवि और सब कुछ हो सकता है, वह कवि होने के साथ विचारक नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा करने में उस नैसर्गिक अन्तर का खण्डन होता है जो शाश्वत और प्रचलित है। वस्तुतः इस में वाजपेयी जी का दोष नहीं है।* वह बिचारे पर-म्परा से बंधे हुए छायावाद के बोध से इतने लदे हैं कि उनकी दृष्टि आधुनिकता के अभाव में तारसप्तक के विद्रोह को समझ नहीं सकी है। काव्य यदि मनोरंजन-वादी नहीं है तो वह विचारों से संयुक्त अवश्य होगा। सप्तक के कवि और नयी कविता का एक मात्र उद्देश्य मनोरंजन नहीं है। वह यथार्थ के साथ सम्पृक्त है। यथार्थ विचार का आग्रह करता है। केवल उदात्त चमत्कार ही ऐसी वस्तु है जो कवि से बिचार त्यागने की बात करती है। आज की कविता यदि विचार-प्रधान नहीं होगी तो वह अनाचार-प्रधान होकर रहेगी। विचार को वर्जना के रूप में ग्रहण

---

*श्री नन्ददुलारे वाजपेयी कवि और विचारक में अन्तर मानते हैं। उनका मत है कि कवि और विचारक में कोई नैसर्गिक अन्तर है जो आरंभ से ही चला आ रहा है। शायद वाजपेयी जी कवि के लिए विचारवान् होना दुर्गुण भी मानते हैं। आधुनिक साहित्य में प्रयोगवाद पर व्याख्या प्रस्तुत करते हुए पृष्ठ १७ में इस पर उन्होंने अपने कुछ मत प्रकट किये हैं। दे० आधुनिक साहित्य

करना बौद्धिकता के प्रति विद्रोह करना है वाजपेयी जी अपनी व्याख्या करने में यह भूल जाते हैं कि काव्य में विचार दोष नहीं लाते वरन् विचार के अभाव दोष लाते हैं। छायावाद के विचारहीन कवित्व के बाद सप्तक के कवियों ने जिस भाव-भूमि को प्रस्तुत किया था उसके लिए विचार होना अनिवार्य था ।

अस्तु, प्रथम सप्तक और दूसरे सप्तक के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि जो मानव जिज्ञासा और विचारों का विद्रोह प्रथम सप्तक में व्यक्त हुआ था वह दूसरे सप्तक में अधिक आत्मविश्वास के साथ मानव विशिष्टता पर बल देने में समर्थ हुआ है। इस आत्मविश्वास में निश्चय की मात्रा अधिक मिलती है। पहले सप्तक के विद्रोही कवियों का यह बहुत बड़ा साहस था क्योंकि यदि उनके स्वर को समाप्त करने के लिए एक ओर परम्परा थी तो दूसरी ओर उनकी नयी भाषा और नयी व्यजंना की अपरिचित दुरूहता थी। किन्तु उसके बाद उसके दूसरे सप्तक और नयी कविता तक पहुंचते-पहुंचते निश्चय ही नये भावबोध ने नयी भाव-व्यजंना को अधिक दृढ़ रूप में जान लिया है, विचार तो नयी कविता की प्राण-शक्ति है; उसके बिना न तो आज का मनुष्य जी सकता है और न उसकी कविता :

दे दो,
मुझे वह दुःख दे दो
जो तुम ने झेला है
वह सब शोषण, दैन्य दलन,
जिस से तुम आहत, विपन्न हो,
मैं सारी व्यथा-कथा कहूँगा
मैं वह सब फिर से सहूँगा।
अब मैं लिखूँगा। —सुरेश अवस्थी

कहने का सारांश यह कि नयी कविता का भावबोध ही ऐसा है जो विचार-प्रधान होगा। कविता में जब तुलसीदास, केशव, कबीर जैसे कवि सहन कर लिये जाते हैं तब नयी कविता में वह कौन सी बौद्धिक दुरूहता है या विचार का दुर्गुण है जो स्वीकार नहीं किया जा सकता। जो आलोचक या जो विवेचक कविता को विचार से वंचित रखना चाहते हैं, वे या तो विचार से घबराते हैं या कविता को केवल मनोरंजन की वस्तु मानते हैं ।

नयी कविता का स्वर इस दृष्टि से अधिक दृढ़ और सशक्त रूप में व्यक्त हुआ है। पहले औरदूसरे सप्तक में हमें जिस प्रवृत्ति का भास मिलता है,नयी कविता में हमें उस भास के अनेक रूप प्रौढ़ता और स्पष्टता के साथ मिलते हैं। आत्म-विश्वास और दायित्व को वहन करने की यह अटूट शक्ति आज नये कवि का स्वर है जो उसकी आत्मा में, वाणी में यह विश्वास भरताहै कि वह समस्त व्याप्त पीड़ा

और वेदना का साक्षात्कार करके अपनी विशिष्टता और आत्मविश्वास की दृढ़ता के साथ उसका संवहन करे। यह भी एक कारण है जो कुछ लोगों को परम्परागत काव्य से पृथक् होने के नाते स्वीकार नहीं हो पाता। वस्तुतः नयी कविता का स्वर आज जिस भावबोध को प्रस्तुत करता है उसमें विवेक और मानव सम्मान और समसामयिकता की इतनी दृढ़ आस्थायें हैं कि यह सब की सब शाश्वतसाहित्यवादी एवम् भावनावादी विचारकों को अरुचिकर लगती हैं। इस अरुचि में दोष नयी कविता का नहीं है। वास्तव में यह दोष है उस दृष्टि का जो नये भावबोध को सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देख पाता।

अस्तु उपर्युक्त कविता में व्यक्त अनुभूति उसी दृढ़ता और आत्मविश्वास का परिचय देती है। दायित्व को स्वीकार करने के साथ-साथ, समस्त अनुभूतियों को फिर से सहने और उनके नये आयामों को विकसित करने की जो प्रतिज्ञा इस रूप में कविता में व्यक्त हुई है उसमें मानवीय पक्षों का समर्थन अधिक है। साथ ही, 'मैं भारी व्यथा-कथा कहूँगा.........मैं कह सब फिर से सहूँगा' में यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि कल्पनाओं के साथ उस आत्मबल को उद्बुद्ध करने में जागरूक है जो अपनी व्यक्तिगत अनुभूति की गहराइयों के साथ-साथ व्यापक जीवन के शोषण और दैन्य के प्रति भी सह-अनुभूति रखने की शक्ति देती है। यदि इन भावनाओं के समर्थन में व्यक्त भावबोध भी किन्हीं कारणों से आज के आलोचक को वह उचित दृष्टि नहीं दे पाता तो निश्चय यह दोष नयी कविता का नहीं वरन् उन आलोचकों का है जो नयी कविता के तत्त्वों का विवेचन करने के पूर्व किन्हीं पूर्वाग्रहों अथवा रूढ़ियों के द्वारा प्रभावित एवम् परिचालित होते हैं। वस्तुतः आज की नयी कविता में—

- मानव विशिष्टता के प्रति दृष्टि अधिक विकसित और स्पष्ट हो कर उभरी है। यह दृष्टि इस बात की द्योतक नहीं है कि नयी कविता के भावबोध में कोई अनिश्चयवादी प्रवृत्ति है। वरन् इसके विपरीत मानव विशिष्टता का दृढ़ स्वर यह प्रतिष्ठित करता है कि आज का नया कवि अपने को अधिक गतिशील और जागरूक पाता है। गतिशीलता और जागरूकता की अभिव्यक्ति सदैव उस विशिष्टता के साथ अभिव्यक्ति पायेगी जो मानव प्रकृति और उसकी स्वाभाविकता में निहित हैं। नयी कविता में यह उभरता हुआ तत्त्व निश्चय ही उसे आधुनिक चेतना से अधिक समग्र बनाता है।

- कवि की मानसिक स्थिति की जीवन के जागरूक क्षणों के प्रति अटूट ईमानदारी है अर्थात् वह जिस क्षण में अनुभूति प्राप्त करता है अथवा वह जिस क्षण में जीवन से उद्भूत होता है उसके प्रति ईमानदार रहने में किसी कुण्ठा वा पूर्वाग्रह से अथवा नीति-रीति से परिचालित नहीं होता वरन् वह उस क्षण

के उस साक्ष्य के प्रति पूर्ण रूप से उत्तरदायी होकर उसका निर्वाह करता है जो उसके जीवन को और अनुभूति को तुष्टि प्रदान करता है ।

अन्तु इन समस्त अंकुरों के साथ नयी कविता के लिए स्वाभाविक है कि वह केवल मनोरंजन तक सीमित न रह कर उस भावबोध और विचार को स्वीकार करे जो जीवन के निकट होते हुए आधुनिकता और समसामयिकता से परिचालित होता है । विचारप्रधान होना और उसके साथ बुद्धिप्रधान होने में भी इसका कोई दोष नहीं है वरन् यह तो हमारी बौद्धिक जागरूकता का परिचायक है, उसके गुणों का समर्थक है, क्योंकि जब हमारा सारा भावबोध विवेक पर आधारित है तो फिर वह मनोरंजनपूर्ण नहीं हो सकता : वह विचारपूर्ण होकर जीवन का साक्ष्य करना चाहता है ।

आत्मनिश्चय से परिपूर्ण नये कवि का यह स्वर भी उस मानव को स्वस्थ सन्देश देता है जो प्रत्येक क्षण जीवन के प्रति उत्तरदायी वन कर उसके संघर्ष से जूझता-लड़ता अबाध गति और असीम आत्म-विश्वास के बल पर आगे बढ़ने में लगा हुआ है । मानव स्वाभिमान और उस से उपजी हुई चेतना के कारण वह पलायन स्थिति या चमत्कार से हत-प्रभ होने वाली शून्यता आज के नये कवि में नहीं विकसित हो पाती । वह अपनी गति और सीमाओं के प्रति जागरूक होते हुए एक अपराजेय शक्ति और अदम्य साहस से सब कुछ झेलने के लिए तत्पर है । नयी कविता के इस सार्थक पक्ष के प्रति जहां बहुत से विरोध प्रस्तुत किये जाते हैं वहीं उसकी इस सार्थक दृष्टि को भी स्वीकार करना चाहिये जो विरोध और संघर्ष में भी अनवरत परिश्रम और जीवन-आस्था से ओतप्रोत आत्मविश्वास का परिचय देती है ।

ये जो चांद से फफोले तलुओं में दीखते हैं
ये मुझे उकसाते हैं ।
ये जो पिंडलियों में नसें उभर आई हैं
ये मुझ पर व्यंग्य करती हैं
मुंह पर पड़ी हुई यौवन की झुरियां क़सम देती हैं
.........तब हो, अब यह सत्य है ।
मुझ को आशंकाओं पर क़ाबू पाना है
पत्थरों के सीने में प्रतिध्वनि जगाते हुए मुझको--
उन राहों में एक बार विजय-गीत गाते हुए जाना है
जिनमें मैं हार चुका हूँ । **--दुष्यन्तकुमार**

किन्तु इस से भी अधिक मानव विशिष्टता और उसके द्वारा विकसित आत्म-विश्वास के आयामों में केवल मंतव्य नहीं है । नये भावबोध और आज की नयी

१२

चेतना के साथ सौंदर्य और कला की समृद्धि से भी उसका सम्बन्ध है। किन्तु वह कला न तो उदात्त बन कर अयथार्थ होने वाली अनुभूति है और न प्रगति के साथ केवल मन्तव्यों की झोली ही है। उसमें सौन्दर्य की रचना यथार्थ और उसके तत्त्वों से परिपूर्ण है। नयी कविता का सौन्दर्य और उसका भावपक्ष जीवन के सर्वाङ्गीण तत्त्वों के साथ ही प्रस्तुत होता है, इसलिए उसमें मानवीय भावनाओं के साथ उनकी सहजता भी ग्राह्य होती है। आज जिस वस्तु की नितान्त आवश्यकता है वह उस भाव-स्थिति का समर्थन है जो मानवीय भी हो और सौंदर्य से प्रयुक्त हो, जिस में जीवन का एक स्थूल दृष्टिकोण और उस दृष्टिकोण में व्यक्तित्व की ईमानदारी हो। केदारनाथसिंह की निम्नलिखित कविता में इसका समर्थन है :—

भीतर जितना कुछ था—
हम ने गा दिया
इस से पहले कि हमें कोई आवाज़ दे कहीं से
आओ इस अंधकार में अपने नाम कहीं लिख दें
आओ खो जायें
आने वाले पैरों के निशान हो जायें
संभवत: यहीं कहीं—दिन छिपे अंधेरे में
फिर कोई सोचेगा
हम ने इतिहास नहीं रचा
सिर्फ प्यार किया। —केदारनाथ सिंह

छायावाद और प्रगतिवाद ने जितना ही काव्य के क्षेत्र और उसके स्तर को जीवन से पृथक् वर्जनाओं में बाँधा था, आज उन समस्त वर्जनाओं के विरुद्ध उन स्वाभाविक मन:स्थितियों को स्वीकार करने में भी कवि अनैतिकता अनुभव नहीं करता। आत्मविश्वास का यह परिवेश नयी कविता द्वारा प्रस्तुत हो सका है।

जैसे मानव गाथा को सर्वांगीण गति देना आधुनिकता का दायित्व रहा है उसी प्रकार भाव-जगत् में भी मानव-विश्वास को आत्म-विश्वास के रूप में अभिव्यक्ति देना भी आधुनिकता की विशेषता है। सृजन की अभिव्यंजना में नयी कविता को पढ़ने से या देखने से जिस बात का बोध होता है वह यह है कि रचनाओं में सहज मानव भावना, उसकी दुर्बलतायें, और सीमायें सभी एक साथ बिना किसी आवरण के स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती हैं। इसीलिए आज के मानव की निकटता भी उसकी रचनाओं में परिपूर्ण रूप से व्यक्त होती है।

किन्तु जिस मांसल अथवा स्थूल के प्रति उसका राग है, उसकी अनुभूति है, वह ग्रन्थियों का जन्मदाता न हो कर मुक्ति का संकेत देता है। अनाम की

प्रस्तुत कविता में मानवीयता और स्थूलत्व के साथ-साथ जो काव्यानुभूति है उसका सौष्ठव भी इतना स्पर्श करने वाला है कि उसमें ऐसी कोई बात नहीं आती जो काव्य के अनुरूप न हो।

शिव रहूँ मैं देह का हर पक्ष छू कर
मृत्यु तक मेरी विजय हो:
पी गरल जब-जब मरण सा व्योम नीला मैं लगूं
तब तब उदय हो . . . . .
सूर्य संतति,
तुम मुझे मेरे सृजन में बूझना
मैं कौन हूँ। ——अनाम

और तब इस विश्लेषण के पश्चात् हम इस सत्य पर पहुँचते हैं कि मनुष्य को मनुष्य रूप में स्वीकार करने के अर्थ हैं उसकी समस्त चेतनानुभूति को सम्पूर्ण समग्रता के साथ, उसकी अपनी सहजता के साथ, स्वीकार करना। दुर्बलताओं, कमियों और स्वाभाविकता के प्रति जो नैतिक आग्रह का आवरण डाला जाता है ऐसा लगता है उसमें मानव जीवन को मुक्ति मिल गई है और मनुष्य को 'अपनी' बात कहने का नैतिक साहस वास्तविक रूप में मिल गया है। मनुष्य को मनुष्य रूप में स्वीकार करने की सीमा स्वयम् उस परिवेश द्वारा निर्मित होगी जिस में मनुष्य का जीवन विकास पा रहा होगा। इस परिवेश के अतिरिक्त यदि कोई भी मान्यता या आग्रह उस पर थोपा जायगा तो उस से मानव संभावनायें विकृत होंगी और उनको बल नहीं मिल पायेगा। जीवन स्वयम् यथार्थ है——आन्तरिक और बाह्य——दो रूपों में वह अभिव्यक्ति पाता है, इसलिए जीवन के यथार्थ की सीमा भी आन्तरिक और बाह्य उपलब्धियों द्वारा ही मर्यादित भी होती है। प्रत्येक उपलब्धि जीवन को प्रभावित करती है और जीवन को प्रभावित करने के अर्थ हैं कि यथार्थ अपने रूप को भी बदलता है। आन्तरिक यथार्थ और बाह्य यथार्थ के उन रूपों की स्वीकृति ही नयी कविता का अन्तःकरण है।

मानव विशिष्टता और आत्मविश्वास के आयाम भी यथार्थ की इस उपलब्धि की देन हैं। इसलिए मानव विशिष्टता का अर्थ है उपलब्धियों की स्वीकृति में अपने आत्मसत्य पर बल देने और उसे निष्ठा पूर्ण बनाने की क्षमता। यह क्षमता ही मनुष्य को विश्वास प्रदान करती है। इस का बोध मात्र भी उसे शक्ति और साहस प्रदान कर सकता है। आत्मविश्वास की आवश्यकता है अपने परिवेश और अपने संदर्भ के प्रति ईमानदारी से जागरूक रहने के लिए। बिना इस आत्मविश्वास के मानव अनुभूति की वास्तविक अभिव्यक्ति और उसकी

वास्तविक निष्ठा को आश्रय मिलना कठिन है।

और तब इन समस्त तत्त्वों की अन्तिम परिणति उस दृष्टिकोण की स्थापना में होती है जो मानवीय जीवन दृष्टिकोण को विकसित करने में योग देती है। बिना उपर्युक्त प्रतिज्ञाओं के वह मानवीय आस्था नहीं मिल सकती जो हमें गतिशील बनाती है।

अस्तु जिस मानव विशिष्टता और आत्म विश्वास की चर्चा हम ने अभी की है वही वह शक्ति देती है जिस के माध्यम से हम नयी उपलब्धियों की यात्रा में अन्वेषण और प्रयोग की ओर तत्पर होते हैं। और यही नहीं, इसी मानव विशिष्टता के आधार उसके द्वारा प्रस्तुत आत्मविश्वास के आधार पर ही हम उन समस्त संकटों और अवरोधों को झेलने की शक्ति पाते हैं जो दिन प्रति दिन हमसे और हमारी अनुभूतियों और आस्थाओं से टकराते रहते हैं। नयी कविता में जो स्वर तीव्रता के साथ उभर कर प्रस्तुत हो रहा है उसमें इन सभी तथ्यों की स्वीकृति मिलती है। कहीं-कहीं उस में अतिरेक और कहीं-कहीं उसमें यह भावनायें निम्न स्तर की भी हो सकती हैं किन्तु नयी कविता का साधारण स्वर इस के समर्थन में प्रस्तुत होता है और उसकी उपलब्धियों को ग्रहण करने की क्षमता प्रदान करता है जो अपने गर्वीले व्यक्तित्व के साथ-साथ आत्मविश्वास के बल पर मरुभूमि पर भी क्षत चरणों से स्पृहा की रेख आंकने की शक्ति को अभिव्यक्ति देती है।

ओ रे गर्वीले,
तू ने आहत अभिमान पूर्ण
चरणों से झेल लिया पन्थ की पिपासा को!
जब-जब बवण्डरों से,
उड़ने को पृथ्वी हुई,
तू ने हठी साहस से रोप दिये पाँव
बाँधी वज्र मुट्ठियों में छूटती तृषा की रास
रोक दीं पछाड़ें बन्द होठों के कगारों से
रुका नहीं
विक्षत सामर्थ्य की पुकारों पर झुका नहीं
आतप में बूँद बूँद छीजा पर चुका नहीं—
और इस आखिरी पड़ाव तक
तू ने क्षत चरणों से
आँक दी स्पृहा की रेख कोरी मरुभूमि पर।

—विजयदेवनारायण साही

[८]

प्रयोग, प्रगति और परम्परा

नयी कविता को लेकर इधर जो कुछ भी विभिन्न आलोचकों द्वारा कहा-सुना गया है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश धारणायें काव्यगत सौन्दर्य एवम् उसकी मार्मिक संवेदनाओं पर आधारित नहीं की जातीं वरन् नयी कविता को केवल बाह्यारोपित मतवाद के कटघरे में बन्द करने का प्रयास किया जाता है। इन सब का परिणाम यह है कि आज जहां और प्रकार की आलोचनायें नयी कविता के संबंध में प्रस्तुत की जाती हैं वहां विशेष रूप से इस बात पर बल दिया जाता है कि नयी कविता प्रयोगशील है; इसलिए न तो वह प्रगतिशील हो सकती है और न ही परम्परा का अनुकरण करती है। काव्य के गुण-दोष, और दायित्व निर्वाह पर विचार-विमर्श करके सारा विवाद 'प्रयोगवाद,' 'प्रगतिवाद' और 'परम्परावाद' पर ही केन्द्रित कर दिया जाता है और जब कोई भी आलोचक रूढ़िवादी बनकर किसी भी मतवाद को स्वीकारता है—चाहे वह प्रयोगवाद हो, प्रगतिवाद हो और चाहे 'परम्परावाद' हो—, तो वह सदैव विषय-वस्तु का मूल्यांकन न करके अपने पूर्वाग्रहों की रक्षा को ही अपना ध्येय मान बैठता है। कहीं-कहीं यह सारा विवाद अनर्गल प्रलाप की सीमा तक ही रह जाता है, क्योंकि सिवा इसके कि पूर्वाग्रहों के कारण वह असंतुलित, असंगत और अनुचित रूप में काव्य और उसके प्रतिमानों को विकीर्ण करे दूसरा रचनात्मक ृष्टिकोण न तो वह स्वयम् मान पाता है और न ही उसके विकास में विश्वास ही प्रदर्शित कर पाता

है। फलस्वरूप आज यह आवश्यकता अधिक संगत मालूम पड़ती है कि प्रयोग, प्रगति और परम्परा की वास्तविक मर्यादा को ग़लत प्रकार के पूर्वाग्रहों से पृथक् करके सोचा जाय, उसका मूल्यांकन किया जाय, और उनके विश्लेषण के आधार पर वह सब कुछ जो असंगत और असंतुलित व्याख्या के रूप में प्रतिपादित किया जा रहा है उसका वास्तविक रूप जाना और समझा जाय।

प्रत्येक नयी प्रवृत्ति से चौंककर जो कुछ भी प्रगति और परम्परा के नाम पर कहा जाता है उसमें केवल उन सड़े हुए तीखे अंशों की झलक मात्र प्रदर्शित होती है जो समय के विकास के साथ विकसित नहीं हो सके हैं और इसीलिए निर्जीव प्रेत से केवल आतंक फैलाने में सक्रिय हैं। यदि प्रगतिवाद केवल गति की लकीर पीट कर आज की नयी प्रवृत्ति को गलत सिद्ध करना चाहता है तो परम्परा का अनुयायी उस गति के विकास में अनावश्यक रूढ़ियों की इतनी दुहाई देता है कि इतिहास, सभ्यता, संस्कृति और मानवता के समस्त विकासशील तत्त्व कुंठित हो जाते हैं और इतनी निर्मम पंगु स्थिति का भास होने लगता है कि उसके बाद न तो प्रगति ही संभव है और न प्रयोग ही। लेकिन इस सारी स्थिति का जीवन्त मज़ाक़ यह है कि प्रगति और परम्परा जैसे दो विरोधी तत्त्व एक साथ मिलकर प्रयोग पर आक्रमण करने लगते हैं जिनका परिणाम निश्चय ही दिग्भ्रम और भ्रांति फैलाने में समर्थ सा जान पड़ने लगता है; अर्थात् दोनों ही का खुला आरोप प्रयोग पर है। प्रगतिवाद आधुनिक प्रयोग को इसलिए भी बुरा कहता है कि प्रयोग में सहानुभूति की सशक्त स्वीकृति है और यह स्वीकृति भी ऐसी कि जिसमें दलगत अथवा सम्प्रदायवादी मान्यताओं के विरोध में नये विन्दुओं को विकसित करने की सम्भावना निहित है। परम्परावादी इसलिए प्रयोग का विरोध करता है कि उसकी स्थिति ठीक उस लायक बाप के नालायक बेटे के समान बन जाती है जो अपनी अकर्मण्यता के कारण पैतृक सम्पत्ति की रक्षा ही सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य मान बैठा है। उसके पास अपना कुछ नहीं है, वह जीना चाहता है केवल उस पूंजी पर जो कि पूर्वजों ने अपनी मानसिक एवम् आत्मिक अनुभूतियों के आधार पर एकत्र की है। आज का प्रगतिवादी भी परम्परा की दुहाई महज़ जनमत को अपने वश में करने के लिए देता है। उसका मोह या उसका आकर्षण किसी के प्रति नहीं है। तुलसी से लेकर पंत तक में वह वर्गचेतना से आक्रान्त पलायनवादी साहित्य की परम्परा सिद्ध कर सकता है बशर्ते कि सम्प्रदाय-वादी दल उसको ऐसा करने की छूट दे। जब यह छूट मिली है तब उसने ऐसा किया भी है। आज का परम्परावादी वह अन्तर्दृष्टि नहीं रखता जो उसे अपने पूर्वजों से मिली है, इसलिए वह केवल आंख बन्द करके शब्दवेध पर अग्रसर होना चाहता है। जो भी प्रवृत्ति केवल पूर्वजों के यशगान में तुष्टि पाती है उसमें कहीं ऐसी कायरता

भी हो सकती है जो उसे गिरवी रखकर नये यश को खरीद सकने में अपना सारा सामर्थ्य लगा दे। परम्परा की रक्षा पर जोर देने वाले परम्परा की वृद्धि के प्रति विश्वास नहीं रखते, वे केवल उसकी रक्षा से ही संतुष्ट हो लेते हैं क्योंकि उस सम्पत्ति के आधार पर आगे बढ़ने की शक्ति उनके पास होती ही नहीं। रक्षा की भावना में खोने का आतंक इस सीमा तक घर कर लेता है कि आज के अधिकाँश परम्परावादियों में आत्मविश्वास की कमी, दूरदर्शिता का अभाव है, संभावनाओं को वहन करने की क्षमता ही जैसे टूटती जा रही है। यही कारण है कि प्रयोग अथवा नयी प्रवृत्ति के औचित्य पर ध्यान देने की आवश्यकता न समझने के कारण परम्परा के समर्थक और प्रगति के गायक दोनों ही एक साथ प्रयोग की भर्त्सना करते दिखाई पड़ते हैं। इसका खोखलापन तो उस समय देखने को मिलता है जब दोनों ही नयी रचना के प्रयोगवादी विषय-वस्तु पर कम और शैलीगत, शिल्पगत नवीनता पर अधिक टूट पड़ते दिखाई देते हैं।

लेकिन इन प्रगतिवादी और परम्परावादी आलोचकों से भिन्न एक तीसरा वर्ग भी है जो नयी प्रवृत्ति को स्वीकार करने में सर्वथा नया ढंग अपनाता है। इस वर्ग की स्थिति अजीब है। वह प्रयोग अथवा नयी प्रवृत्ति की खुल कर भर्त्सना भी नहीं करता लेकिन वह उसे स्वीकार करता हो ऐसा भी नहीं है।* वह परम्परा का समर्थन अतिवादी परम्परावादी के समान करने में अपने को असमर्थ पाता है। प्रगतिवादी वह इसीलिए नहीं हो पाता कि वह स्वयम् अन्तर्मन में प्रयोग से प्रभावित होता है। प्रयोग का समर्थन वह इसलिए नहीं करता कि उसमें उसका विश्वास नहीं है। यह वर्ग इसीलिए तटवर्ती नगर के नागरिक की भांति नदी की गति देखता है, बाढ़ में खतरे के बिन्दु पर आंख गड़ाये तट से दोनों का रस लेता है; उनका जो अभियान के क्षणों में हर लहर के साथ नये प्रतिमान स्थापित कर रहे हैं, साथ ही उनका भी जो तट पर खड़े-खड़े तमाशा देख रहे हैं और उनका भी जो नदी में दूध डाल कर पितरों का तर्पण करने के नाम पर हिंसक कछुओं को पिंडदान खिला रहे हैं। यह वर्ग बहुत ही निर्लिप्त होकर वस्तु-स्थिति पर पैंतरे बदलता है लेकिन हर पैंतरे के बाद अनुभव करता है कि वह कहीं किसी दिशा में एक सूत भी नहीं बढ़ा है: जहां था वहीं है। यह बात और है कि परिस्थिति बदल गई है, मूल्यों और दृष्टिकोणों में परिवर्त्तन आगया है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है:

---

१. देखिये नयी कविता का भविष्य: गिरिजा कुमार माथुर, आलोचना
२. देखिये नयी कविता: मूल्यांकन: बाल कृष्ण राव, आलोचना
३. देखिये नयी कविता (२): डाक्टर देवराज

प्रयोग की सार्थकता किस में है ? उसकी मर्यादा क्या है ?
परम्परा का महत्त्व क्या है ? उसकी सीमायें क्या हैं ?
तथाकथित प्रगति और वास्तविक प्रगति में अन्तर क्या है ?

प्रयोग प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार की सहज प्रकृति है। प्रतिभा की मूल प्रवृत्ति है कि वह नयी अनुभूति और आत्मबोध के नये स्तरों को विकासशील दृष्टि से, नये माध्यम और नयी पृष्ठभूमिकाओं से, देखने की सजग प्रेरणा दे। जो कुछ दूसरों ने देखकर, समझकर, अथवा अनुभव करके हमें दिया है वह आज के प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार का भी आत्मसत्य होगा ही ऐसा स्वीकार करना अवैज्ञानिक एवम् रूढ़िगत चेतना का परिचय देता है। जो कुछ हमारे पूर्वजों ने अनुभव किया है उसके साथ उनकी सापेक्ष अनुभूति सम्बद्ध थी और उनके सापेक्ष सत्य के साक्षात्कार को अपने सापेक्ष सत्य से पृथक् न करना देश, काल की मर्यादा को अस्वीकार करना है, साथ ही ह्रास एवम् आत्महीनता का भी परिचय देना है। इसलिए जब हम किसी भी सत्य को अपनी सापेक्ष दृष्टि से अनुभव करते हैं और उन अनुभव के क्षणों का आत्म-साक्षात्कार करके व्यक्त करते हैं तो फिर उसमें से अधिकांश ऐसा होता है जो दूसरों की सापेक्षता से भिन्न हो। यह भिन्नता सदैव साहित्य का अंग रही है क्योंकि इस भिन्नता में लेखक का, युग का एवम् अनुभूतियों का विवेक, उनकी मार्मिकता एवम् सहजता भी प्रदर्शित होती रही है। देश-काल के भिन्न आयाम भी इन्हीं के माध्यम से अंकित होते रहे हैं और यही नया प्रयोग भी माना जाता रहा है। इसमें न तो किसी को आपत्ति रही है और न होनी चाहिये। यदि इस भिन्नता को न स्वीकार किया जाता तो आज का समस्त साहित्य पुनरावृत्ति मात्र बन कर रह जाता।

पुनरावृत्ति, चाहे वह साहित्य में हो अथवा किसी अन्य क्षेत्र में, यह सिद्ध करती है कि मौलिक प्रतिभा का ह्रास हो रहा है : दृष्टि में रुकावट पैदा हो गई है। इसके विपरीत प्रयोग प्रबुद्ध चेतना को परिलाक्षित करता है जिसके आधार पर नये मूल्यों, नये आयामों और नयी प्रवृत्तियों का विकास होता है। जिस कला में, काव्य में कृतिकार का व्यक्तित्व रचना से सम्बद्ध नहीं होता अथवा जो जीवन को एक परिधि में बांध कर देखने को ही कला की मर्यादा समझता है उसके सामने केवल दो ही रास्ते शेष बचते हैं : प्रथम तो यह कि वह विगत पीढ़ी की समस्त रचना-विधि एवम् कला-अभिव्यंजना को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर ले अथवा उसके अतिरिक्त नया रास्ता ढूँढ़े, नये प्रयोग करे। जो नये पथ-अन्वेषण को अपराध समझते हैं वे सत्यान्वेषण के मार्ग में नया प्रयोग नहीं स्वीकार करते। पुनरावृत्ति में जीवन की जागरूक दृष्टि का, कलाकार के व्यक्तित्व का, कुछ भी अंश नहीं रहता। जहां तक नयी कविता का सम्बन्ध है वह पुनरावृत्ति के दोष से मुक्त है, मिथ्या-

रूप आकर्षण से भी उसका कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिए वह प्रयोगशील होती है। प्रयोगशील वह इसलिए और भी है क्योंकि वह आत्म युक्त क्षणों को, बाह्यारोपित अतिधर्मा अनुभूति से अधिक श्रेयस्कर समझती है अर्थात् अपने आत्मसात् सत्य को अपनी अनुभूति की गहराई के साथ अपने ढंग से व्यक्त करना अपना नैतिक धर्म मानती है। जहां पुनरावृत्ति कला का दोष है वहां प्रयोग उसके भाव पक्ष एवम् कला पक्ष को व्यक्त करने की मुक्त प्रक्रिया। प्रयोग में आत्मसात् करने का गुण है, विवेक रखते हुये भिन्नता को स्वीकार करने की क्षमता है, नये अनुभव क्षेत्रों को उद्घाटित करने की शक्ति है। और इन सब से भी बढ़कर उसके पास वह अन्तर्दृष्टि है जो हमें जीवन को नये माध्यमों से देखने की प्रेरणा देती है। जो लोग सत्य के अमूर्त और निरपेक्ष होने के हामी हैं और उसकी अनेकता में अविश्वास करते हैं वह सत्य के पहचानने में भ्रम पैदा करते हैं क्योंकि सत्य केवल निरपेक्ष रूप में कोई भी महत्त्व नहीं रखता। उसकी असली कसौटी उसकी सापेक्षता में है। व्यक्ति, समाज, आदर्श, यथार्थ परम्परा, विकास, इन सब की सापेक्षता में सत्य के रूप भी बदलते हैं, अनुभव स्तर में परिवर्त्तन भी आता है, अनुभूतियों की गहराई में अन्तर प्रस्तुत होते रहते हैं और जब हम उस बदलते हुये रूप को स्वीकार करते हैं, उनके विभिन्न पहलुओं के अस्तित्व को मान लेते हैं और देश, काल की मर्यादा को अंगीकार करते हैं तो निश्चय ही उन लोगों से जो सत्य को निष्क्रिय, जड़, एवम् गतिहीन मानते हैं उनसे पृथक् सोचते हैं, लिखते हैं और चलते हैं। जैसे ही नई अभिरुचि और नया दृष्टिकोण रूढ़ियों को छोड़ कर आगे बढ़ने की चेष्टा करता है उसी के अनुसार परम्परावादी पुनरावृत्ति को एक मात्र सत्य मानने लगता है और पुरानी जड़ों को इतनी जोर से पकड़ कर बैठ जाता है कि स्वयम् उसकी बाह्य और आन्तरिक जर्जरता उनमें अविश्वास पैदा करके उन्हें उपहासास्पद बना देती है। प्रयोग प्रबुद्ध चेतना की विकास प्रवृत्ति का परिचायक है; जहां प्रयोग नहीं है, लीक छोड़कर चलने की परम्परा नहीं है वहां निष्क्रियता जन्म लेती है भोंडापन और खोखलापन विकसित होने लगता है। इसीलिए प्रयोग की नवीनता में वह संभावनायें निहित रहती हैं जो परम्परा और रूढ़ि के प्रति विद्रोह करके अपना नया रास्ता बनाने में गतिशील हैं। इस प्रवृत्ति को मात्र प्रयोग कहकर इसे लांछित करना हिन्दी की सामर्थ्य को अस्वीकार करना है। इसके विपरीत प्रयोग मौलिक, प्रतिभाशील काव्यादर्श है जिससे आज मुंह नहीं मोड़ा जा सकता।

लेकिन प्रयोग जैसे पुनरावृत्ति से पृथक् है, परम्परा की रूढ़ि को अस्वीकार करता है, ठीक उसी प्रकार से वह मूलतः प्रगति के प्रति आस्थावान होते हुए तथाकथित प्रगतिवाद से भिन्न है। प्रगति के प्रति उसकी आस्था इसीलिए है कि

प्रगति प्रयोग की सहज गति है, अन्तर केवल इतना है कि यह गति स्वचालित, आत्मानुभूति पर आधारित है, उसके ऊपर कोई बाह्यारोपित आडम्बर अथवा सम्प्रदायवाद नहीं है, इसीलिए प्रगतिबद्ध होते हुए भी वह तथाकथित प्रगतिवाद से भिन्न है, और उसकी आत्मा को संतुष्ट नहीं करता। प्रयोग मानवीय चेतना के नये स्तर विकसित करने की निष्ठा है, इसलिए वह प्रत्येक अनुभव जो जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है और अपनी जिज्ञासु दृष्टि से सम्पूर्ण चेतना को दृष्टि प्रदान करता है उसमें मतवाद से अधिक व्यक्ति अनुभूति के प्रति अधिक आस्था है। प्रगति मानव यात्रा की गति का परिचायक नहीं है वह अन्तमन और अन्तरचेतन में एवम् मानसिक विचारों की विद्रोहमयी परम्परा का भी प्रतिनिधित्व करता है। प्रयोग प्रगति की दृष्टि से परिचालित होता है यदि प्रगति की भावना न हो, आगे बढ़ने की चेष्टा न हो, तो प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। प्रयोग तो विचारों की नवीन क्रियाशीलता की सजग अभिव्यक्ति है। सजग, प्रबुद्ध और व्यक्ति अनुभूति की ईमानदारी में विश्वास रखने के नाते ही वह तथाकथित प्रगतिवाद से भिन्न है क्योंकि प्रगतिवाद में सजगता कला अथवा कलाकार की चेतना की नहीं होती वह शास्त्रीय होती है, उसकी प्रबुद्ध सत्ता विचार स्वातन्त्र्य से अंकुरित नहीं होती वरन् दलगत स्वार्थ से परिचालित होती है, उसमें व्यक्ति अनुभूति का कोई स्थान नहीं है क्योंकि वह एक निर्धारित समाजवाद की चेतना के फ्रेम में कसी हुई स्वतंत्रता होती है। फ्रेम के भीतर उसके वृत्त में जितनी चीजें आती हैं वह स्वीकार की जाती हैं उस फ्रेम के बाहर की चीज़ उनके लिये अस्पृश्य है। यही कारण है कि प्रयोगवाद की प्रगति आस्था में और तथाकथित प्रगतिवाद में एक स्वाभाविक विरोधाभास दिखलाई पड़ता है। जो भी कला-विशेषज्ञ किसी भी कला कृति को कलाकार की इस मूल मन:स्थिति पर बाह्यारोपित मतवाद को देखने की चेष्टा करता है वह निश्चय ही प्रयोग की प्रगति निष्ठा से प्रभावित नहीं होगा क्योंकि वास्तविक प्रगति और प्रगतिवाद में उतना ही अन्तर है जितना कि किसी भी कला की तीव्र अनुभूति में और उसके ऊपर लादे हुये रूप और शिल्प के आडम्बर में। प्रयोग की प्रगति कलाकार की अनुभूति की प्रगति से परिचालित होने के नाते सौन्दर्यबोध के स्तरों में मानव प्रज्ञा को संतुलित करने की क्षमता रखती है, यह संतुलन बाह्यारोपित न होकर आत्म नियंत्रित ही होगा इसीलिये ऐसे मतवादी जो साहित्य की प्रगति को उपज और खपत के सैद्धान्तिक मान-दंडों से देखने की चेष्टा करते हैं वे निश्चय ही अन्यथा आरोप लगाकर किसी अन्य मन्तव्य को सिद्ध करने की इच्छा रखते हैं। प्रयोग में अन्तर्मन की संवेदन-शीलता उपजेगी, उसमें ईमानदारी होगी और तभी वह ग्राह्य हो सकेगा। किसी भी साहित्य में किस सीमा तक गति देने की शक्ति है, किस सीमा पर जाकर वह

मात्र नारे में बदल जाने के कारण अनुदित भाव-स्थिति है इस का भी पता इसी प्रयोग, प्रगति और परम्परा के स्पष्ट दृष्टिकोण से ही लगेगा। प्रयोग का आधार दृष्टि की नवीनता है। जिस भी कलाकृति में यह नवीनता नहीं है, अथवा जिसमें जूठन है, अथवा जो केवल उपदेशक की गाथा है, वह ललित साहित्य तो नहीं ही हो सकता, और चाहे जो हो।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्रयोग पूर्वाग्रहों से अधिक अनुभूति और रचनात्मक अनुभव में विश्वास करता है और कला में इस रागात्मकता की गहराई सिवा कलाकार के कोई दूसरा नहीं देसकता; क्योंकि रागात्मक बोध में व्यक्तित्व की ऊँचाई ही दृष्टि प्रदान कर सकती है। उस अनुभव के क्षण को कोई उपदेशक कलाकार के लिए अनुभव नहीं कर सकता, इसलिए वह कोई भी बाह्य आरोप लेकर उसकी अनुभूति को अच्छा या बुरा कहने का अधिकारी भी नहीं हो सकता। रागात्मक बोध व्यक्तिगत अनुभव होने के नाते परम्परा से भी उतना ही भिन्न हो सकता है जितना कि किसी भी पूर्वनिर्धारित मतवाद से। इसीलिए प्रयोग मात्र उस आत्म-सत्य की प्रतिष्ठा का हेतु है, वह स्वयम् पूर्ति नहीं है। वह मात्र शिल्प-सज्जा भी नहीं है, वह देश-काल के वातावरण से उत्पन्न हुआ प्रयोग है। इसी कारण से यह कहना उचित होगा कि प्रयोग केवल चमत्कार की अनुभूति नहीं है: इसमें युग का ध्येय लक्षित होता है। इसमें देश-काल से संबन्धित जीवन की, व्यापक मानव जीवन की, ग्रहणशीलता का प्रयास मिलता है क्योंकि:

> जीवन है कुछ इतना विराट इतना व्यापक
> उसमें है सबके लिये जगह, सबका महत्त्व
> ओ मेजों की कोरों पर माथा रख रोने वाले
> यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ, यह सब का है
> . . . .
> हर एक दर्द को नये अर्थ तक जाने दो

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगति अपनी वस्तुस्थिति में प्रयोग की सहज मनोवृत्ति है जो प्रयोग से अलग नहीं की जा सकती, लेकिन प्रगतिवाद प्रयोग की प्रतिक्रिया है जो अनावश्यक ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति का परिचय देता है। जहाँ-कहीं भी विचारधारा में, मूल्यों में, और मर्यादाओं में, विकास होगा, वहां प्रयोग में वह विकासशील तत्त्व व्यक्त होगा। प्रयोग साहित्यिक अभिरुचि और विकास का मुख्य अंग है।

लेकिन तथाकथित प्रगतिवाद प्रयोग को असामाजिक घोषित करके उसको

उद्देश्यहीन सिद्ध करना चाहता है। मूलतः ऊपर की व्याख्या के बाद वह स्वयम् विरोधाभास का भागी बन जाता है, क्योंकि सत्साहित्य जहाँ प्रयोग के माध्यम को शक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए अपनाता है, वहीं वह उस भावस्तर को भी व्यक्त करना चाहता है जिसमें साहित्यिक दायित्व के साथ सामाजिक दायित्व भी निहित है। किन्तु प्रयोग के माध्यम से व्यक्त हुए सामाजिक दायित्व में और तथा-कथित प्रगतिवाद द्वारा व्यक्त सामाजिक दायित्व में एक महान अन्तर है। वह यह कि प्रयोग में वह दायित्व कलाकार के व्यक्तित्व से उभर कर व्यक्त होता है जबकि प्रगति के माध्यम से वही सत्य आंशिक व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त होने के नाते स्थायी एवम् ग्राह्य नहीं हो पाता। ऐसा होने का भी एक कारण है। प्रयोग में व्यापक मानव का विराट रूप व्यक्त होता है, आंशिक सामाजिक सत्य नहीं, क्योंकि प्रयोग कला को प्रचार का यंत्र नहीं मानता वरन् उसे वह व्यापक मानव की करुणा और पीड़ा को आत्मसात् करने का माध्यम मानता है। जब साहित्यिक स्तर पर सामाजिक दायित्व की बात आती है तो प्रयोग उस समस्त चेतना को केवल सीमित परिधि में बांध कर रखने में अपने को असमर्थ पाता है। वह मानवात्मा की मूल समस्या को अंकित करने के साथ एक वर्ग विशेष की बात नहीं कर पाता। उसके लिए समस्त मानव समाज ही अपना है। उसकी विराट संभावनाओं के प्रति वह अपनी वैयक्तिक अनुभूति को किसी भी साम्प्रदायिक अनुभूति से अधिक स्पष्ट और ईमानदार पाता है; क्योंकि वह व्यक्ति-अनुभूति और बाह्य स्थिति के बीच सीधा और अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित कर के रचना करता है। सत्य को दूसरों की आंखों से देखना प्रगतिवाद की अपनी विशेषता है, उसके पास अपनी दृष्टि नहीं है इसीलिए उसके माध्यम से ऊंचे-ऊँचे नारे भले ही सुनने को मिलें, उसमें उसका व्यक्ति कहीं भी नहीं है। सम्प्रदायवाद का आधार व्यक्ति नहीं बनता बल्कि सामूहिक मतवाद उसका आधार सहज रूप में ही बन जाता है। यही कारण है कि कोई भी सामूहिक व्यवस्था, कला और साहित्य के क्षेत्र में, समस्त जीवन के उपकरणों में, अन्वेषण को प्रश्रय देने में असमर्थ रहती है; क्योंकि मानव की 'समूहप्रज्ञा' की यह व्यवस्था केवल निर्धारित वस्तुस्थिति को नियंत्रित रूप में देखने के लिए बाध्य करती है, केवल उतनी ही सीमा तक ज्ञान-वृद्धि की सीमा मानती है जहाँ तक जाना जा चुका है अथवा जो सामूहिक व्यवस्था में साम्प्रदायिक मतवाद जानने की आज्ञा देता है। इसके विपरीत आत्मविश्वासी कलाकार जानी हुई संचित थाती को साभार ग्रहण करते हुए उसके आगे बढ़ने की चेष्टा में प्रयोगशील होना पसंद करता है। वह नये ख़तरे पैदा करता है, पुरानी धारणायें तोड़ता है, नयी धारणायें बनाता है; क्योंकि वह सजग है, सचेत है, और जीवन्त रुचियों से ओतप्रोत है।

अस्तु प्रगतिवाद और प्रयोग में संघर्ष है "सामूहिक मानव" और "व्यक्ति मानव" का, संख्यावादी मतवाद का और सगुण सचेत मानव प्रतिमा का। जो व्यापक मानवता की अपेक्षा समूह में विश्वास करता है, वह यथार्थ का आत्मसात् नहीं कर सकता। इसीलिए समूहवादी चेतना मानवीय व्यापकता को अपना ही नहीं सकती। और 'समूह' अधिनायकवाद, फासिस्टवाद को विकसित करता है, स्वतन्त्र सचेत मानववाद को व्यापक आस्था स्पष्ट करती है। 'समूह' व्यापकता में विश्वास कर ही नहीं सकता; और जो व्यापकता में विश्वास रखता है वह निश्चय ही 'समूह' की बंधी सीमा से संतुष्ट नहीं हो सकता। तथाकथित प्रगतिवाद समूह की संकीर्णता के साथ सम्बद्ध है जिसमें न तो व्यक्ति का महत्त्व है न व्यापकता का। इसके विपरीत आज की नयी कविता अथवा नया प्रयोग व्यापक मानवता के प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में विश्वास रखता है......उसकी संवेदना की कोई सीमित परिधि नहीं है......वह उसे व्यापक मनुष्य-परम्परा से ग्रहण करता है और व्यापक मानव संभावनाओं को प्रतिक्षण सौंपता चलता है। प्रगतिवाद 'समूह' की प्रशासित ध्वनि होने के नाते आत्महीन, विवेक-रहित 'समूह' सत्ता की स्वीकृति है। प्रयोग इस प्रकार की मान्यता के विरोध में ही जन्म ले सकता है—वह व्यापकता के प्रति आस्थावान् है क्योंकि उस व्यापकता में ही वह अपनी और व्यक्ति की मर्यादा की रक्षा कर सकता है, अपने स्वातन्त्र्य को अर्थ दे सकता है।

आज जिस मोड़ पर साहित्यिक विचारों की अन्तर्दृष्टि पहुंचती है वह यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर देता है कि किसी भी कथित स्वप्न के लिए आज मनुष्य घुट-घुट कर मर जाय, यह संगत नहीं है। मार्क्सवाद की परिणति इधर जिस रूप में तथाकथित प्रगतिवाद में व्यक्त हो रही है उसमें एक नया स्वर फूटता दीख रहा है; और वह यह कि आज की वैयक्तिक स्वतंत्रता को 'समूह' को समर्पित कर दो, कल की व्यापक निष्ठा की रचना के लिए यह आवश्यक है। यही तर्क फ़ासिस्टों का भी था। यही तर्क कम्यूनिज्म का भी है। व्यापक दृष्टिकोण 'समूह' की संकीर्णता से पनपेगा, यह केवल भ्रम है।

प्रगति का वास्तविक अर्थ मानव की विकासशील प्रवृत्ति में निहित है।* प्रगति की वास्तविक मर्यादा मनुष्य की आन्तरिक मर्यादा है। यह आन्तरिक मर्यादा बाह्यारोपित मतवाद के आधार पर नहीं विकसित हो सकती। उसके लिए कला की मूल आस्था के प्रति विश्वास विकसित करना पड़ेगा। व्यक्ति की, समाज की, मानवता की मर्यादा के अतिरिक्त एक कला की स्वतः विकसित मर्यादा भी है जो साहित्य और कला में, प्रगति और प्रयोग में, रूढ़ि और परम्परा में एक नियंत्रित विवेक पैदा करती है। कलाकार की रचनानुभूति

---

* डा० धर्मवीर भारती, साहित्य की नई मर्यादा : आलोचना ११

और उसकी आत्मग्राह्यता ही किसी भी कृति को केवल प्लेटिटयूड की सीमा तक ला के छोड़ सकती है अथवा उसे व्यापक रूप दे सकती है। प्रगतिवाद इस रचनानुभूति में विश्वास नहीं करता, प्रयोग इस रचनानुभूति की ईमानदारी में विश्वास करके चलता है। प्रयोग की आधारभूत भावना रचनानुभूति की प्रेरणा में प्रश्रय पाने के कारण, कला को सजीव और नवीन शक्ति प्रदान करने में, समर्थ होती है; इसीलिए वह वाद से मुक्त है, प्रयोग करते हुए भी वह प्रयोग के तथाकथित वाद से भी मुक्त है क्योंकि उसका वास्तविक सत्य आत्म-सत्य है जो हर वाद-विवाद से ऊंचा है।

प्रगतिवाद आत्म-सत्य को स्वीकार नहीं करता वह बाह्य सत्य को ही सर्वस्व मानता है; किन्तु जैसा कि स्पष्ट है कि कोई भी बाह्य सत्य निरपेक्ष हो ही नहीं सकता, इसलिए प्रगतिवाद की मूल धारणा को कलाकृति की अपेक्षा बाह्य दर्शन, सम्प्रदायवाद एवम् नारों का माध्यम स्वीकार करना पड़ता है। प्रगतिवाद जिस बाह्य सत्य अथवा वस्तु सत्य की चर्चा करता है वास्तव में वह असंभव है क्योंकि प्रत्येक बाह्य सत्य व्यक्ति से रागात्मक सम्बन्ध रखे बिना प्रभावित ही नहीं कर सकता: रचना की प्रेरणा दे ही नहीं सकता। जो लोग इस सम्बन्ध की वास्तविकता नहीं समझ पाते, उसकी अनिवार्यता नहीं मानते, वे साहित्य के मर्म को भी नहीं समझ पाते। वे तो और भी नहीं समझ सकते जो इन रागात्मक संबन्धों के परिवर्तन में विश्वास नहीं रखते क्योंकि वे स्वयम् विकास नहीं कर पाते, देश-काल की सीमाओं को समझ नहीं पाते। इस दृष्टि से प्रयोग बाह्य सत्य और व्यक्ति-चेतना के एकाकार होने की प्रक्रिया है जो सत्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध को एक सापेक्ष मूल्य प्रदान करता है। यही कारण है कि प्रयोग केवल उस रागात्मक सम्बन्ध को अभिव्यक्ति देने का साधन है, लक्ष्य नहीं।

प्रगतिवाद और प्रयोग के विषय में एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि प्रगतिवाद एक विशेष राजनीतिक मतवाद का लक्ष्यपूर्ण आन्दोलन है जिसका सम्बन्ध साहित्यिक मानदंड से निर्धारित नहीं होता वरन् राजनीतिक परिस्थितियों

---

* निरे तथ्य और सत्य में, या कह लीजिये वस्तु-सत्य और व्यक्ति-सत्य में यह भेद है कि सत्य वह तथ्य है जिसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है। बिना इस सम्बन्ध के वह एक बाह्य वास्तविकता है जो काव्य में स्थान नहीं पा सकती। लेकिन जैसे-जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है वैसे-वैसे हमारे उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियां भी बदलती हैं, और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है।

—अज्ञेय, तारसप्तक, २

और आवश्यकताओं द्वारा संचालित होता है। इसका सामाजिक दायित्व भी उन्हीं राजनीतिक मन्तव्यों से प्रशासित होता रहता है और इसीलिए उसके विधान का बहुत बड़ा अंश साहित्यकारों द्वारा निर्धारित न होकर दलगत राजनीतिक व्यक्तियों द्वारा संचालित होता है। जीवन का यथार्थ अंकन भी इसीलिए अनेक दांव-पेंच के साथ साहित्य में व्यक्त किया जाता है। उसका अधिकांश उस बाह्य सत्ता के मार्ग-प्रदर्शन का फल है जो साहित्यिक रुचि से अनभिज्ञ और अपरिचित हैं। इसका उचित प्रदर्शन हमें स्वयम् प्रगतिवाद के विभिन्न मतों द्वारा समय-समय पर होता रहा है। इस संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण ही प्रगतिवाद आज के व्यापक यथार्थ को वहन करने में असमर्थ है।

प्रयोग या नयी काव्य प्रवृत्ति आज के जीवन के यथार्थ को स्वीकार करती है और यही एक अनिवार्यता है जो इसे आज के यथार्थ को चित्रित करने की शक्ति देती है। क्लैसिक या रोमान्टिक भावधारा इसे नहीं वहन कर सकती; क्योंकि उसके शिल्प, विधान और व्यवधान में कसे हुए घेरे में आज का यथार्थ आ ही नहीं पाता। आज की जीवन-अनुभूति की व्यापकता और उसका आत्म-सत्य न तो क्लैसिक विधान की रूढ़ियों में व्यक्त हो सकता है और न रोमैन्टिक कोमलता पर ठहर सकता है। वर्तमान मानव जीवन की समस्याओं और उनसे प्रभावित भावधारा को न तो प्रचलित शब्दावली ही व्यक्त कर सकती है और न प्रचलित शिल्प-विधान ही उसे पर्याप्त बना सकता है। उसकी सीमायें, और अनुभूतियां पृथक हैं इसलिए उनकी अभिव्यक्ति भी पुराने ढंग से होने में सीमित हो जाती है वह न तो छाया-वाद की कोमल पदावली के अनुकूल है और न ही वह 'भारत भारती' की शैली में लिखी जा सकती है। इसलिए प्रयोग आज का चलन नहीं है, वह वर्तमान जीवन की अनिवार्यता है। जो इस अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करता वह कला-सृजन की मूलभूत वैज्ञानिक क्षमता को भी स्वीकार नहीं करता। प्रयोग केवल रूप-सज्जा को लेकर व्यक्त नहीं होता, उसमें इन सब से अधिक आधुनिक मानव संवेदना की स्वीकृति है।

यह तो हुई प्रगति और प्रयोग की बात। इसी से सम्बन्धित प्रयोग और परम्परा का भी विषय है जिसको लेकर मनमाने ढंग के राग अलापे जाते हैं। प्रयोग की हेयता को सिद्ध करने के लिए जैसे प्रतिगवाद प्रगति की दुहाई देता है, वैसे ही प्रयोग को असफल सिद्ध करने के लिए रूढ़िवादी परम्परा की दुहाई देता है और यह भूल जाता है कि प्रयोग की प्रेरणा परम्परा में ही निहित रहती है। यदि कोई परम्परा विकास की अपेक्षा स्थिरता और प्रयोग-हीनता को प्रश्रय देती है तो वह

परम्परा तो नहीं ही हो सकती और चाहे जो हो। वस्तुतः प्रयोग प्रगतिनिष्ठ होने के नाते परम्परा के सशक्त स्वरों को स्वीकार करके नयी संभावनायें अंकित करता है। प्रत्येक प्रयोग कालान्तर में परम्परा बन जाता है; इसलिए जिस परम्परा में आगे प्रयोग करने की प्रेरणा निहित नहीं होती, वह उतनी ही निरर्थक होती है जितना कि वह प्रयोग जो नयी परम्परायें स्थापित करने में असमर्थ होता है। परम्परा हमारा दायित्व है, प्रगति विकास की प्रवृति है और प्रयोग भविष्य की दृष्टि, संभावनाओं तक पहुँचने का माध्यम इतिहास में कोई भी परम्परा चिरस्थायी नहीं रही है,—उसने हमेशा नयी परम्पराओं को प्रेरित किया है। प्रयोग और परम्परा में यही अनिवार्य सम्बन्ध है। आज का प्रयोग आने वाले युग की परम्परा निर्धारित करेगा—ऐसी परम्परा जिसमें ठहराव नहीं होगा, गति होगी, और जिसकी गतिशीलता ही नये प्रयोगों की प्रेरणा देगी।

परम्परा और रीति की रूढ़ि भी प्रयोग के विरोध में प्रस्तुत की जाती है और बहुधा रीतिवादी प्रवृति को परम्परा का नाम देकर लाया जाता है। प्रयोग अथवा नयी काव्य प्रवृत्ति इस रीतिवादी परम्परा को स्वीकार करने में असमर्थ है। काव्य किसी नियमित फारमूला द्वारा नहीं लिखा जाता। काव्यानुभूति में विविधता का एक महत्त्व है, सत्य को अनेक दृष्टियों से देखने की अन्तर्भावना है। यह अन्तर्भावना व्यक्तिगत विवेक द्वारा ही विकसित होती है। जैसे प्रगतिवाद बाह्यारोपित मतवाद के माध्यम से काव्य-गुण को आदेशित नहीं कर सकता, वैसे ही रीतिवादी परम्परा कलाकार की सृजन-शक्ति को किन्हीं विशिष्ट सिद्धांतों में नहीं बांध सकती। जब तक काव्य का सम्बन्ध जीवन और उसकी व्यापकता से रहेगा, तब तक काव्य प्रतिमा इन सीमाओं तक नहीं रह सकती। वह पुरानी सीमाएँ तोड़ेगी, नयी बनायेगी, नयी से भी आगे नयी संभावनाओं की ओर विकसित होगी; क्योंकि मानव प्रज्ञा सतत् नयी अनुभूतियों से अनुप्राणित होती रहती है। जीवन का प्रत्येक क्षण उसे नयी अनुभूति देता है, नयी प्रेरणा-शक्ति देता है, नया स्वर, नये लय और नये प्रतिबिम्ब, प्रतीक, शब्द और रचना-शक्ति का ओज उसमें विकसित होता रहता है; इसलिए प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार इस परम्परा की रूढ़िवादी व्यंजना को कभी ग्रहण ही नहीं कर सकता। वह सदैव नये जीवन-सत्यों की विकसित प्रवृति की ओर उत्सुक होगा।

प्रश्न उठ सकता है : फिर परम्परा और प्रयोग का क्या सम्बन्ध है? किसी भी सृजनात्मक प्रेरणा के लिए परम्परा केवल सुविधा की वस्तु है या इसके अतिरिक्त परम्परा का कोई और भी महत्त्व है? यदि वह केवल कृतिकार की सुविधा की वस्तु है, तब तो परम्परा का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। फिर प्रयोगवादी या नयी कविता का लेखक अपने को परम्परा से कैसे सम्बन्धित कर सकता है?

इसका भी दृष्टिकोण प्रयोग के क्षेत्र में स्पष्ट है। इतिहास का उतना ही अंश परम्परा बन पाता है, जितना जीवन्त होता है और मानव विकास के साथ विकासोन्मुख रहता है। इतिहास में जितना जो कुछ है वह सब का सब परम्परा नहीं बन सकता। सिकन्दर, तैमूर और नादिरशाह इतिहास में परम्पराओं का विकास नहीं करते अथवा स्थायी परम्परायें नहीं स्थापित कर सकते। इतिहास की परम्परा को विकसित करने की शक्ति राम में थी, कृष्ण में थी, बुद्ध और महात्मा गांधी में थी। ये लोग भी इसलिए परम्परायें स्थापित कर सके कि इन्होंने रूढ़ि को तोड़ा, नयी दिशाओं का निर्माण किया और इन सब से बढ़कर वृहत् मानव आस्था की प्रबुद्ध चेतना को इन्होंने व्यापक मानव कल्याण की बात को लेकर प्रेरित किया। इसलिए तुलसीदास से लेकर आज तक के जिन कवियों ने इस व्यापकता का साक्षात्कार किया है, अथवा जिन्होंने मानव संभावनाओं का जितना विवेकपूर्ण अंश विकसित किया है, उनका यह सब आज के प्रयोग को प्रेरणा देने वाली परम्परा है। वैष्णव भक्तों की आत्मचेतना के साथ-साथ सर्व शक्ति की क्रियाशीलता के प्रति जितना आत्मसमर्पण है, वह आज के, कल के, परसों के प्रयोग को प्रेरणा दे सकता है; लेकिन तुलसीदास की चौपाई, सूरदास की गीत-शैली या कबीर की साखी या उल्टवासी के दूहों तक परम्परा को सीमित नहीं किया जा सकता। इसलिए आज की काव्य-निष्ठा मूल मानवीय उद्दात चेतना को परम्परा से ले सकती , उसको आज के यथार्थ के साथ सम्बद्ध भी कर सकती है; लेकिन वह सब-का-सब जो साहित्य के नाम पर हमें मिला है, हमारे प्रयोग को अनुशासित नहीं कर सकता; क्योंकि उसका अधिकांश एक सीमित वृत्त की प्रतिक्रिया मात्र है। उसमें न तो गहराई है, न दृष्टि (vision) की व्यापकता है। अर्थात् उसका जितना अंश मात्र अनुकरण बनकर रह गया है, अथवा जितना केवल रीति से बंध कर विकसित हुआ है, वह देश-काल की व्यापकता के सामने त्याज्य है, गौण है; और उसे आसानी से छोड़ा जा सकता है।

तथाकथित परम्परावादी बहुधा प्रयोग पर यह भी आरोप लगाते हैं कि आधुनिक प्रयोग में कोई दार्शनिक तत्व नहीं है। एक सीमा तक यह आरोप निरर्थक है और कुछ सीमा तक सही है। ग़लत इसलिए है कि काव्य का गुण है कुछ संचित भावों को भावप्रधान रूप में भाव-लय के साथ व्यक्त करना। तुलसीदास या सूरदास की कविता मुख्यतः काव्य है, बाद में वह उनके जीवन-दर्शन का माध्यम। प्रत्येक काव्य-कृति को मुख्यतः काव्य होना चाहिये; और यदि वह मुख्यतः काव्य है तो निश्चय ही कवि का सौन्दर्यबोध, उसका दृष्टिकोण, उसका व्यक्तिगत जीवन-दर्शन भी उसमें होगा ही। आज का यथार्थ किसी यूटोपिया की अपेक्षा नहीं रखता। उसे विशिष्ट मतवादी दार्शनिक प्रचार

की भी आवश्यकता नहीं है। उसके सामने केवल व्यक्ति का जीवन है। उस जीवन में व्यापकता भी आज के काव्य का उतना ही प्रतिपादित विषय है जितना कि इन समस्त विरोधाभासों के बीच पनपती हुई नयी मानव आस्था। यदि आज का कवि अनास्थावादी है और वह अपनी अनास्था को भी सबल ढंग से व्यक्त करता है, तो वह भी दार्शनिक हो सकता है। लेकिन उसका दार्शनिक होना भी काव्यगत प्रक्रिया के बाहर की वस्तु नहीं है। अस्तु, किसी भी काव्य-कृति से दर्शन की अपेक्षा करना उतना ही ग़लत है जितना कि शुक की मधुर वाणी से बाज़ की क्रियाशीलता की अपेक्षा रखना। हो सकता है कि काव्य में वह गंभीर विषय जो दार्शनिक महत्त्व के हैं न हों; लेकिन केवल उसके अभाव में काव्य की परम्परा नष्ट होती है, यह कल्पना ही व्यर्थ है। काव्य की कल्पना तो तब नष्ट होती है जब वह काव्य ही न हो। इस प्रकार भी आज की प्रयोगशील कविता परम्परा की अवहेलना करने के बावजूद भी कविता तो हो ही सकती है।

दर्शन और काव्य में मौलिक अन्तर है। दर्शन वस्तुतः वस्तुवादी व्याख्या का निष्कर्ष है। कविता आत्मपरक अनुभूति की रागात्मक अभिव्यंजना है। जो काव्य-रचना व्याख्यात्मक होगी, उसका काव्य-गुण नष्ट हो जायगा। जिसमें आत्मपरक अनुभूति होगी, वह प्रभावपूर्ण कला बन जावेगी। दर्शन को काव्य में प्रतिपादित करने के लिए प्रयास करना निरर्थक है। जितना दर्शन कवि के व्यक्तित्व से छनकर उसकी कृति में आता है, काव्य में उतना ही ग्राह्य है। यदि ऐसा नहीं होगा तो कविता रीति के युगांत में मर जायगी। न तो उसमें प्रेष-णीयता होगी, न काव्य-विशेषता। वह केवल एक विद्रूप रचना बन कर रह जायगी।

फिर भी प्रश्न यह उठ सकता है कि परम्परा का मानदंड क्या है? वस्तुतः परम्परा का मानदंड मात्र यह है कि वह प्रगति में बाधक न बने, उसकी सहज विकासशील प्रवृत्ति को उतरोत्तर विकसित होने दे। परम्परा में पूर्वाग्रह महत्त्व का नहीं है वरन् परम्परा का उतना ही अंश महत्त्वपूर्ण है जो हमें संस्कार देता है और वह संस्कार भी ऐसा जिसमें उदारता हो, वृहत्ता हो, जो समूचे व्यक्तित्व में उद्दात चेतना समाहित करने के साथ आत्मपरक पृथकत्व को बनाये रखे। बहुधा लोग आज के समूचे साहित्य की नयी प्रवृत्ति को यह कहकर तिरस्कृत करने की चेष्टा करते हैं, कि उसमें पंत, प्रसाद, प्रेमचन्द की परम्परा का निर्वाह नहीं है। समझ में नहीं आता कि इन आचार्यों का मन्तव्य क्या है? पंत, प्रसाद, प्रेमचन्द ने भी रूढ़ियों को तोड़ा था और तब सहसा एक नयी प्रवृत्ति को वे विकसित कर सके थे। यदि ऐसा न होता तो पंत, प्रसाद, महादेवी केवल 'भारत भारती' का नवीन संस्करण लिखते, प्रेमचन्द्र 'चन्द्रकान्ता संतति' की बाईसवीं पीढ़ी की

गाथा लिखते, और देवकी नन्दन खत्री की निर्जीव परम्परा के सिरहाने बैठकर फातहा पढ़ते होते। फिर जब प्रेमचन्द, पंत, निराला, प्रसाद, महादेवी ने अपने पूर्व की परम्परा को छोड़कर नया मार्ग अपनाया तो वह मात्र इसलिए कि उस परम्परा में उस देश-काल के यथार्थ को वहन करने की क्षमता नहीं थी। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त निश्चय ही भारतेन्दु की नाटक-परम्परा को आगे बढ़ाने में समर्थ हुए हैं, कामायनी निश्चित ही 'भारत भारती' 'साकेत' 'प्रियप्रवास' की परम्परा के आगे विकसित प्रवृत्तियों को प्रतिपादित करती है। निश्चय ही इन लेखकों ने, कलाकारों ने, पुरानी परम्पराओं के निर्जीव अंश को तोड़ा है और नयी धारायें विकसित की हैं। ऐसी स्थिति में यदि आज का लेखक या कवि या कलाकार आज के यथार्थ के अनुकूल नये प्रयोग करता है, नयी व्यंजना देता है, तो कहां पर परम्परा को तोड़ता या उसे सशक्त नहीं बनाता है।..........आधुनिक प्रयोग परम्परा को स्वीकार करते हुए उसके निर्जीव अंशों को केवल इसलिए तोड़ता है कि बिना उसके प्रगति असंभव है; और जो परम्परा विकास को अवसर नहीं देती वह परम्परा नहीं, रूढ़ि है।

आज की नयी कविता इन दृष्टियों से कई प्रकार की स्थितियों से गुजर रही है। परम्परा का उचित दायित्व जिस ग्राह्यता से नयी कविता ने स्वीकार किया है उससे कुछ लोगों को अनावश्यक उत्तेजना मिली है और वे इसको ह्रासोन्मुख भी घोषित करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। दूसरे वर्ग के लोग मतों और नयी कविता के उद्धरणों में साम्य स्थापित करना चाहते हैं। तीसरा वर्ग उनका है जो आज का यथार्थ जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करके आज की कविता में दृष्टि का अभाव पाते हैं। पता नहीं ऐसे लोग नयी कविता के प्रयोगों को किस प्रकार देखते हैं। कविता का मतलब है उसकी भाव ग्राह्यता जो कविता में ही व्यक्त होकर दृष्टि प्रदान करती है। दृष्टिप्रधान कविता दृष्टि की सार्थकता इसी सीमा तक स्वीकार कर सकती है। कुछ शाश्वत साहित्य के समर्थक आधुनिक प्रयोगों में शाश्वता की कमी पाते हैं; किन्तु इस दिशा में हमें इतना ही कहना है कि :

हमें किसी कल्पित अजरता का मोह नहीं
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात् कर लें
उसकी विविक्त अद्वितीयता
आप को, किमपि को, क, ख, ग को

अपनी सी पहचनवा सकें—
रसमय करके दिखा सकें—
शाश्वत हमारे लिये वही है
अजर अमर है
वेदितव्य अक्षर है
....
....
एक क्षण : क्षण में प्रवाहमान
व्याप्त सम्पूर्णता।
इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो
पिया था अगस्त ने —अज्ञेय : नयी कविता २

अर्थात्, वे आलोचक जो नयी कविता के प्रयोग को आज के यथार्थ और अनुभूतिक्षण की मार्मिक संवेदना से मुक्त करके देखते हैं वे उस शाश्वत परम्परा की दुहाई देते हैं जिसमें उनकी समस्त रूढ़िवादी मनःस्थितियां प्रश्रय पाती हैं। वे यह नहीं समझते कि शाश्वत यह क्षण भी हो सकता है, यह अनुभूति भी हो सकती है, जिसे हम उस समय उस क्षण से सम्बद्ध होकर भोगते हैं।

नयी कविता का प्रयोग अनास्था से नहीं व्यक्त हुआ है। जो लोग यह समझते हैं कि आज के कवि के व्यक्तित्व में कमी है या अभाव है या उसमें अनुकरण या पारस्परिक होड़ है, उनकी धारणा मिथ्या है। यह कहना भी उतना ही गलत है कि प्रथम सप्तक के प्रयोगों के बाद नयी कविता ने कोई प्रगति नहीं की है। वस्तुतः प्रथम सप्तक के प्रायः सभी कवि संशय, दुविधा, अनास्था और अस्पष्ट, भ्रमपूर्ण मत के कवि हैं। अज्ञेय को छोड़कर प्रथम सप्तक में आज की भांति स्पष्ट कवि शायद ही दूसरा होगा। प्रभाकर माचवे की यह कविता देखिये :

लक्ष्यहीन संदिग्धता का स्वर :

मुझे कौन दे संजीवन दिल का थाला कब से खाली है
शून्य दिशायें आंधी लक्षण, मैं हूं, यह चाय की प्याली है
—माचवे

आतंक खम भय त्रस्त व्यक्तित्व का रूप :

जबकि अन्दर खोखलापन कीट सा
है सतत घर कष्ट रहा आराम से,
क्यों न जीवन का वृहद् अश्वत्थ यह
डर चले तूफान के ही नाम से। —मुक्तिबोध

परम्परा को तोड़ने के पूर्व ही नये पथ के प्रति अविश्वास :

कौन सा पथ है ?
मार्ग में आबुदल अधीरातुर बटोही यों पुकारा
.. ..
अन्तरात्मा अनिश्चय संशय ग्रसित
क्रान्ति गति अनुसरण योग्य है न पद सामर्थ्य है
कौन सा पथ है ? —भारतभूषण अग्रवाल

उपर्युक्त पंक्तियां उस समय के प्रगतिवादी कवियों की हैं जिनमें अविश्वास, पथ की अस्पष्टता, आदि का बड़ा ही सफल और स्वाभाविक चित्रण है। यह अविश्वास उस समय के प्रगतिवादी जीवन का एक अंश था। जो लोग यह कहते हैं कि प्रगतिवाद या प्रथम सप्तक के कवियों में जीवन-दृष्टि और व्यापकता अधिक थी, वे शायद इन कवियों की मार्मिक संवेदना को समझने में असमर्थ रहे हैं। इस के विपरीत दूसरे सप्तक के कवियों में यह संशय, यह संक्रमण और यह अविश्वास इतनी मात्रा में नहीं मिलेगा :

इस पुरानी जिन्दगी की जेल में
जन्म लेता है नया मत
.. ..
जल रही प्राचीनतायें बांध छाती पर मरण का एक क्षण
इस अंधेरे की पुरानी ओढ़नी को ओढ़कर
आ रही ऊपर नये युग की किरण। —हरीनारायण व्यास

मैं, तुम, यह, वह
मन के चारों कोनें
और व्यक्ति की यह सीमायें
कब टूटेंगी ....?
जब तुम होगी मुझ से दूर
यह भी अपना
वह भी अपना
होगा
मैं अपने वश में होऊंगा
तब तथास्तु —रघुवीर सहाय : दूसरा सप्तक

जैसा कि स्पष्ट है दूसरे सप्तक के कवियों में निश्चय ही प्रथम सप्तक के कवियों से अधिक आत्मविश्वास, आस्था और आशा है। ये कवि प्रथम सप्तक के कवियों की भांति पथ के संशय में डूबे नहीं हैं, उन्होंने अपना पथ बना लिया है।

यदि ये चाहेंगे तो उस नये पथ का सशक्त संगठन अवश्य होगा। जहां प्रथम सप्तक के कवियों की भाषा, भावभूमि, उनके विकास के प्रति आस्था विकसित कर रही है, वहीं प्रथम सप्तक के कवियों में वह सन्देह से विकसित होकर छायावादी परम्परा के प्रति जो रीति बनकर रूढ़ि बन रही थी विद्रोह भी था। प्रथम सप्तक के कवियों में यह सन्देह और भ्रम होना स्वाभाविक था; क्योंकि जब कभी भी किसी प्रतिष्ठित परम्परा के प्रति विद्रोह का कदम उठाया जाता है तो उसके पूर्व तर्कों में संदिग्धता और सन्देह ही वह वस्तु होती है जो परम्परा की रूढ़िगत रीति वाली प्रवृत्ति के विरोध में खड़े होने का साहस प्रदान करती है। प्रयोग की दृष्टि से प्रथम सप्तक का महत्व है उसकी सहानुभूतिपूर्ण वेदना जो नये यथार्थ के प्रति है; लेकिन उसमें वह दोष भी है जो किसी भी नयी प्रवृत्ति के प्रेरकों में होता है। छायावाद की मिथ्या उदात्त भावना को पहले सप्तक ने मध्यम वर्ग के जीवन से सम्बद्ध करके उस नये यथार्थ को स्वीकृति देने का प्रयास किया है जो आज की नयी कविता में अधिक आयामों के साथ विकसित हो सका है।

लेकिन परम्परा की मूल स्थापना में कोई दोष नहीं होता। जब वह रूढ़ि बन जाती है, तभी उसमें दोष आता है। प्रगति की मूल मानव भावना से प्रेरित होकर जब इस रूढ़िवादी परम्परा के समर्थन में प्रयोग होते हैं जब उसकी प्रतिक्रिया में तथाकथित प्रगतिवाद भी अपना स्वर बेढंगे तरीके से मिलाने लगता है। अज्ञेय की प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' एक सशक्त चिरंतन सत्य की सापेक्षता को स्वीकार करता हुआ व्यक्ति की अहम्‌निष्ठा को प्रतिष्ठित करती है। उसके स्वर में, परिवर्त्तन के प्रवाह में लीन होकर, उसे स्वीकार करके फिर उस व्यक्ति-निष्ठा को नये ढंग से विकसित करने की बात 'नदी के द्वीप' के माध्यम से कही गई है। लेकिन भारतभूषण अग्रवाल की कविता "हम नहीं हैं नदी के द्वीप" महज प्रतिक्रियात्मक भावना के कारण काव्यबोध की अपेक्षा विक्षिप्तता में बदल गई है। अज्ञेय व्यक्ति-निष्ठा को इतना व्यापक अर्थ देते हैं कि

> द्वीप हैं हम
> यह नदी है शाप
> यह अपनी नियति है
> हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में
> वह वृहद् भूखंड से हम को मिलाती है
> और वह भूखंड अपना पिता है
> .. ..
> तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे
> यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कर्णनाशा

घोर काल प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर फिर छनेंगे हम।
जायेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार
मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना।

यह नया प्रयोग है। व्यक्ति की मूल मर्यादा के प्रति कवि की सहज और स्वाभाविक आस्था है। इसमें कुंठा नहीं है। वेग, प्रवाह, स्रोतस्वनी के प्रति आत्मसमपर्ण करते हुए भी व्यक्ति-मर्यादा और उसके अस्तित्व के प्रति विश्वासित स्वर है। परम्परा, प्रगति और प्रयोग की तीनों स्थितियां इसमें स्पष्ट हैं, लेकिन इसी की प्रतिक्रिया भारतभूषण अग्रवाल की कविता में इस प्रकार व्यक्त होती है :

हम सरोवर हैं
नहीं हैं धार
अब नहीं हम में तरंगित गान
और बन्धन की व्यथा में खो गया अभिमान
विवश हम अब बह नहीं सकते
और अपनी ओर अपने आप में ही बन्द
अपनी बात आपस में किसी से कह नहीं सकते
.. ..
तुम अगर हो द्वीप
रूखी रेत के बेडौल कीड़े
तो भले ही तुम रहो ऊंचे महान
पर यह न सोचो
धार की हर लहर जो आती हमारे पास
ठोकती है हमारी पीठ. . . . .

जो भी काव्य-कृति मात्र प्रतिक्रिया में लिखी जायगी उसमें यह दोष रहेगा ही। न तो वह परम्परा के औचित्य को निभा सकती है और न ही उसमें प्रगति के तत्त्व आ सकते हैं, और जब उन दोनों के प्रति उचित दृष्टिकोण भी विकसित नहीं हो सकेगा तो प्रयोग की स्वच्छता भी उस रचना में नहीं रहेगी। यदि यह कहा जाय कि नदी के द्वीप की रेत स्वच्छ, पवित्र रेत का विकसित रूप है और सरोवर नदी के छोड़े हुए जल की सड़ांध है तो द्वीप और सरोवर की स्वाभाविकता और प्रतिक्रियावादिता की परख स्पष्ट हो जायगी। परम्परा के दायित्व को न तो आज का प्रगतिवाद ही निभा सकता है और न प्रयोग; क्योंकि वह मात्र प्रतिक्रिया से विकसित होकर कुंठाओं में डूब जाता है।

किसी अन्य स्थान पर पहले सप्तक के एक प्रतिष्ठित कवि ने नयी कविता की आलोचना करते हुए यह लिखा है कि उसमें सप्तक के बाद कोई विकास नहीं हो सका है। पता नहीं यह बात कैसे कही गई है, क्योंकि पहले सप्तक के बाद दूसरे सप्तक में बात अधिक स्पष्ट रूप से कही गई है, और दूसरे सप्तक से भी अधिक स्पष्ट स्वरों में नयी कविता में व्यक्त हुई है। प्रयोग में जीवन का कटु सत्य भी अंकित होता है—उससे मुंह बिचका कर छुट्टी नहीं ली जा सकती। आज का नया कवि जितने अधिक तीखे स्वर में स्पष्ट बातें करता है शायद इतना स्पष्ट स्वर किसी का नहीं रहा है :

कहने को बहुत कुछ है
कहते नहीं बनता,
वाणी की तपस्या
दर्द की ताड़का से हार गयी !
(राम ! ईश्वर, अजन्मा.. हे राम !
लगता है, कहीं कोई ठौर नहीं..
आज का मनुष्य,
गर्भ से धक्के देकर निकाला हुआ
ऋषि पुत्र !

—राजेन्द्रकिशोर : नयी कविता २

इसी प्रकार उस प्रचारवादी प्रगतिवाद की अपेक्षा मूल मानव भावना के प्रति आज के कवि की आस्था अधिक तीव्र है। इस समूहवादी जीवन में विकल व्यक्ति जीवन का दुख, उसकी विषमता इससे अधिक स्पष्ट स्वरों में न तो पहले सप्तक ने कही है और न ही इसकी कल्पना छायावादी कवि द्वारा हो पाई है। आज की नयी कविता परम्परा की रूढ़ियों के प्रति अपना यह विश्वास रखती है :

ओ महा प्रलय के बाद नये उगे शिखरो,
है तुम्हें कसम इन ध्वस्त विन्ध्य मालाओं की,
मत शीश झुकाना तुम अपना।
आ सूर्य तुम्हारा तेजस्वी यह भाल देख
कितने अगसत्य आयेंगे गुरु का वेश धरे ,
आशीष वचन कहने वाले
चिर विनत तुम्हारा मस्तक यों ही झुका छोड़
थे गुरु पर वापस नहीं लौट कर आयेंगे।

—साही : युग चेतना

[९]

प्रकृति और विकृति अभिरुचि का प्रश्न

किसी भी कलाकृति के विषय में प्रकृति या विकृति का आरोप या प्रशस्ति-गायन जितना सरल लगता उतना होता नहीं। प्रकृति और विकृति के विवेक को ग्रहण करने के पूर्व सौन्दर्यबोध के स्तरों और मनोवैज्ञानिक तथ्यों की वैज्ञानिकता को जानना नितान्त आवश्यक है। प्रवृत्ति-विशेष कभी भी किसी बनावटी कारणों से नहीं विकसित होती। उसकी पृष्ठभूमि में काफी गहरे कारण होते हैं और उन कारणों को जान कर ही यह कहा जा सकता है कि अमुक प्रवृत्ति में किस सीमा तक प्रकृति अथवा विकृति है। निरपेक्ष रूप से न तो किसी प्रकृति का प्रतिमान बनाया जा सकता है और न विकृति का। यथार्थ के बदलते स्तरों के साथ एवम् जीवन के बदलते संदर्भों के साथ ही किसी प्रकृति विशेष का वास्तविक मूल्यांकन किया जा सकता है। जब हम यह मान लेते हैं कि परिप्रेक्ष्य यथार्थ, सौन्दर्यबोध और जीवन की क्रमिक शृंखला एक दूसरे से अलग करके नहीं देखी जा सकती, तो इस के साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्यबोध के प्रतिमान या उनके मानदण्ड भी निरपेक्ष और शाश्वत नहीं रह सकते। जीवन के विकास के साथ-साथ इन में भी परिवर्त्तन आता है, अनुभूति के माध्यम, केन्द्र-सूत्र, और स्तरों के भी नये आधार बनते रहते हैं। इन स्तरों को जाने बिना न तो कला का वास्तविक बोध हो सकता है और न वह दृष्टि ही मिल सकती है जिस के आधार पर हम प्रकृति-

विकृति का निर्णय करने में समर्थ हो सकते हैं। यही कारण है कि किसी भी कला-कृति का प्रकृति अथवा विकृति की दृष्टि से मूल्यांकन करना उतना सरल नहीं है जितना कि प्रायः समझा जाता है।

नयी कविता के सम्बन्ध में सब से बड़ा आरोप यह लगाया जाता है कि उसमें विकृतियां अधिक हैं। यदि यह कथन जैसे-का-तैसा मान लिया जाय तो दूसरा प्रश्न उठता है कि यदि विकृति यह है तो प्रकृति क्या है? शायद इसका उत्तर देना उन लोगों के लिए कठिन होगा जो अपनी सारी शक्ति नयी प्रकृति की कुशल संभावनाओं पर केन्द्रित न करके उसकी विकृतियों पर अधिक बल देते हैं। विकृतियां यदि प्रकृति के अभाव में उत्पन्न होती हैं तो भी यह कहना सरल नहीं है कि जो सर्वमान्य रूप से प्रकृति है वह सुन्दर ही है। जिसे प्रकृति माना जाता है वह भी असुन्दर हो सकता है, और तब असुन्दर विकृति से कितना पृथक् है—शायद इस पर विचार करने में प्रकृति के समर्थक अवश्य संकोच करेंगे।

अस्तु प्रश्न है, प्रकृति क्या है उसके प्रतिमान कैसे आधारित होते हैं? विकृति क्या है और उसके प्रतिमान कैसे निर्धारित किये जायें? विकृति और असुन्दर दोनों में अन्तर है या नहीं?

कहा जाता है कि प्रकृति के अभाव में रचना-प्रक्रिया या तो अनुकृति-प्रधान होती है या विक्षिप्त मानसिक रुग्णता का परिचय देती है। इसीलिए प्रकृति क्या है और इसके प्रतिमान कैसे आधारित होते हैं उसके लिए परम्परा का अध्ययन आवश्यक हो जाता है; क्योंकि बिना परम्परा का अध्ययन किये प्रकृति के स्थापित प्रतिमानों की रूढ़ि में निहित असंस्कारी या निर्जीव तत्त्वों का ज्ञान नहीं हो पायेगा। और जब तक परम्परा के इन पक्षों का ज्ञान नहीं होगा तब तक भाववृत्ति में और विकृति में विवेकगत दृष्टि नहीं प्राप्त हो सकेगी। साथ ही यह भी स्पष्ट नहीं हो पायेगा कि प्रकृति स्थिर (static) है अथवा वह भी किन्हीं तत्त्वों क आधार पर अपने प्रतिमानों को बदलती और विकसित करती है।

इन प्रश्नों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति मात्र सहजता से अनुभव की हुई वस्तु नहीं है। वह परम्परा की रूढ़ि में शृंखलाबद्ध अमर्यादित सत्ता भी नहीं है। वह मात्र स्वच्छन्दता भी नहीं है; क्योंकि यदि प्रकृति के प्रतिमान स्थिर हैं और वे यथार्थ और जीवन के संदर्भों के साथ बदलते नहीं हैं तो फिर समूची स्वच्छन्दता ही अनगढ़, भोंडी और विकृत लगने लगेगी। किन्तु परम्परा की दुहाई देकर रूढ़िगत शृंखला से जुड़ जाना भी प्रकृति नहीं है; क्योंकि प्रत्येक नयी प्रवृति शृंखला को तोड़ कर आगे बढ़ती है और तोड़ती भी इसलिए है कि स्थापित सीमाओं के अतिरिक्त देखने की बहुत बड़ी क्षमता लेकर वह जन्मती है और विकसित होती है। प्रत्येक अंकुर अपरिमित संभावनाओं का संसार लेकर

फूटता है। अंकुर का फूटना स्वयम् ही बहुत बड़ा सौन्दर्य है—ठीक उसी प्रकार बीज का सड़ जाना, नष्ट हो जाना और अपने विनाश में अकुंर को विकसित होने की संभावनायें देना सौन्दर्य का क्रान्तिकारी रूप है। सुन्दर दोनों ही हैं। फिर विकृति क्या है ? नाश क्या है ? दोनों ही तो महान् गतिशील (dynamic) सौन्दर्य के भागी हैं। वे जो अंकुर का फूटना विकृति मानते हैं, वे उतने ही बड़े अज्ञान का परिचय देते हैं जितने वे जो बीज के विनाश में जीवन का विकास न देख कर विनाश की छाया देखते हैं। किन्तु सम्पूर्ण प्रकृति और सौन्दर्य का बोध तभी होगा जब बीज के सड़ने से अंकुर के फूटने तक को एक गतिशील सौन्दर्य से देखा जायगा। यह सापेक्ष दृष्टि ही सौन्दर्य का प्रतिमान, प्रकृति का प्रतिमान प्रस्तुत कर सकती है। बिना इस सापेक्षता के न तो सौन्दर्य की दृष्टि मिल सकती है और न प्रकृति का वास्तविक मान-चित्र। वह परम्परा जो अपनी अवधि तक जी चुकती है और जी लेने के बाद लक्ष्यहीन होकर दूसरी संभावनाओं को विकसित होने की प्रेरणा देती है वह प्रकृति को स्थिति प्रदान करती है। उसे परिष्कृत करके जीवन और दृष्टि को विकासशील बनाती है।

किन्तु नयी कविता के आलोचक प्रायः विकृति के संदर्भ में बात करते हैं। यदि नयी कविता में उन तत्त्वों के प्रति जो सड़ रहे हैं, जो स्वयम् गल चुके हैं अथवा जो इतना जी चुके हैं कि अब उनमें शेष जीवन नहीं है—उदार दृष्टि होते हुए मोह नहीं है, तो यह प्रकृति विकृति कैसे कही जा सकती है ? जहाँ तक नयी कविता की विवेचना का प्रश्न है, अथवा उसके विचार-पक्ष की स्थापना का प्रश्न है, उसमें यह निहित है कि प्रकृति अथवा विकृति की सम्पूर्ण धारणा इस से नहीं बनती कि पूर्वाग्रह अथवा परम्परा की दुहाई देकर उसके जीवन्त तत्त्वों की अवेहलना की जाय। नयी कविता परम्परा के उन तत्त्वों की विवेचना इसलिए करती है या इन से विद्रोह इसलिए करती है कि साहित्य और आलोचना के मानदंडों में उन निर्जीव तत्त्वों पर बल देकर नयी कविता की निन्दा की जाती है, उसकी उपेक्षा की जाती है। वस्तुतः विकृति उन विवेचनाओं में नहीं है जो नयी कविता प्रस्तुत करती है, वरन् विकृतियाँ उस दृष्टि में हैं जो इन रूढ़ियों के आगे नयी संभावनाओं की अवहेलना करती हैं।

प्रकृति के इसीलिए दो रूप हैं—प्रथम तो वह जो निर्जीव तत्त्वों को नष्ट करके उनकी विकृतियों से बचने की प्रेरणा देता है, दूसरा वह है जो नये आयामों और नये भावक्षेत्रों का अन्वेषण करके उनकी मर्यादाओं को प्रतिष्ठित एवम् परिष्कृत करता है। प्रकृति अपने संदर्भ में कोई निरपेक्ष ईश्वर-प्रदत्त दृष्टि नहीं है; वह सामाजिक यथार्थ की स्वीकृति से पनपी हुई चेतना है जो अनुभूतियों की देश-काल सम्बन्धी अनिवार्यताओं से प्रशासित होती है। प्रकृति अपने मूल गुण में

अनुभूतियों की जागरूकता है, अभिव्यक्ति म वह प्रयोग है, और प्रकृति में वह दृष्टि की अनिवार्यता है। परिष्कृति अपने में प्रकृतिगुण-सम्पन्न होती है, इसीलिए वह विकृति और प्रकृति दोनों को प्रशासित करती है!

प्रकृति का मानदण्ड इसीलिए एकांगी होकर निर्धारित नहीं किया जा सकता। साथ ही उसकी दृष्टि किसी समन्वय द्वारा प्रभावित नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रकृति के मूल में परिष्कृत करने की अटूट आस्था होती है। प्रकृति की भावस्थिति में यह निहित है कि अविकसित भावनाओं को एक स्वस्थ रूप दिया जाय। जो केवल स्थिर प्रकृति के समर्थक हैं वे भावना को कोई महत्त्व नहीं देते वे शास्त्रोचित मानदण्डों से प्रकृति का रूप निर्धारित करना चाहते हैं। किन्तु गतिशील मान-दण्डों के साथ यह निश्चय है कि स्थिर मानदण्डों का उतना महत्त्व नहीं है। जिसे हम स्वस्थ रूप कहते हैं वह कलाकार की आत्मानुभूति द्वारा उपजी दृष्टि है। इसके अतिरिक्त स्वस्थ का प्रतिमान दूसरा कोई हो ही नहीं सकता, क्योंकि अन्य दृष्टियों से प्रकृति की यह समस्या अनुभूति से मर्यादित न होकर शास्त्रों से मर्यादित होती है।

इस संदर्भ में अभिरुचि का बड़ा महत्त्वपूर्ण योग है। परिष्कृति अभिरुचि के साथ सम्बद्ध है। अभिरुचि मानव विकास के साथ दृष्टि-विकास का प्रतीक है। प्रकृति इस परिष्कृति और अभिरुचि द्वारा ही मर्यादित होती है। अभिरुचि के बिना किसी कला की अभिव्यवित नहीं हो सकती। वस्तुतः किसी भी नयी प्रकृति क साथ नयी अभिरुचि का योग रहता है। जब हम परम्परागत रूप, शिल्प, सज्जा एवम् पूर्वाग्रहों (platitudes) से इतने परिचित हो जाते हैं कि उनका साधा-रणीकरण अथवा उनकी अविधात्मक शैली भावबोध को स्थिर बना देती है, तो अनुभूति और अभिव्यक्ति के स्तरों में एक प्रकार का स्वाभाविक विद्रोह होता है। यह विद्रोह जहाँ यह स्थापित करता है कि हमें नये माध्यमों द्वारा अनुभूतियों को अभिव्यक्त करना है वहीं यह भी सिद्ध करता है कि हमें अपनी अनुभूतियों के स्तर में कुछ ऐसी पृष्ठभूमि मिल रही है जो केवल नयी नहीं है वरन् नयी होने के साथ-साथ अधिक गतिशील है। अभिरुचि इसी गतिशील पृष्ठभूमि का ही प्रारूप है जो हमें रूढ़ियों से पृथक् करती है, संगति का औचित्य निर्धारित करती है, असंगतियों को छोड़ने की प्रेरणा देती है। आस्था, विवेक और सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति अभिरुचियों में विकसित नये तत्त्वों द्वारा परिष्कृत होती है। जब हम समस्त भाव-बोध को एक गतिशील घात-प्रतिघातों की श्रृंखला से विकसित होता हुआ मान लेते हैं तो अभिरुचि की महत्त्वपूर्ण धारणा-शक्ति को भी हम स्वीकार कर लेते हैं। यही कारण है कि प्रकृति और विकृति पर विचार करने के साथ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि हमारी दृष्टि अभिरुचि को किस सीमा तक समझ पाती है, अथवा

नयी कविता के जीवन्त तत्त्वों को हमारी दृष्टि और हमारा भावबोध किस सीमा तक स्वीकार कर पाता है। बिना अभिरुचि के नये संदर्भों को जाने-समझे प्रकृति-विकृति की समस्या को किसी निरपेक्ष प्रतिमान द्वारा नहीं आंका जा सकता।

मानसिक स्तर पर अभिरुचि का सम्बन्ध हमारी मनोवैज्ञानिक धारणा-शक्ति एवम् संकलन शक्ति (choice) पर आधारित है। इसके साथ ही अभिरुचि का बहुत बड़ा अंश स्वयम् आत्मविकास एवम् व्यक्तिविकास का आश्रित होता है। यह बात कवि के व्यक्तित्व की समग्रता पर निर्भर है कि वह अपनी अभिरुचि को कितना व्यापक अथवा कितना संकीर्ण बनाता है। उसका व्यक्तित्व जितना ही व्यापक और परिपक्व होगा उसकी अभिरुचि उतनी ही अधिक तीव्र होगी। किन्तु,यदि व्यक्तित्व की ऊँचाई उतनी अधिक न भी हो तो भी अभिरुचि के माध्यम से कोई भी कवि एक विशिष्ट अनुभूति की गहराई से वह ऐसी अभिव्यक्ति दे सकता है जो भाव-उत्तेजक होने के साथ-साथ महत्त्वपूर्ण भी हो। प्रकृति अथवा विकृति का निर्णय करने के पूर्व हमें इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को मान लेना आवश्यक है कि अभिरुचि को कोई भी किसी भी सीमा पर पूर्वनिर्धारित नहीं कर सकता। प्रत्येक रचना में व्यक्त अभिरुचि ही इसका निर्णय दे सकती है कि कोई भी रचना किस सीमा तक अभिरुचि में प्रकृति है और कहाँ अथवा किस सीमा पर वह मात्र पूर्वाग्रह बन कर रह गई है। जब तक प्रकृति और विकृति के निर्णय में अभिरुचि के महत्त्व को नहीं समझा जायगा तब तक उसके साथ न्याय नहीं हो पायगा।

इतर क्षेत्रों में व्यक्ति-अभिरुचि का कोई महत्त्व भले ही न हो किन्तु जहाँ तक कला और साहित्य का प्रश्न है वह बिना व्यक्ति-अभिरुचि को स्वीकार किये संभव नहीं है। कलाकार कला का माध्यम भी है और उसकी उपलब्धि को वहन करने वाला भी। वह संवेदनाओं को ग्रहण भी करता है और उनकी प्रतिक्रियाओं को स्वयम् अंकित भी करता ह, प्रवाह का अंश भी है और उसमें बहने, रुकने, थमने और अभिभूत होने का माध्यम भी है; इसलिए उसका व्यक्तित्व, उसकी अभिरुचि और उसकी स्वानुभूति इन सब का एक विशेष महत्त्व है। अभिरुचि को इसीलिए व्यक्त्यानुभूति से सम्बद्ध रहना अनिवार्य है। व्यक्तित्व के सम्पूर्ण तत्वों के संदर्भ में अभिरुचि का विकास होता है। व्यक्तित्वहीन अभिरुचि का इसीलिए कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। उस महत्त्व को स्थापित करने के लिए व्यक्ति का योग किन्हीं अंशों तक समाज से बड़ा होता है। व्यक्ति यथार्थ का अर्थात् जीवन का साक्षात्कार करता है और इस साक्ष्य में वह जिन अनुभवों का साहचर्य प्राप्त करता है, वे उसकी अभिरुचि में योग देते हैं; इसलिए अभिरुचि का सम्बन्ध उसकी आत्मउपलब्धि से है।

अभिरुचि कोई बाह्यारोपित अनुकृति के रूप में नहीं पनप सकती। उसका

स्वत: एक विशिष्ट स्थान है, जो कलाकार के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सम्मुख संकलन-शक्ति (choice) की प्रकृति को प्रोत्साहित करती है। यह स्वारोपित भी नहीं होती; वरन् इसके विपरीत यह एक आत्मशक्ति है जो इसके लिए बाध्य करती है कि कलाकार स्वत: अपनी चेतन-शक्ति को गतिमान बनाये; इसीलिए उसके व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ अभिरुचि का भी विकास होता है। परिपक्वता (maturity) का प्रश्न प्रस्तुत करने वाले यह भूल जाते हैं कि अभिरुचि से पृथक् परिपक्वता के विषय का समर्थन केवल रूढ़ि बन कर रह जाता है। अभिरुचि की विभिन्नता परिपक्वता को अधिक समृद्ध बनाती चलती है और अपने क्रमिक विकास के साथ-साथ वह परिपक्व होती चलती है। यदि यह नहीं माना जायगा तो फिर सारी की सारी रचना-प्रक्रिया में पुनरावृत्ति के सिवा और कुछ नहीं होगा। परिपक्वता जहाँ विचारों की प्रौढ़ता पर बल देती है, वहाँ वह बहुत से ऐसे तत्त्वों को छोड़ने का प्रयास भी करती है जिन्हें मात्र अधकचरा कह कर नहीं टाला जा सकता। अभिरुचि में इस अधकचरे तत्त्व का भी एक महत्त्व है; क्योंकि यह अधकचरापन यदि नयी अभिव्यक्ति के साथ है तो निश्चय ही इसके द्वारा कुछ नयी अनुभूतियों का अवतरण होता है और यह अवतरण भी नयी अभिरुचि का एक महत्त्वपूर्ण अंश हो सकता है।

क्लैसिक्स के जहाँ काफ़ी अच्छे प्रभाव होते हैं वहाँ उनमें यह एक दोष भी होता है कि वह किसी नयी परिधि के अन्वेषित होने में बाधक होते हैं। उनका प्रतिमान इतना निश्चित होता है कि उसके समक्ष कोई भी स्वतंत्र अनुभूति अथवा उनसे पृथक् उपलब्धि का महत्त्व ही गौण समझा जाने लगता है। ठीक यही बात प्रौढ़ता के नारे में भी है। प्रौढ़ता किसी भी कला के लिए आवश्यक है; किन्तु प्रौढ़ता का एक रूप प्रस्तुत करके शेष उसकी अनुकृति द्वारा ही विकसित हो, यह आग्रह अवैज्ञानिक और दोषपूर्ण होता है। इस प्रकार प्रौढ़ता के अर्थ और उसके परिवेश को सही रूप में समझे बिना किसी भी कृति को ग़लत नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक प्रौढ़ता का अर्थ और संदर्भ है यह कहना अनुचित न होगा कि प्रौढ़ता विकास की प्रवृति में अधिक है, परम्परा की रूढ़ि में कम। यही कारण है कि प्रौढ़ता की संभावना को बांधा नहीं जा सकता और न ही उसका अन्तिम रूप निर्धारित किया जा सकता है; क्योंकि अभिरुचि के विकास के साथ प्रौढ़ता के मानदण्ड भी बदलेंगे और उनका भी विकास होगा। आज की बौद्धिक एवम् वैज्ञानिक दृष्टि के समक्ष किसी भी स्थिरता को प्रौढ़ता नहीं कहा जा सकता। परिपक्वता और प्रौढ़ता के साथ गतिशील मानव चेतना की संभावना का सम्बन्ध होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

संस्कृति अभिरुचि को परिष्कृत करने में उसी सीमा तक सहायक होती है,

जिस सीमा तक वह उस विकासशीलता के साथ चल पाती है। यदि उसमें रूढ़ियाँ अधिक आग्रहपूर्ण होती है तो वे अभिरुचि को कुत्सित एवम् पंगु बना देती हैं। संस्कृति की सद्वृत्ति इसी में व्यक्त होती है कि वह नयी अभिरुचि के जीवन्त तत्त्वों को विकसित करने में सहायक हो। दुर्भाग्य की बात यह है कि आज की साहित्यिक दृष्टि में गण्यमान्य कुछ लोग ऐसे भी हैं जो संस्कृति को एक प्रमुख स्थान देने के नाते उसमें से इसके गतिशील तत्त्वों को निकाल फेंकते हैं। ऐसी स्थिति में संस्कृति का रूढ़ि रूप ही सामने प्रस्तुत होता है, और इस रूढ़ि रूप में किसी भी नयी अभिरुचि को संवरण करने की शक्ति तो होती नहीं, इसलिए वह किसी भी नयी अभिरुचि के प्रति सहानुभूति नहीं रख पाती। सहानुभूत्यात्मक दृष्टि न होने के कारण नयी अभिरुचि के प्रति समुचित दृष्टि विकसित नहीं हो पाती। इसीलिए प्रकृति और संस्कृति को किसी भी अर्थ में परस्पर विरोधी नहीं होना चाहिए; क्योंकि प्रकृति के साथ-साथ संस्कृति का भी विकास होता है। संस्कृति का विरोध करने से प्रकृति का मूल रूप तो विकृत होता ही है, साथ ही संस्कृति भी अपनी उदार गतिशीलता खो देती है।

संस्कृति और प्रौढ़ता को एक नाम से सम्बोधित करने की भी प्रवृत्ति अधिक पाई जाती है। संस्कृति के साथ प्रौढ़ता उसका एक गुण है; किन्तु न तो संस्कृति और न प्रौढ़ता—दो में से कोई भी—नयी अभिरुचि का तिरस्कार नहीं कर सकती। प्रौढ़ता अभिरुचि के विकास के साथ विकसित होती है। वह कोई अन्तिम सत्य नहीं है और न उसकी सीमायें संकीर्ण हैं। नयी अभिरुचि के साथ प्रत्येक प्रौढ़ता के आयाम विकसित होते हैं, अनुभव के क्षेत्र मिलते हैं, दृष्टि की व्यापकता बढ़ती है। जो इस सत्य को स्वीकार नहीं करते, वे प्रकृति और संस्कृति दोनों के प्रति वास्तविक दृष्टि विकसित नहीं कर पाते। संस्कृति और प्रकृति को पर्यायवाची मानना या दोनों के गुणों को एक समझना विकास की संभावना को नष्ट करना है।

इस संदर्भ में यह भी स्पष्ट कर देना उचित ही होगा कि प्रकृति को लेकर या उसके नाम पर कुछ लोग सहजता को भी प्रकृति कहने की चेष्टा करते हैं। किन्तु प्रकृति और सहजता में थोड़ा नहीं, बहुत अंतर है। सहज न होते हुए भी कोई रचना प्रकृति-गुण स सम्पन्न हो सकती है। सहजता मूलत: प्रेषणीयता से सम्बन्ध रखने वाली होती है; प्रेषणीय होते हुए भी जैसे सहजता के आयाम विस्तृत हो सकते हैं, उसी प्रकार प्रकृति होते हुए भी कोई कृति एकदम सहज नहीं हो सकती। सहजता और प्रकृति के साथ हमें उन तत्त्वों पर विचार करना होगा जो

किसी भी कृति को मूल्यवान् बनाते हैं। अनुभूतियों के स्तर पर कोई भी उपलब्धि अपने आप सरल नहीं होती। हो सकता है कि उसकी प्रकृति ही जटिल हो क्योंकि अनुभूतियाँ बहुधा इतनी सहज नहीं होतीं जितना हम देखते या समझते हैं। इसलिए केवल सहजता का मानदण्ड लेकर प्रकृति को निर्धारित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः मूल वस्तु अनुभूति है। अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रकृति-गुण-सम्पन्न होनी ही चाहिए। फिर सहजता और प्रकृति का वह सम्बन्ध नहीं रह जाता जो प्रायः प्रस्तुत किया जाता है। अनुभूति की महत्ता स्वीकार कर लेने के बाद प्रकृति का गुण स्वयम् निर्धारित हो जाता है।

प्रकृति के साथ-साथ परिष्कृति का भी गुण बदलता है। भाव और अनुभूति के स्तर पर बहुत से अनावश्यक या अपरिष्कृत तत्त्वों का भी महत्त्व होता है; क्योंकि सम्पूर्ण भावबोध उन्हीं अनावश्यक या अपरिष्कृत तत्त्वों के साथ ही आवश्यक और परिष्कृत की मर्यादा को ग्रहण करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तथाकथित अनावश्यक और अपरिष्कृत तत्त्वों का भी बड़ा महत्त्व है। यदि वे न हों तो प्रकृति-परिष्कृति का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में अनुभूतियों के साथ जो कुछ भी अनावश्यक और अपरिष्कृत है, वह ही प्रकृति के रूप को गति देता है; क्योंकि बिना उनके अस्तित्व के प्रकृति का बोध ही नहीं होता। अनुभूतियों का उद्वेग अथवा उनका प्रवाह सदैव अपने अन्दर अनेक तत्त्वों को लेकर प्रसारित होता है। एक ही केन्द्र से विस्तृत इन छोटी-छोटी भाव-लहरियों से ही एक नयी अनुभूति, उदात्त और व्यापक अनुभूति, सम्पर्क, संसर्ग, एवम् अनेक दूसरे स्तरों से हमारे भावस्तर को छूती है, उसे गति देती है और संकलन-संचयन की क्षमता देती है। प्रकृति का रूप यदि इन अनुभूति-स्तरों से पृथक् होगा अथवा यदि वह इन स्तरों के महत्त्व को नहीं स्वीकार करेगा तो स्वयं कुत्सित एवम् अपूर्ण होगा।

इस प्रकार प्रकृति की समस्या को जब तक इस दृष्टि से नहीं देखा जायगा, तब तक उस की मूल शक्ति का मूल्यांकन नहीं हो पायेगा। अस्तु, प्रकृति का प्रतिमान निर्धारित करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रकृति के साथ नयी अभिरुचि का एक विशेष महत्त्व है। इस अभिरुचि और परिष्कृति दोनों का समुचित योग ही प्रकृति का मानदण्ड हो सकता है। न तो मात्र अभिरुचि किसी कलाकृति को प्रकृति का रूप दे सकती है और न मात्र परिष्कृति का आधार लेकर किसी नयी अभिरुचि की अभिव्यक्ति पर कोई अंतिम निर्णय दिया जा सकता है। प्रकृति के साथ इसीलिए अभिरुचि और परिष्कृति दोनों का महत्त्व है। अस्तु,

● प्रकृति का सर्वप्रथम रूप इस से नहीं आधारित होता कि जो कुछ भी

कहा जाय वह एक विशिष्ट मान्य शिल्प-विधि या काव्य-विधि के अनुरूप ही हो। अनुरूपता की अपेक्षा अभिरुचि के द्वारा ही प्रकृति की स्थापना हो सकती है। यदि अभिरुचि को स्वीकार नहीं किया जाता तो प्रकृति के सुन्दर और नये परिप्रेक्ष्य का आधार विकसित नहीं हो पायेगा।

● प्रकृति का दूसरा गुण परिष्कृति में है; किन्तु यह परिष्कृति कोई अन्तिम वस्तु नहीं है। अभिरुचि के विकास के साथ-साथ परिष्कृति की भी सीमायें और उसका विस्तार निर्धारित होता है। मुख्य वस्तु अभिरुचि और अनुभूति है जो प्रकृति के प्रतिमान को आधारित करती है। परिष्कृति अभिरुचि के माध्यम से ही संभव है। बिना अभिरुचि के कोई भी प्रकृति परिष्कृति-सम्पन्न नहीं हो सकती।

● प्रकृति अनुभूति से बड़ी वस्तु नहीं है। अनुभूति की ईमानदारी और उसकी अभिव्यक्ति ही प्रकृति हो सकती है। प्रकृति की मर्यादा अनुभूति द्वारा स्थापित होती है न कि परम्परा के पूर्वाग्रह द्वारा। रीति प्रकृति नहीं है; क्योंकि रीति में अनुकृति अधिक है, प्रयोग या गति कम। प्रकृति गति विशेष है इसलिए प्रकृति के साथ अनुभूति की गति का सम्बन्ध है, न कि परम्परा या नीति का।

● प्रकृति का गुण केवल सहज नहीं है। उसका प्रतिमान है उपलब्धि की गहराई। स्वाभाविकता और सहजता—ये दोनों स्वतंत्र रूप से निर्धारित नहीं की जा सकतीं; क्योंकि इन के साथ अभिरुचि का महत्त्व है। अभिरुचि के संदर्भ में सहजता और स्वाभाविकता का उपयोग हो सकता है। बिना अभिरुचि के प्रति ज्ञान हुए कोई भी स्वाभाविक और सहज अभिव्यक्ति जटिल और ग्रन्थियों से युक्त मालूम हो सकती है। इसलिए प्रकृति सहजता और स्वाभाविकता का गहरा संबन्ध अभिरुचि से है।

● प्रकृति की प्रवृत्ति मात्र सार्थकता द्वारा आधारित की जा सकती है। सार्थक होते हुये भी कोई कृति प्रकृतिनिष्ठ हो सकती है। प्रकृतिनिष्ठ होने में सार्थकता का गहरा संबन्ध है। बिना सार्थक चेष्टा और सक्रिय अनुभूति के प्रकृति की कल्पना ही व्यर्थ है। सार्थकता का मतलब उपयोगिता नहीं, वरन् अभिव्यक्ति और प्रेषणीयता से है। जो कहना है, जो दृष्टि है, जो प्रेष्य हैं, उसकी सार्थकता को दृष्टि में रख कर ही प्रकृति का निर्णय किया जा सकता है। कोई सार्थक सशक्त अभिव्यक्ति उपयोगी हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती; इसलिए उसका अंकन और प्रकृति का प्रतिमान—ये दोनों एक भी हो सकते हैं, भिन्न भी हो सकते हैं। भिन्न होने से प्रकृति नष्ट नहीं होती।

प्रकृति का विघटन ही विकृति है। विकृति परम्परा और रीति से पृथक

अनुभूति होने से या सर्वमान्य पद्धति से पृथक् पथ का अनुसरण करने मात्र से नहीं पैदा होती ।* यह कहना कि अमुक रचना में परम्परा का खण्डन है, इसलिए वह विकृति है, अथवा यह कि अमुक रचना में रीति के नये स्तर अपनाये गये हैं इसलिए उसमें विकृति है, सर्वथा ग़लत है । परम्परा से पृथक् चलने की प्रवृत्ति-विकृति नहीं, जीवन का परिचायक हो सकती है । नीति-रीति की सीमाओं के प्रति विद्रोह कृत्रिम ही नहीं होता । उसके साथ नये पथ, नये माध्यम और नयी विधि की अटूट जिज्ञासा भी हो सकती है । जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रकृति का गुण ही अन्वेषण और परिष्करण है बिना इसके प्रकृति की कल्पना ही अधूरी है । इसलिए प्रकृति का विघटन भी इन गुणों के न रहने पर ही होता है । वास्तव में विकृति है अनुकृति अथवा पुनरावृत्ति । यह दोनों प्रवृत्तियां अनुभूति की स्थिरता से उपजती हैं और इन की स्थिरता से ही यह दोष विकृत रूप में प्रस्तुत होते हैं ।

अनुभूतियों में विकृति नहीं होती । प्रत्येक अनुभूति अपने में महत्त्वपूर्ण होती है; किन्तु यदि अनुभूति केवल स्थिर (static) होकर रह जाती है, यदि वह दृष्टि और कल्पना की नयी परिधि को इंगित नहीं करती तो ऐसा संकुचित दृष्टि के कारण होता है । यदि दृष्टि और कल्पना के आयाम स्वस्थ और सुदृढ़ हों तो संदर्भ की कृत्रिमता अथवा उसका मूल रूप कभी भी अनुभूति को विकृत नहीं बना सकता । बहुधा लोग किसी भी कलाकृति में विकृति को इस भावना से अंकित करने की चेष्टा नहीं करते । वे केवल संदर्भ की विकृति से ही अनुभूति की विकृति और दृष्टि की विकृति का दम भरने लगते हैं । जैसे वर्जनाओं की सूची से कला की प्रयोगात्मक प्रवृत्ति को क्षति पहुँचती है, ठीक उसी प्रकार इस प्रकार की बातों से कला की वास्तविक मर्यादा को क्षति पहुँचती है । किसी भी कलाकृति की संकुचित दृष्टि और कृत्रिम भावना ही उसे विकृत बनाती है । यह मानना इसलिए आवश्यक है कि यदि ऐसा नहीं होगा तो प्रकृति का मानदण्ड विकसित नहीं हो पायेगा; और तब सिवाय विकृति के कुछ और शेष नहीं बचेगा ।

अस्तु, विकृति संदर्भ में हो सकती है, इसलिए अनुभूति और अभिरुचि संदर्भ के साथ कुछ और भी ग्रहण करती हैं । यही संदर्भ को परिष्कृत करती हैं । मात्र संदर्भ का महत्त्व नहीं होता । संदर्भ के साथ कुछ कल्पना, भावना और दृष्टि होती है जो कलाकार को संदर्भ से ऊपर उठकर अनुभव प्रदान करती हैं । ऊपर

*In daily life, in manners, desires, morals, hopes and patriotism we tread the daily round, we feel as our fathers do but the artist is continually besieged to grasp beauties and emotions not yet known, a tension between tradition and experience is constantly felt in his heart."

—COUDWELL.

उठने का मतलब यह नहीं है कि संदर्भ से पृथक् हो कर, वरन् ऊपर उठने का मतलब है संदर्भ की सीमाओं के परे का यथार्थ। विकृति कल्पना की समग्रता के अभाव में होती है, भावनाओं की कृत्रिमता में होती है, दृष्टि की संकुचित परिधि में होती है। इसीलिए संदर्भ की विकृति उतनी बड़ी विकृति नहीं है। वास्तविक विकृति दृष्टि, भावना और कल्पना के संकुचित होने में है। इनके संकुचित होने से कला में विकास की संभावना और प्रगति के माध्यम कृत्रिम होते हैं और अनुभूतियों में पुनरावृत्ति अथवा मात्र रीति की कृत्रिमता आती है। यहां यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विकृति का दोष अनुभूति में नहीं, दृष्टि में होता है।

अस्तु, वास्तव में अनुकृति ही विकृति है। बहुधा लोग प्रकृति को अनुकृति के रूप में स्वीकार करते हैं, और यह समझते हैं कि अनुकृति का कोई दोष नहीं है। इसका प्रमाण हमें छायावाद, प्रगतिवाद और आज की नयी कविता में बराबर मिलता है। अनुकृति का दोष या तो फ़ैशन के नाते आता है या मात्र शिल्प-अनुकरण के नाते आता है। अभिरुचि और अनुभूति जब कम महत्त्वपूर्ण होती हैं तो अनुकृति विकृति के रूप में फैलती है। प्रकृति का रूप और उसका प्रतिमान जब अनुकृति मात्र बन कर रह जाता है, तब तक कला या काव्य की विकृतियां अनुभूति को समाप्त करने लगती हैं और मात्र रीति (mannerism) को ही महत्त्व मिलने लगता है।

इस बात का परिणाम यह होता है कि कला अथवा काव्य-अभिरुचि के जीवन्त तत्त्वों को हमारी दृष्टि गौण समझने लगती है और एक प्रकार की झूठी (pseudo cult) प्रवृत्ति विकसित होती है जो साहित्येतर वस्तुओं पर अधिक बल देती है। जीवन्त तत्त्वों से मतलब है अनुभूति के वे स्तर जो सौन्दर्य को केवल अपने ही में पूर्ण नहीं मानते, वरन् उसे जीवन की सापेक्षिता में और व्यक्ति की मर्यादा के साथ सम्बद्ध करते हैं। बिना इस गतिशील सम्बन्ध के प्रकृति विघटित होती है, विकृतियां विकसित होती हैं।

पुनरावृत्ति भी अनुभूतियों के स्थिर (static) तत्त्व के कारण ही विकसित होती है। दृष्टि का अभाव, वस्तुस्थिति और संदर्भ के महत्त्व की हीनता ही पुनरावृत्ति की परम्परा को प्रश्रय देती है। पुनरावृत्ति में यह निहित है कि दृष्टि के समक्ष कोई व्यापकता नहीं है, मात्र परम्परा से मिली हुई संकीर्णता है जो आगे विकसित नहीं होने देती। पुनरावृत्ति का दोष इसलिए और भी होता है क्योंकि संभावनाओं को खोजने की प्रवृत्ति ही नष्ट कर दी जाती है।

साहित्य में समस्त इन विकृतियों का प्रादुर्भाव इस बात का द्योतक होता है कि समस्त चेतना केवल किसी बड़ी परम्परा के घेरे में इस प्रकार त्रस्त है कि उसकी मुक्ति का मार्ग ही दृष्टि में नहीं आता। वस्तुतः जब कभी भी कोई

परम्परा इतनी बड़ी हो जाती है कि वह काफ़ी समय तक केवल अपने आतंक के कारण चलती रहती है, तब विकृतियां विकसित होती हैं और उनके रूप भिन्न-भिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त होते हैं। व्यक्ति, समाज, सत्य अनुभूति जब ये सब के सब किसी वृहत् परम्परा के चंगुल में कसे होते हैं तो सिवा इसके कि उसी परिधि में वे घूमें और बार-बार सीमाओं में भटकें, और कोई दूसरा मार्ग उन्हें दीख ही नहीं पड़ता।

अस्तु, विकृति मूल प्रकृति के विघटन से विकसित होकर कला में गत्यवरोध प्रस्तुत करने में तभी सफल होती है जब अनुभूति में विस्तार की क्षमता नहीं होती और वह मात्र स्थिर बन कर रह जाती है। अनुभूति की स्थिरता का कारण होता है सौंदर्य और यथार्थ के प्रति उचित दृष्टि का अभाव। इसलिए विकृति स्वतः कोई वस्तु नहीं है—वह इसी कारण से उपजती है और कला या साहित्य की गति को विघटित करती है।

● विकृति की अभिव्यक्ति पुनरावृत्ति में होती है। पुनरावृत्ति जैसा कि ऊपर कहा गया है दृष्टि के संकुचित होने के नाते, प्रस्तुत होती है। दूसरे यह कि विघटन के वे तत्त्व जो जागरूक नहीं होते, वे विषयवस्तु और अन्तर् सत्य पर बल न देकर केवल बाह्य रूप और शिल्प-सज्जा को ही प्रमुख मान बैठते हैं। किसी भी नयी प्रवृत्ति के साथ इन विकृतियों का आविर्भाव उसी समय होता है, जब उनका नयापन अपनी गतिशीलता खो बैठता है।

● विकृति अनुकृति के माध्यम से अभिव्यक्ति पाती है। अनुकृति के साथ-साथ रूढ़ियाँ और 'फ़ैशन' दोनों ही की हठधर्मी प्रवृत्ति अधिक योग देती है। फ़ैशन केवल उस मनोवृत्ति की पुष्टि है जो मात्र इतने से तुष्टि पा लेती है कि उसने भी प्रचलित शैली में एक बात कही है—उसका मूल्य उपलब्धि और अनुभूति के स्तर पर कुछ नहीं होता।

● विकृति दृष्टि की संकीर्णता में पनपती है, अथवा कह सकते हैं कि उपलब्धियाँ जब कमज़ोर होती हैं अथवा कला में जब उनका पक्ष और उनका महत्त्व न होकर मात्र लोकरंजन से संत्रस्त प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं तो कला की विकृतियां भी अधिक पनपती हैं। इसका सब से अच्छा उदाहरण उर्दू की ग़ज़लों में मिलता है, जिनमें केवल अदा पर बल है उपलब्धि पर नहीं।

● विकृति, जीवन की गतिशीलता के प्रति अनुत्तरदायी प्रकृति का दूसरा नाम है। जीवन की समग्रता से ली गई अनुभूति में यह शक्ति होती है कि वह सम्पूर्ण विकृतियों को नष्ट करके उनको एक नयी अभिव्यक्ति या नया मर्म प्रदान करे। कोई भी प्रवृत्ति जब जीवन से प्रभाव नहीं लेती या जीवन के व्यापक सत्य के अतिरिक्त किसी विशेष मन्तव्य के अन्तर्गत साहित्य को ढालना चाहती है,

तब भी विकृतियों का रूप अधिक प्रचुरता में प्रस्तुत होता है ।

● विकृति का वास्तविक और विचित्र रूप रीति में है न कि प्रयोग में । जो लोग रीति की, परम्परा की, दुहाई देते हैं वे यह भूल जाते हैं कि रीति और परम्परा दोनों अनुकृति और पुनरावृत्ति का पोषण करती हैं । प्रयोग इनके अतिरिक्त विकास में विश्वास करता है; इसीलिए उसका बल रीति और परम्परा की रूढ़ियों पर न हो कर नयी संभावनाओं पर होता है । इन संभावनाओं का अन्वेषण न करके केवल स्थिरता का पोषक होना स्वयम् विकृति है ।

● विकृति कलाकार की कुण्ठाग्रस्त अथवा दुराग्रहपूर्ण प्रवृत्ति की परिचायक होती है । जब व्यक्तित्व की सीमायें केवल कुछ इनी-गिनी चेतनाओं के प्रति आग्रहपूर्ण होती हैं और व्यापक मानव संदर्भ का तिरस्कार करके साम्प्रदायिक सीमा तक बढ़ जाती हैं तो वे कुण्ठाग्रस्त स्थिति में केवल विकृतियों के आधार पर ही विकसित होती हैं । कला में कुण्ठाओं के प्रति जड़वत् आग्रह का सब से बड़ा दोष विकृति में व्यक्त होता है । जैसे परम्परा प्रौढ़ता और परिपक्वता के नाम पर विकृतियाँ उत्पन्न करती है, उसी प्रकार कुण्ठाएँ भी जड़वत् आग्रह के रूप में विकृतियां उत्पन्न करती हैं ।

यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि असुन्दर और विकृत में मौलिक भेद है । विकृति किसी वस्तु की विकृति अथवा किसी प्रवृत्ति की विकृति होती है । विघटन उसकी प्रवृत्ति है । इस विघटन की मूल भावना में जो बात निहित है वह है यथार्थ से पलायन, सौन्दर्य का विघटन एवम् सक्रियता का सर्वथा विनष्टीकरण । विकृति स्वतः विघटित होती रहती है, इसलिए उसमें अभिरुचि का प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि अभिरुचि विघटन की समर्थक नहीं होती, वरन् वह उदात्त के समर्थन में विकसित होती है । असुन्दर में यह आवश्यक नहीं है कि उसकी प्रवृत्ति विघटन की ओर ही हो । असुन्दर मात्र एक स्थिति भी हो सकती है जो गति को अस्वीकार करे अथवा जो मात्र एक परिस्थिति का परिचय दे । ऐसी स्थिति में बहुधा असुन्दर को विकृत कह कर सम्बोधित नहीं किया जा सकता । जैसे कुरूपता मात्र रूप का अभाव नहीं है, उसी प्रकार असुन्दर मात्र सुन्दर का अभाव नहीं है । विकृति में यह बात नहीं है । विकृति प्रकृति का अभाव तो है ही, साथ ही उसमें विघटित होने की प्रक्रिया भी सम्बद्ध है । यह विघटन कृत्रिमता के साथ बढ़ता है ।

इस प्रकार विकृति की मूल प्रवृत्ति कृत्रिमता की ओर ही होती है । असुन्दर होते हुए भी किसी वस्तु में कृत्रिमता की ओर अग्रसर होने को प्रवृत्ति नहीं भी हो सकती । ऐसी स्थिति में असुन्दर और विकृत में भी एक अन्तर है—और यह अन्तर इस बात से और भी स्थापित होता है कि असुन्दर मात्र स्थिति

है। स्थिति बदलने पर असुन्दर का पक्ष भी उभर सकता है। विकृति में यह बात नहीं है, क्योंकि उस में प्रकृति का विघटन ही प्रमुख अंग है।

नयी कविता की आलोचना प्रस्तुत करते समय बहुधा विकृतियों का नाम लिया जाता है किन्तु; विकृतियों की वास्तविक प्रवृत्ति पर ध्यान नहीं दिया जाता और मनमाने ढंग से विकृति, असुन्दर और आरोह-अवरोह इत्यादि के नारे लगाकर उसकी क्षमता को दबा देने की चेष्टा की जाती है। नयी कविता के साथ विकृतियों की चर्चा करते समय विकृति की मूल प्रवृत्ति पर विचार न करके उसके बाह्य लक्षण गिनाने की यह परम्परा साहित्यिक नहीं है, और चाहे जो हो। नयी कविता में असुन्दर का अंश हो सकता है, उसमें कहीं-कहीं प्रौढ़ता का भी अभाव हो सकता है, उसमें शिल्पगत त्रुटियाँ भी हो सकती हैं; किन्तु उसकी मूल चेतना विकृतिप्रधान है, या वह टूटती हुई आस्था है, या उसमें अवरोह के ही दर्शन होते हैं——ऐसा मानना अन्याय है। विकृति का निर्णय परम्परा द्वारा नहीं किया जा सकता, विकृति का निर्णय मात्र पूर्वजों की दुहाई दे कर नहीं किया जाता। माना कि पूर्वज बड़े शक्तिशाली थे, माना कि कालिदास में बड़ी क्षमता थी, तुलसी-दास में बड़ी काव्य-प्रतिभा थी, लेकिन कालिदास और तुलसीदास में कमियाँ भी थीं। आज के यथार्थ के समक्ष और आज के जीवन के संदर्भ में कालिदास क्या करते? क्या उनकी अभिव्यक्ति और उनकी अनुभूति वही होती जो 'शकुंतला' में है? आज के जीवन के समक्ष 'शकुंतला' की ट्रेजेडी या उसका प्रसंग शायद हल्का पड़े। आज के जीवन का जितना तेज़ आग्रह (fast tempo) है, शायद उसमें कालिदास की 'शकुंतला' उतना धैर्य न रख सकती; या वह यह मानती कि पूर्णसत्य उस आँशिक सत्य से कहीं अधिक मूल्यवान् है जो महज़ दुर्वासा के शाप के कारण घटित हो जाता है। दुर्वासा के शाप से भी भयंकर शाप आज एटम बम का है। कम-से-कम आज के संदर्भ में ज़बर्दस्ती उन कलाकारों को घसीटना और उनका जय-जयकार करके नयी प्रवृत्ति को कुण्ठित करना उचित नहीं है। तुलसीदास ही को लीजिये। क्या विवेक है उसमें सिवा इसके कि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम भगवान हैं, भरत एक असाधारण (abnormal) पात्र हैं, कैकेयी जो शायद अधिक यथार्थ को समझती है वह कलंकित और मौन है। उनके मूल्यों और उपलब्धियों के सहारे आज का समाज कहाँ जायगा, आज की मानवीय चेतना कहाँ जायगी; आज का यथार्थ कहाँ जायगा। तुलसीदास की बात को यदि अंतिम सत्य मान लिया जाय तो भविष्य के लिए कोई आस्था ही शेष नहीं रहती, क्योंकि कलियुग में सिवा पाप के वे कुछ स्थापित नहीं कर पाये। राम नाम की आस्था लेकर कितनी दूर आज का जीवन चल सकेगा? फिर उसके प्रतिमान से आज की कविता को आंकना सिवा भ्रम के और क्या कहा जा सकता

हैं ? तुलसीदास को या कालिदास को उनके देशकाल की सीमा में देखना अधिक वैज्ञानिक होगा और आज की कविता को आज के देश-काल में देखना अधिक मूल्यवान् होगा। तुलसीदास और कालिदास निश्चय ही बड़े कवि थे; किन्तु उनका बड़प्पन आज के संदर्भ में जितना ढाला जाय, वह सम्पूर्ण यथार्थ की रक्षा नहीं कर सकता।

आखिर नयी कविता की विकृतियाँ क्या हैं ? आरोह और अवरोह का माप-दण्ड क्या है ? यदि संगीत के लय के साथ देखा जाय तो आरोह-अवरोह दोनों का विशेष महत्त्व है। बिना एक के दूसरा जी नहीं सकता। फिर आरोह और अवरोह को पृथक्-पृथक् रूप में देखने की आवश्यकता क्या है ? कला में उपयोगिता संगीत की होती है; और यह संगीत बिना नयी दृष्टि के अथवा एक विशाल एवम् उदार अन्वेषण की प्रवृत्ति के संभव नहीं है। मात्र आरोह उतना ही भयानक है जितना मात्र अवरोह। फिर अवरोह का पृथक् अस्तित्व क्या है ? आरोह और अवरोह से बढ़कर मूल्यवान् वस्तु है आस्था और विश्वास। नयी कविता में यदि आस्था है, यदि उस में विश्वास का स्वर है तो आज वह चाहे जिस स्थिति में हो वह विकसित होकर अपनी पूर्ण स्थापना को अवश्य प्राप्त कर लेगी। देखने की वस्तु यह है कि नयी कविता में यह आस्था कितनी है और इस आस्था की पृष्ठभूमि में कवि की अभिरुचि क्या है ? यदि अभिरुचि दूषित है, अथवा कुत्सित है, तो निश्चय ही उस में विकास के तत्त्व नहीं हैं। यदि अभि-रुचि में नवीनता है, और आत्म-विश्वास के साथ ईमानदारी है, तो नयी कविता प्रकृति है, उसकी मूल भावना में प्रकृति है, विकृति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। जिस कविता में यह आस्था और आत्मविश्वास नहीं होगा वह विकृति हो सकती है। नयी कविता की अभिरुचि और उसका विस्तार इतना व्यापक है कि उसके प्रति इस प्रकार की खोज करना स्वयम् एक भारी अनास्था का परिचायक है।

वस्तुतः प्रयोग को ही विकृति मान कर चलने वाले स्वयम् यह नहीं समझ पाते कि प्रयोग अथवा नये के प्रति आग्रह होता ही क्यों है ? जो स्थिरता को कला का गुण मानते हैं, जो अनुभूति की व्यापकता को कृत्रिम मानते हैं, वे ही प्रयोग अथवा नयी अभिरुचि को विकृतिपूर्ण देख सकते हैं। दोष अन्वेषण में नहीं है, दोष प्रयोग में नहीं है, दोष नयी अभिरुचि में नहीं है, दोष है उन संस्कारों में जो नये से डरते हैं, प्रयोग से स्थिरता के विनष्ट होने की आशंका उपजाते हैं और नयी अभिरुचि के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि नहीं रख पाते।

प्रयोग को विकृति मानना संभावनाओं को नष्ट करना है तथा कला अथवा साहित्य की सीमाओं में वर्जनाओं एवम् संकीर्णताओं को प्रश्रय देना है। वर्जनाओं द्वारा ही साहित्य में कृत्रिमता आती है, विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। प्रयोग इन

विकृतियों की प्रतिक्रिया में विकास पाता है, प्रयोग मूलतः इन विकृतियों के विद्रोह में अभिव्यक्ति पाता है। परम्परावादी प्रयोग का इसलिए और भी विरोध करते हैं; क्योंकि इस में उन सब तत्त्वों को अस्वीकार करने की शक्ति होती है जो अनैतिक हो चुके हैं अथवा जो अपना संदर्भ, अर्थ और संवेदना खो चुके हैं। प्रयोग के प्रति जितना अधिक आघात इस स्तर पर किया जाता है उस में द्वेष की मात्रा अधिक होती है, सद्बुद्धि की कम।

नैतिकता का आग्रह करने वाले भी, हर नयी प्रवृत्ति में मात्र विकृति को ही देख पाते हैं। उनकी भावधारा में प्रवाह के प्रति अनावश्यक आतंक होता है। वे जितना संस्कार से मिला है उसी को पूरा समझते हैं। किसी सम्पन्न पिता के पुत्र की भांति वे केवल गड़ी कमाई खाते रहने को सब से बड़ा नैतिक कर्त्तव्य मानते हैं। अपने संचित धन-कोश को, संचित उपलब्धि को, बढ़ाने या उसका उपयोग करने का साहस इसलिए भी नहीं करते कि वे सदैव इस भय से आतंकित रहते हैं कि कहीं उनके पितामहः की अर्जित थाती न डूब जाय। कला में जब ये भावनायें विकसित होती हैं और इनके आधार पर नैतिकता का घटाटोप फैलाया जाता है, तब अनेक प्रकार की बातें कही-सुनी जाती हैं। प्रयोग का सब से बड़ा दोष—ऐसे विचारकों की दृष्टि में—यह है कि ये सारी परम्परा पर इस दृढ़ता से बैठना चाहते हैं कि उसे आधुनिक अथवा नयी अभिरुचि की गंध तक न लगने पाये। यही कारण है कि नयी कविता के विरोध में प्रकृति-विकृति के साथ एक विचित्र प्रकार की नैतिकता की दुहाई दी जाती है और बार-बार उसकी शक्ति को कुण्ठित करने का प्रयास किया जाता है। वे शायद यह भूल जाते हैं कि—

खण्ड खण्ड होकर जिस ने
जीवन विष पिया नहीं
सुखमय सम्पन्न मर गया जो जग में आकर
रिस रिस कर जिया नहीं
उसकी मौलिकता का दंभ निरा मिथ्या है
निष्फल सारा कृतित्व
उसने कुछ किया नहीं

—दुष्यंतकुमार

अस्तु यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि नयी कविता के वे कौन से स्वर हैं जो समस्त विरोधों के बीच भी सार्थकता के साथ बढ़ सकते हैं? वे कौन से प्रयोग हैं जो नैतिकता के इस मिथ्या आडम्बर के प्रति विद्रोह करते हैं? वे कौन से तत्त्व हैं

जो नयी अभिरुचि के साथ नये प्रतिमान प्रस्तुत करते हैं, जो प्रकृति की मूल स्थापना के साथ-साथ परिष्कृत होकर प्रस्तुत होते हैं? और इन सब का उत्तर है आज की बढ़ती हुई नयी काव्य-प्रतिभा। इन समस्त प्रतिभाओं में यदि एक अंश भी ऐसा है जो नयी उपलब्धि के साथ प्रस्तुत हुआ है तो वह निश्चय ही नया प्रतिमान प्रस्तुत करता है। नयी अभिरुचि में आज का और आज के व्यक्ति-मानव के संघर्ष का बल है। यही संघर्ष और अस्तित्व नयी कविता के नये भावस्तर का अन्वेषण करता है। आज के संदर्भ में सब से बड़ी आस्था का परिचायक स्वर जो बार-बार प्रस्तुत होकर आ रहा है, वह है मानव की विशिष्टता के प्रति जागरूक चेतना का। मानव विशिष्टता, जीवन के अतिरेक में नहीं उसकी विभिन्नता में प्रतिष्ठित है इसीलिए वे जो संस्कारबद्ध हैं, जो विभिन्नता के अस्तित्व को रोग समझते हैं अथवा जो व्यक्ति से लेकर अभिव्यक्ति तक मर्यादित रूप देना चाहते हैं, उनके समक्ष नयी कविता का यह स्वर अटपटा लगता है। अटपटे स्वरों में बहुधा कुछ नयी बातें होती हैं, कुछ अनुभूति की गहराई और दृष्टि का विस्तार होता है, जिसके कारण यह उस रागबद्ध स्वर से मेल नहीं खाते जो स्थिरता की एकरूपता (monotony) से बोझिल एवम् चरमराते हुए से पाये जाते हैं। नयी कविता का खुरदुरापन अथवा उसका अटपटापन उसकी अपनी ईमानदारी का परिचायक है। भिन्नता का यह स्वर जिन उपलब्धियों को प्रस्तुत कर रहा है वस्तुतः वह महत्त्वपूर्ण हैं, न कि उनका अटपटापन अथवा खुर्दुरापन। आज जिस गति के साथ नयी कविता पर कटाक्ष और आघात हो रहे हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नयी कविता अपना दृष्टि-कोण प्रस्तुत करने में समर्थ हुई है।

हिन्दी की नयी कविता के साथ अनुकरण का दोष लगाया जाता है और यह माना जाता है कि इस में स्वयम् ईमानदारी का स्वर कुछ नहीं है, यह मात्र अनु-कृति के रूप में ही प्रस्तुत हो रही है। यदि यह बात सिद्ध हो जाय तो निश्चय ही यह विकृतिपूर्ण कही जा सकती है; किन्तु यह सिद्ध करने के लिए जितने प्रयास हुए हैं वे इतने द्वेषपूर्ण हैं कि उनका कथन केवल एक नारा बन कर रह जाता है। किसी भी नयी प्रवृत्ति के प्रति इस प्रकार के आरोप लगाने की परम्परा हिन्दी में काफ़ी दिनों से चली आ रही है; किन्तु इसकी सार्थक चेष्टा अभी तक फलीभूत नहीं हो सकी है। इसका मुख्य कारण यह है कि नयी कविता की जड़ें विदेशी कविता के अनुकरण में न होकर, आधुनिकता और यथार्थ की जड़ों में भिनी हुई हैं। यह आधुनिकता किसी एक देश की नहीं है वरन् समस्त युग की है; और जब हम समस्त युग की आधु-निकता के साथ अपना संबन्ध स्थापित करते हैं तो उसमें भावनाओं और कल्पनाओं के साथ अभिरुचियों का साम्य भी संभव हो सकता है; किन्तु अभिरुचियों और भावनाओं के साम्य से यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि यह प्रवृत्ति अनुकृति-

प्रधान है क्योंकि अनुकृति एक कृत्रिम प्रक्रिया है। नयी कविता की सम्पूर्ण प्रकृति अभी तक इस कृत्रिमता से बची हुई है। यही नहीं उसने इन कृत्रिमताओं का अनुसरण तक नहीं किया है।

जहाँ तक नयी कविता का सम्बन्ध है, वह अपने परिवेश और संदर्भ के आधुनिक होते हुए देश-काल की सीमाओं और मर्यादाओं के अनुरूप हैं। आज के इस वैज्ञानिक युग में यों तो देश-काल की सीमायें भी विस्तृत हो गई हैं। समस्त मानव जाति आज इन सीमाओं के परे विकसित हो रही है, और हमारा जीवन हमारे देशकाल के अतिरिक्त अन्य परिस्थितियों से भी प्रभावित एवम् अनुप्राणित होता रहता है। जहाँ एक ओर व्यक्ति-मानव की स्वतंत्रता नयी अभिरुचि का मूल तत्त्व है, वहीं इस व्यापकता का समर्थन उसका वैज्ञानिक गुण है। इसलिए जब हम देश-काल की सीमाओं की बात करते हैं अथवा उसकी मर्यादा का प्रश्न उठाते हैं, तो उसके साथ-साथ हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि देश-काल की मर्यादा को परम्परा उतनी नहीं प्रशासित करती जितनी कि समसामयिकता नियंत्रित करती है। इतनी व्यापक अनुभूति के साथ जो प्रकृति विकसित हो रही है वह सर्वथा अनुकरण नहीं हो सकती; किन्तु नयी प्रवृत्तियों से चौंकने वालों को कुछ न कुछ तर्क ढूंढना पड़ता है। आधुनिकता की प्रवृत्ति को इसीलिए अनुकरण रूप में वे देखते हैं। वस्तुत: यह भी वैज्ञानिकता के अभाव के कारण ही होता है और यह कहना पड़ता है कला या साहित्य से यदि बौद्धिक आग्रह निकल जायगा तो ऐसी ही भ्रांतियां उपजेंगी।

एक बात जो बहुधा उठायी जाती है और जिसके बल पर नयी कविता के समस्त भावस्तर को त्याज्य बताने की चेष्टा की जाती है, वह उसकी बौद्धिकता है। बौद्धिकता स्वयम् विकृतिपूर्ण है या नहीं, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। बौद्धिक होना विकृति से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। बौद्धिक होने मात्र से कोई कृति विकृति मान ली जाय, इस से बढ़कर अन्याय नहीं हो सकता। बुद्धि द्वारा नैतिक आचरण में ह्रास उत्पन्न होने की बात कैसे कही जाती है, अथवा वह कैसे मान्य होती है, यह भी विवेक द्वारा समझ में नहीं आता। बुद्धि चेतना और जागरूकता का सक्रिय अंश है। उसकी सक्रियता में यह निहित है कि जीवन केवल भावना-प्रधान अभिव्यक्ति नहीं, वरन् उस भावना और विवेक की संगति ही जीवन को पूर्ण बनाती है। बिना बुद्धि के या बिना बौद्धिक आधार के कोई भी नैतिक स्तर स्थापित ही नहीं किया जा सकता। अज्ञेय के शब्दों में हम कह सकते हैं कि

"कुछ लोग हैं जो कहते हैं कि बुद्धि के बढ़ते वैभव के साथ मानव ह्रास हुआ है। मैं ऐसा नहीं मानता—नहीं मान सकता—मेरी प्रतिज्ञा ही इस परिणाम को असंभव बना देती है, क्योंकि मेरे निकट नीति-ज्ञान विवेक स्वयम्

बुद्धि का वैभव है। मैं यही कहूंगा कि साहित्य की यह नयी प्रवृत्ति नैतिक शिथिलता या नैतिक ह्रास की नहीं, नैतिक बोध की परिपक्वता की सूचक है।"

----- अज्ञेय : आलोचना--९--पृष्ठ १३१

अंत में यह कहना आवश्यक है कि किसी भी प्रवृत्ति को जब तक वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं देखा जायगा, तब तक उसमें इस प्रकार की भ्रान्तियां काम करती रहेंगी। बौद्धिकता वैज्ञानिकता का परिचायक है, न कि कृत्रिमता का। जिस प्रवृत्ति का प्रधान गुण अन्वेषण और विवेक के आधार पर विकसित होगा, वह सस्ती भावनात्मक (sentimental) प्रकृति से भिन्न होगा। नयी कविता का मूल स्वर अन्वेषण, विवेक और प्रयोग को लेकर विकसित हुआ है; इस लिए उसमें यह क्षमता है कि वह भावोत्तेजना में बहने के बजाय कुछ थिर कर बात करे, कुछ नये संदर्भों को प्रस्तुत करे और नयी अभिरुचियों का विकास करे। यह सब बिना बौद्धिक जागरूकता के संभव नहीं है। वैज्ञानिकता का आग्रह सुरुचि और अभिरुचि के आयामों को परिष्कृत करता है, उसे जीवन से सम्बद्ध करने की प्रेरणा देता है। ऐसा महत्त्वपूर्ण तत्त्व विकृति कैसे हो सकता है? उसका तो आग्रह ही है कि जीवन के उस पक्ष को बल मिले जिससे विवेक और सौन्दर्य के साथ भावनाओं को अधिक मानवीय स्तर प्राप्त हो सके। मानवीय होना नैतिक है या अनैतिक, यह वह क्या जानें जो बुद्धि के प्रति आक्रोश लिये बैठे हैं।

इसी संदर्भ में यह बहुधा कहा जाता है कि भावनाओं के छिछलेपन पर आवरण डालने के लिए नयी कविता बौद्धिकता पर अधिक बल देती है; किन्तु आवरण बुद्धि की क्रिया नहीं है। बुद्धिवादियों के प्रति तो सब से बड़ा आरोप यह है कि वे नग्नता के समर्थक हैं। एक ओर वर्ग समस्त नयी प्रवृत्ति को नग्नता का समर्थक कह के तिरस्कृत करना चाहता है, दूसरी ओर उसपर आवरण का आरोप लगाया जाता है। वस्तुतः इस प्रकार का तर्क केवल वही दे सकता है जो बुद्धि को तिलांजलि दे बैठा है बौद्धिकता की तुष्टि आवरण से नहीं होती---उसकी तुष्टि बौद्धिकता की पूर्णता द्वारा है। यह बौद्धिकता की पूर्णता (intellectual satisfaction) प्रत्येक सौन्दर्य का अंग है। इस की अवहेलना करके सौन्दर्यबोध की उपलब्धि हो ही नहीं सकती।

अस्तु, उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि सौन्दर्यबोध और आत्म-उपलब्धि के तत्त्वों में बौद्धिक आग्रह इस बात का सूचक है कि हमारी अभिरुचि का एक बौद्धिक पक्ष भी है, और वह किसी सीमा तक विकृति का अंश नहीं है। ज्ञान और सद्-दृष्टि के साथ बौद्धिक आग्रह का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। यह बौद्धिकता भी सौन्दर्य को गति देती है, उसे स्थिरता से बचाती है। न्यूरासिस द्वारा जैसे किसी सौन्दर्य की स्थापना नहीं हो सकती, ठीक उसी प्रकार केवल

विकृति का नारा लगाकर किसी भी नये तत्त्व की विकासोन्मुख प्रवृत्ति को जर्जरित एवम् कुण्ठित नहीं किया जा सकता।

प्रकृति और विकृति के मानदण्ड इन भ्रमपूर्ण धारणाओं से स्थिर नहीं होते, वरन् उनके लिए एक गहरी दृष्टि की आवश्यकता है। यदि सम्पूर्ण मानव मुक्ति के आन्दोलन को या व्यक्ति-मानव की उपलब्धि को विकृति कह कर टाल दिया जायेगा, तो फिर शेष रहेगा क्या ? आज की आधुनिकता के संदर्भ में प्रकृति और विकृति की समस्या को वर्तमान परिस्थितियों और बौद्धिक जागरूकताओं से पृथक् कर के देखने की प्रवृत्ति ही गलत है। कोई भी प्रकृति या विकृति उस समय तक स्वस्थ स्थापना नहीं पा सकती, जब तक वह सम्पूर्ण मानव अभिरुचि और आधुनिक संदर्भ को ध्यान में रख कर स्थापित नहीं की जायेगी।

चतुर्थ खण्ड

मूल्यान्वेषण

[१०]

अहम्‌वादी प्रवृत्तियाँ और सामाजिक दायित्व

नयी कविता के प्रति 'अहम्‌वादी' होने का एक ऐसा आरोप लगाया जाता है जिससे निष्कर्ष यह निकाला जाता है कि सारी की सारी नयी कविता अहम्‌वादी होने के नाते सामाजिक दायित्व से निरपेक्ष है। किन्तु 'अहम्‌वाद' अथवा सामाजिक दायित्व की बात करने वाले लोगों से यह पूछना आवश्यक हो जाता है कि 'अहम्‌वाद' का क्या अर्थ है और सामाजिक दायित्व का क्या रूप है? इस प्रश्न के उत्तर में प्रायः यह कह दिया जाता है कि अहम्‌वादी प्रवृत्तियाँ केवल व्यक्तिवादी एवम् आत्मवादी निष्ठाओं द्वारा प्रेरित होती हैं, और व्यक्तिवादी होने के नाते वे कुण्ठा-ग्रस्त एवम् विकृतियों का प्रतिनिधित्व अधिक करती हैं। सामाजिक दायित्व अथवा सामाजिक सहानुभूति उन में नहीं होती। वस्तुतः यह प्रश्न ही ग़लत है। समस्या अहम् और समाज की नहीं है, वरन् व्यक्ति और समाज की है। सामाजिक दायित्व को पूर्णतया निभाने वाला व्यक्ति भी अहम्‌वादी हो सकता है—अहम्‌वादी होना दोष नहीं है। अहम् विकृति नहीं है। इसके विपरीत अहम् प्रकृति है, इसलिए कि वह अपने अस्तित्व का समर्थन है 'समर्थन' शब्द का प्रयोग करना इसलिए आवश्यक है कि समर्थन में किसी भी वस्तु की अस्वीकृति नहीं है। अपने अस्तित्व का समर्थन करना सामाजिक दोष भी नहीं है। अहम् केवल अपने अस्तित्व की माँग करता है, उसकी स्वीकृति चाहता है, और उसके माध्यम से जीवन, सौन्दर्य और समाज का साक्षात्कार करना चाहता है।

अहम् का वास्तविक अर्थ है अपनी स्थिति और अपने अस्तित्व की स्वीकृति के साथ-साथ सामाजिक संदर्भ में अपनी नियति और अपनी सत्ता के प्रति जागरूक रहना। किसी भी समाज में जब तक इस जागरूक शक्ति वाले सदस्य नहीं होंगे, तब तक उसमें प्रगति की भावना विकसित नहीं हो पायेगी। अहम् की स्वीकृति विकृति की सूचक नहीं है, वरन् यह इस बात की सूचक है कि प्रत्येक सदस्य सामाजिक दायित्व में सक्रिय है। यह सक्रियता जहाँ सामाजिक या अन्य किसी यथार्थ को स्वीकार करती है वहीं उसकी सापेक्षता में अपने अस्तित्व के लिए आग्रह भी करती है। अहम् की प्रस्तावना या इसकी संभावना इस बात को स्थापित करती है कि जीवन की सक्रियता में उसके तत्त्वों का अस्तित्व है। समाज की चेतना का विकास या जीवन का विकास बिना इस स्थापना के संभव ही नहीं है। अहम् केवल इस स्थापना का समर्थन करता है कि कोई भी दायित्व बिना अधिकारों की व्याख्या के ग़लत है। यदि सामाजिक दायित्व सत्य है, तो सामाजिक दायित्व निभाने वालों के कुछ बुनियादी अधिकार भी हैं। अस्तु, इन अधिकारों और इन स्वतंत्र परिवेशों में यदि अहम् की जागरूकता व्यक्त होती है, तो इस में दोष क्या है? यह तो मात्र चेतना की स्वीकृति है।

चेतना का प्रवाह जीवन का द्योतक है। अहम् इस चेतना की अभिव्यक्ति है। एक ओर यदि चेतना जीवन के भार को वहन करती है, तो दूसरी ओर वह जीवन के प्रसंग में सक्रिय भाग भी लेती है। सक्रिय भाग का आशय निष्क्रियता नहीं है; और न ही उसका यह लक्ष्य है कि चतना केवल ऊर्ध्वमुखी हो, अन्तर्मुखी न हो। ऊर्ध्वमुखी होने में ही यह निहित है कि जीवन का अस्तित्व अन्तर्मुखी भी है' विकास का क्रम भी अपने वैज्ञानिक अर्थ में यह स्थापित करता है कि विकास किसी एक विन्दु अथवा किसी एक स्थिति से होगा। वह विन्दु या वह स्थिति क्या है? क्या वह समाज है? क्या वह व्यक्ति है? क्या वह नैतिकता है? अथवा, क्या वह इतिहास है? और तब पता यह चलता है कि इन सब का प्रसंग बिना व्यक्ति के अहम् की स्वीकृति के संभव नहीं है। इसीलिए अहम् जहाँ चेतना की अभिव्यक्ति है, वहीं वह आत्म बोध की शक्ति भी है। बाह्य यथार्थ और आन्तरिक यथार्थ दोनों का केन्द्रविन्दु अहम् है। बिना इसके न तो बाह्य यथार्थ सत्य है और न आन्तरिक यथार्थ ही सत्य है। अहम् इसीलिए इन दोनों चेतनाओं के बीच में दोनों का संवरण तो करता ही है, साथ ही दोनों को अभिव्यक्ति भी प्रदान करता है।

मानवीय संवेदनाओं के साथ व्यक्ति का अहम् ही जागरूक एवम् सक्रिय भाग लेने वाला तत्त्व है। अहम् की अनुभूति प्रज्ञा की अनुभूति है। उसमें निहित सत्य आत्मानुभूति का सत्य है। यह सोचना या इस बात का समर्थन करना कि अहम्

में आस्था होने के कारण कोई प्रवृत्ति निम्न स्तर की हो जायगी, सर्वथा असंगत है। अहम् विकृतियों को उतना नहीं उभारता जितना यथार्थ की चेतना को उभारता है। सामाजिक सत्य का कोई भी रूप उस समय तक पूर्ण नहीं हो सकता, जब तक उसमें अहम् के अस्तित्व की स्वीकृति न हो। व्यक्ति-निष्ठा और आत्मसंवेदना का सार्थक अंश कलाकार की अहम्-स्थापना द्वारा ही स्थापित हो सकता है। बहुधा इस सत्य की कुण्ठाग्रस्त वर्जनाओं की स्थापना से तुलना करके इसके महत्त्व को घटाने की चेष्टा की जाती है; किन्तु जीवन की सक्रियता की दृष्टि से यह प्रक्रिया स्वयम् में अपूर्ण है।

मानव जीवन के तत्त्वों में एक ओर जहाँ सामाजिक अनिवार्यतायें हैं तो दूसरी ओर व्यक्तिगत और वैयक्तिक सत्य की सक्रिय सीमायें भी हैं। कोई सामाजिक दायित्व बिना इस सक्रिय व्यक्तिगत आत्मसत्य के पूर्ण नहीं हो सकता। यदि सामाजिक तत्त्व जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंश है, तो व्यक्ति-सत्य अथवा व्यक्ति-तत्त्व उस महत्त्वपूर्ण अंश का पूरक है। यदि जीवन समग्रता का प्रतीक है, तो उस समग्रता में व्यक्ति-समग्रता को स्वीकार करना होगा। आज तक के सामाजिक दर्शनों ने, विशेष कर मार्क्सवाद ने इस व्यक्ति-सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। किसी न किसी रूप में व्यक्ति की मर्यादा का प्रश्न गौण बना कर ही रखा गया है। नीत्शे ने यदि उसे जातिभेद और शक्ति के नाते त्याज्य समझा है, तो मार्क्सवाद ने उसे सामाजिक-आर्थिक नियति में इतना बाँध दिया है कि उसकी चेतना और उसकी सतत भावना को अर्थ नहीं मिल पाया है। एक ने उसे पशु बनाकर निम्न वर्ग का सिद्ध किया है, तो दूसरे ने उसे ऐतिहासिक सत्य से इतना बाँध दिया है कि उसमें की समस्त प्रतिभा एवम् संभावना को कुत्सित करके छोड़दिया है। यंत्रवत् रूप में मनुष्य का अस्तित्व आज उतना ही भयानक हो गया है, जितना कि पशु रूप में प्रस्तुत कर के नीत्शे ने चित्रित करने का प्रयास किया है। अहम् की स्थापना या उसकी स्वीकृति में इन दोनों अतिवादी विचारधाराओं के प्रति विद्रोह होना स्वाभाविक है।

आज के युग की मौलिक समस्या व्यक्ति-मानव की विस्थापित मनःस्थितियों में आत्मबल, विश्वास और आस्था को स्थापित करना है। सामाजिक मानदण्डों की उपयोगिता और उनका औचित्य स्वीकार करते हुए व्यक्ति को नगण्य मानना हमारे नैतिक आदर्श का सब से बड़ा विघटन है। सभ्यता और संस्कृति का प्रतिमान इस से नहीं आंका जा सकता कि कितने समर्थ व्यक्ति सम्पन्न हैं, वरन् उसका मानदण्ड जब कभी भी निर्धारित होगा तो उसमें इस बात को देखा जायगा कि जो समर्थ नहीं है, अथवा जो दुर्बल है, जो अवसरहीन है, उसे कितना बल मिल पाया है। आज के सांस्कृतिक और सामाजिक संक्रमण की समस्या प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य में अधिक

प्रश्नरत है। दो महान् युद्धों में जाने कितनी मानव आशायें टूटी हैं, जाने कितनी आस्थायें विशृंखल हुई हैं, जाने कितने अर्थों में मानव स्वाभिमान टुकड़े-टुकड़े होकर विगलित हुआ है। इसलिए आज की चेतना में खोये हुए अस्तित्व और खोई हुई मर्यादा का बहुत बड़ा आग्रह है। उसको पुनःस्थापित करना संस्कृति का सब से बड़ा दायित्व है। मानव संभावनाओं की यह समस्या इस बात को प्रेरित करती है कि मानव, व्यक्तित्व की अहम्-सत्ता को स्वीकार करके व्यक्ति का खोया हुआ स्वाभिमान उसे पुनः वापस मिले।

मानव नियति की सब से बड़ी विडम्बना यह रही है कि समस्त धार्मिक एवम् साँस्कृतिक प्रवृत्तियाँ केवल नैतिकता के बल पर मानव जीवन के व्यक्ति-पक्ष को समाप्त करने में ही सक्रिय रही हैं। भारतीय धर्म में भी इस आत्मसमर्पण का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है; किन्तु यह आत्मसमर्पण कभी यह नहीं स्थापित कर पाया कि यथार्थ जीवन की सापेक्षता में समर्पण की क्या मर्यादा होनी चाहिए। भक्त काल के कवियों ने तो केवल दास्यभाव पोषण किया है। संत कवियों ने भी लगभग इसी आत्मसमर्पण के अंश पर बल दिया है, यद्यपि 'मानव' अस्तित्व का समर्थन उनमें अधिक जागरूक स्तर पर विद्यमान है। प्रगतिवाद ने भी केवल मानव अस्तित्व का समर्थन किया है, किन्तु उसके साथ-साथ व्यक्ति-मानव की समस्या को सामाजिक यथार्थ के सामने तिरस्कृत कर दिया है। इस विचारधारा में सब से बड़ी त्रुटि यह है कि यथार्थ जहाँ समाज और जीवन है वहीं व्यक्ति भी है। समाज के यथार्थ को व्यक्ति-सापेक्ष होना ही पड़ेगा। धर्म की विडम्बना यह रही है कि उसने मानव नियति को पाप और पुण्य के बन्धन से ऐसा बांध रक्खा है कि उसमें स्वतंत्र व्यक्तित्व की सत्ता कुण्ठित हो जाती है। आदम ने वर्जित फल को चख कर जीवन को पतित बना लिया—यह धारणा ही व्यक्ति की स्वतंत्र मर्यादा के खण्डन से प्रारंभ होती है। किन्तु उस वर्जित फल को खाने में जिस स्वतंत्रता की स्वीकृति और जिस अहम् का प्रस्फुटन है, वह देवत्व की बन्धनमयी कुण्ठा से कहीं अधिक सजीव है। यथार्थ की स्वीकृति यदि जीवन का महत्त्वपूर्ण अंश है, तो यथार्थ को व्यक्ति-सापेक्ष होना पड़ेगा; और यह व्यक्ति-सापेक्ष नैतिकता ही असली और पूर्ण नैतिकता के रूप में ग्रहण की जा सकेगी।

नैतिकता का बोझ किस पर है? समाज व्यक्ति-निरपेक्ष कैसे हो सकता है? बात चाहे जहाँ से प्रारंभ की जाय, उसकी अंतिम परिणति व्यक्ति पर ही होती है। नैतिकता का बोझ और उसका दायित्व अन्ततोगत्वा व्यक्ति पर ही आकर टिकता है। फिर व्यक्ति की मानसिक स्थिति और नैतिक दायित्व से पृथक् कोई दायित्व कैसे स्थापित किया जा सकता है। समाज, जीवन, नैतिकता, अनैतिकता का माप-दण्ड और उसका केन्द्रविन्दु व्यक्ति ही के द्वारा स्थापित किया जा सकता

है। व्यक्ति के इस सशक्त समर्थन से पृथक् जो भी मानदण्ड स्थापित किया जायगा, वह अपूर्ण होगा। समाज कितना विकसित है, इसकी अन्तिम कसौटी इस बात में है कि व्यक्ति कितना विकसित है। व्यक्ति की संभावनाओं और उसकी स्वतंत्र सत्ता द्वारा ही सामाजिक यथार्थ की परिभाषा आधारित की जा सकती है। नैतिकता का प्रश्न भी एकांगी रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। व्यक्ति की मर्यादा, उसकी स्वतंत्र सत्ता के माध्यम से ही सामाजिक मर्यादा की सीमायें और संभावनायें निर्धारित की जा सकती हैं।

अस्तु, नैतिकता के आदर्श से मानव स्वाभिमान (human dignity) को सम्बन्धित करना ही पड़ेगा। नितान्त निरपेक्ष (absolute) को जब हम महत्त्व नहीं देते, तो फिर सापेक्ष (relative) को महत्त्वपूर्ण मानते हुए समाज के साथ व्यक्ति और व्यक्ति के साथ समाज के स्पष्ट दायित्व को एक साथ अंगीकार करना पड़ेगा। मानव स्वाभिमान की बात उठाने से संभव है कि कुछ लोग चौंकें, किन्तु मानव स्वाभिमान और मानव विशिष्टता को स्वीकार कर लेने के बाद ही अहम् का संदर्भ स्पष्ट हो सकेगा। कोई भी सामाजिक दायित्व उसी समय पूर्ण रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है, जब उसमें यह शक्ति हो कि दायित्व का निर्वाह करने वाले के अस्तित्व को स्वीकार कर सके।

कहा जा सकता है कि सामाजिक दायित्व अपने में ही पूर्ण सत्य है। फिर इस वर्गीकरण की क्या आवश्यकता है? किन्तु सामाजिक दायित्व को अपने में ही पूर्ण मानने में दो प्रकार की ग़लतियां स्वयम् प्रकट हो जाती हैं—प्रथम तो यह कि व्यक्ति-मानव का स्वाभिमान और उसके अस्तित्व का केवल समाज-सापेक्ष ही मूल्य है, व्यक्ति-सापेक्ष सत्य का कोई अस्तित्व नहीं है; दूसरी यह कि समाज ऐसी व्यवस्था है जिसके सामने आत्मसमर्पण के सिवा कोई और रास्ता नहीं है। ये दोनों बातें भ्रमपूर्ण हैं। समाज-सापेक्षिता के अतिरिक्त भी मनुष्य का अस्तित्व है; और वह अस्तित्व उसके व्यक्तिगत (personal) तत्त्व की पुष्टि से सम्बन्ध रखता है। प्रत्येक मनुष्य के इस व्यक्तिगत पक्ष की अवहेलना नहीं की जा सकती। यह बात सही है कि व्यक्तिगत का यह मतलब नहीं है कि कोई असामाजिक या अनैतिक षड्यन्त्र भी व्यक्तिगत के नाम पर किया जाय; किन्तु मनुष्य होने के नाते कहीं-न-कहीं मानव मात्र इस बात की अपेक्षा रखता है कि वह अपना निर्णय स्वयम् ले, अपना मत रखे, अपने विचारों को व्यक्त करे, और दूसरे से भिन्न स्वर का बिना किसी भय के समर्थन कर सके। जब तक इस भिन्नता को स्वीकार नहीं किया जायगा, तब तक इतिहास और संस्कृति के स्तर पर वास्तविक मानव स्वाभिमान की रक्षा नहीं हो सकेगी।

मानव स्वाभिमान की सम्पूर्ण प्रकृति अहम् की सार्थकता में निहित है।

व्यक्ति को महत्त्व देना उसे भी अपनी सीमा में महत्त्वपूर्ण (significant) समझना आज के युग का दायित्व है। अन्तिम सत्य के रूप में मात्र सामाजिकता का समर्थन कई भ्रांतियाँ उत्पन्न कर सकता है। सर्वप्रथम तो यह कि जब हम अन्तिम सत्य के रूप में किसी भी वस्तु को स्वीकार कर लेंगे तो फिर प्रगति और विकास की संभावनाओं की इति श्री हो जायगी। मनुष्य को प्रत्येक सत्य के विवेचन की स्वतंत्रता, प्रतिज्ञाओं के प्रति शंका उत्पन्न करने की स्वतंत्रता, विचारों के संघर्ष और उनके उत्कर्ष में नये आयामों को प्राप्त करने की स्वतंत्रता मिलना जीवन की सक्रियता में विश्वास करना है। यदि समाज अन्तिम सत्य है अथवा एक सामाजिक व्यवस्था अन्तिम सत्य है, इस की घोषणा कल हो जाय, तो फिर जीवन में शेष क्या बचेगा? प्रत्येक सत्य की उपलब्धि आगे की भूमिका है, और इस अनवरत मात्रा की पृष्ठभूमि में ही मानव आस्था का भविष्य है। जब तक मनुष्य को उसके स्वाभिमान की रक्षा के साथ उसके अहम् की स्थापना का ज्ञान नहीं होगा, तब तक विकास और प्रगति की संभावना अंकुरित नहीं होगी। सत्य स्थिर नहीं है। वह भी समाज और व्यक्ति सापेक्ष है। इसीलिए वह अधिक से अधिक जीवन्त तत्त्वों को अपने भीतर समाहित करने की क्षमता रखता है। यदि यह क्षमता स्वीकार की जाती है तो फिर व्यक्ति के अहम् की स्थापना को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा।

अहम् का रूप यह नहीं कि वह कुत्सित विकृतियों के आधार पर प्रस्तुत हो; वरन् उसका प्रस्फुटन मानव स्वाभिमान से सम्बन्धित है, और इसी स्वाभिमान के आधार पर समाज की गति आवश्यक है। अहम् की जागरूक चेतन-अभिव्यक्ति यह नहीं सिद्ध करती कि समाज के विनाश या समाज की कुरूपता ही उसे प्रिय है। वस्तुतः जितना जागरूक और जितना सशक्त अहम् होगा, उतनी ही अधिक तीव्र शक्ति के साथ वह जीवन की प्रत्येक व्यवस्था में सक्रिय हो सकेगा। अहम् की जागरूकता से यह आशय ग्रहण करना कि वह मात्र आत्मरक्षा की खोल है, ग़लत है। आत्मरक्षा की खोल कायरता का प्रतीक है। अहम् का बल आत्मरक्षा पर नहीं है, उसका बल (self significance) आत्मसमर्थन में है, आत्माभिव्यक्ति में है। वे व्यक्ति जो मानव विशिष्टता के साथ उसके स्वाभिमान और अहम् के प्रति आस्थावान् नहीं हैं, वे ही अपनी आत्मरक्षा के लिए अहम् के महत्त्व को ग़लत समझ सकते हैं; किन्तु जहाँ तक उनका प्रश्न है जो अपने अहम् की जागरूक स्थिति और परिस्थिति के समर्थक हैं, वे तो स्वयम् उस गतिशीलता को स्वीकार करते हैं जो जीवन की समृद्ध शक्ति को निरन्तर विकास की ओर ले चलने में सहायक है। इसलिए आज के युग में और वर्तमान जीवन के संदर्भ में, यह आवश्यक है कि व्यक्ति के आवश्यक अस्तित्व को स्वीकार कर के उसके संदर्भ

में जीवन को स्वीकार किया जाय; और उन तत्त्वों को जो परम्परा और व्यवस्था की लीक से पृथक् हैं, उनका भी पुनःपरीक्षण और विवेचन किया जाय। कोई भी उपलब्धि अन्तिम उपलब्धि नहीं है, इसलिए उसके आगे की दिशा और उसके आगे की संभावना के प्रति उचित दृष्टि रखना आवश्यक है।

कला या साहित्य के क्षेत्र में साहित्यकार या कलाकार का अहम् एक विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि वह जहाँ एक ओर जीवन के संदर्भ में सक्रिय भाग लेने वाला होता है, वहीं वह उन तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन भी करता है। वह कारण भी है और उपलब्धि का माध्यम भी है। वह स्वयम् अपनी परिस्थितियों का निर्माण करता है, उनको भोगता है और उनके माध्यम से जो कुछ ग्रहण करता है उसे उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत करता है। वह समाज का सक्रिय प्राणी है; किन्तु वह समाज का आलोचक और समर्थक दोनों हीं है। यथार्थ से वह प्रभावित तो होता है; किन्तु यथार्थ को नये संदर्भों में प्रस्तुत करने की, अनुभव करने की, देखने की, शक्ति भी उसमें है। वह मात्र विज्ञप्ति या प्रतिज्ञा या प्रस्तावना से संतुष्ट नहीं होता। वह उसमें सक्रिय भाग लेने की चेष्टा करता है। भाग लेने में वह अकेला नहीं है, न उसका अहम् अकेला है। इन दोनों के साथ उसके संस्कार हैं, उसकी सामाजिक, वैयक्तिक चेतना भी है। यह वैयक्तिक चेतना—यह अहम् की चेतना—मात्र एक स्थिति नहीं है वरन् एक सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का प्रयास है। वह अपने अहम् की स्थापना के लिए जागरूक होता है किन्तु उसकी जागरूकता उसका पागलपन नहीं है। वह अपनी चेतना की सक्रियता के प्रति ईमानदार रहने के लिए ही अपने अहम् का समर्थक है। यदि व्यवस्था, समाज, परम्परा, और दर्शन—ये सब के सब सर्वमान्य रूप में अन्तिम सत्य हैं तो उसकी आत्म-उपलब्धि को ये सब के सब ग़लत, मिथ्या, आडम्बर कह कर टाल सकते हैं; किन्तु कलाकार का अहम् स्थिरता का कायल नहीं होता। वह सत्य के रूपों का अन्वेषण करना चाहता है। समाज की वर्जनाओं से ऊपर उठकर वह जीवन को देखना चाहता है—इसीलिए वह अहम्‌वादी होता भी है और लगता भी है।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि कलाकार जीवन के प्रति जितना जागरूक होता है, उतनी ही मात्रा में वह उसको ग्रहण भी करता है। वह अहम् की निष्क्रियता को नहीं मानता, इसीलिए वह उसकी सक्रियता को प्रतिष्ठित करना चाहता है। सक्रियता की प्रतिष्ठा का एक पहलू अहम् की स्वीकृति है। इस स्वीकृति में समाज कोई कृपा नहीं करता, वरन् उन संभावनाओं को स्वीकार करता है जिनके माध्यम से मानव विचार और मानव कल्पना जीवन के नये आयामों का अन्वेषण करती है। जीवन का यह गुण है कि वह सतत प्रगति की ओर अग्रसर हो और उस संदर्भ को अधिक से अधिक रूप में ग्रहण करे जो उसे पूर्ण बनाने में

शक्तिशाली है। अहम् केवल उस अन्वेषण-प्रवृत्ति का निमित्त मात्र है किन्तु इस निमित्त मात्र का होना आवश्यक है। जब हम कलाकार के अहम् की बात करते हैं तो उस अहम् से हमारा केवल इतना ही आशय होता है कि कलाकार के व्यक्तित्व को उन संभावनाओं के लिए मुक्त किया जाय जो जीवन की प्रगति को विकासोन्मुख बनाती हैं। साथ ही इस कथन का यह भी आशय है कि उस को उन प्रतिज्ञाओं (hypotheses) को परीक्षण और अन्वेषण की स्वतंत्रता होनी चाहिये जिन के माध्यम से वह जीवन को समग्र बनाता है।

व्यवस्था की शृंखला में बन्धा जीवन एक सीमित यथार्थ होता है। उस व्यवस्था के आगे की दृष्टि कलाकार में होती है। व्यक्ति-अनुभूति के माध्यम से ही वह व्यवस्था के अतिरिक्त देख पाता है। यदि इस व्यक्ति अनुभूति को स्वीकार नहीं किया गया तो स्पष्ट है कि उसमें आगे दृष्टि को स्वीकार नहीं किया गया। इतिहास साक्षी है कि इसी मानसिक स्थिति और व्यावहारिक जड़ता के कारण इतिहास में महान् से महान् दुर्घटनाएं भी हुई हैं। व्यवस्था सूर्य को पृथ्वी के चारों ओर घूमती हुई मानती थी; समाज, धर्म, परम्परा सभी इसको मानते थे। गेलेलियो एक व्यक्ति था जिसने इससे भिन्न अनुभव किया। व्यवस्था ने उसकी इस व्यक्ति-अनुभूति को स्वीकार नहीं किया, उसकी हत्या हुई। सुकरात अपने युग का आवारा था, असामाजिक प्राणी था, मार्क्स भी जर्मनी से निर्वासित किया गया था; क्योंकि इन सब ने व्यवस्था और परम्परा के विरुद्ध विद्रोह किया था। क्या ये समाज के प्रति अपना दायित्व नहीं रखते थे? फिर कौन सी सीमा है, कौन सा माप है, जिससे समाज, परम्परा और व्यवस्था इसका निर्णय करेगी कि यह सत्य है और यह असत्य है.............?

अस्तु, कला के क्षेत्र में कलाकार अपने अहम् की स्थापना चाहता है; क्योंकि वह जीवन के विभिन्न आयामों को अपनी अहम् शक्ति के माध्यम से ही साक्षात्कार करता है। सौन्दर्य की अनुभूति और जीवन के अस्तित्व को वह एक मानता है, इसीलिए सौन्दर्य और जीवन के परिप्रेक्ष्य में स्वतंत्रता का प्रश्न उसके सामने अधिक तीव्र रूप से प्रस्तुत होता है। वह स्वतः अपने को समाज का अनिवार्य अंग मानता है; अर्थात् जितनी तीव्रता से वह अपने अहम् को अभिव्यक्ति प्रदान करता है उतनी ही तीव्रता से उसकी जागरूक आत्मशक्ति उस समाज की सार्थकता को स्वीकार करती है। इस अभिव्यक्ति के लिए उसकी स्वतंत्रता आवश्यक है, इस अहम् की निष्कृति के लिए भी उसे स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करना पड़ता है। कलाकार का यह संघर्ष आज के युग का सत्य है। यह संघर्ष अहम्‌वादी कह कर तिरस्कृत किया जा सकता है; किन्तु यह भी सामाजिक दायित्व का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

कलाकार की यह विशेषता है कि उसकी दृष्टि में व्यापकता और भिन्नता दोनों होती हैं। जहाँ तक इस दृष्टि का संबंध है, समाज केवल एक क्रमिक सत्य में अवतरित होता है। जैसा कि कहा गया है, कलाकार अथवा साहित्यकार इस क्रमिक सत्य और वस्तु-सत्य से भी आगे की दृष्टि रखता है, और इस दृष्टि के निर्माण में उसका अहम् ही कार्य करता है। जिस कलाकार का जितना व्यापक अहम् होगा, उसकी उतनी ही व्यापक दृष्टि होगी। जीवन के अन्य क्षेत्रों में,अनुभव के अन्य प्रसंगों में, मानव अहम् का भले हीं कोई विशेष महत्त्व न हो, किन्तु कला के क्षेत्र में,साहित्य के क्षेत्र में, मानव के इस अहम् का विशेष महत्त्व है। यह महत्त्व कई कारणों से है —

● सर्वप्रथम तो यह कि कलाकार की चेतना-शक्ति मूल रूप में आत्मोपलब्धि के स्तर पर ही कार्य करती है। आत्मोपलब्धि के इस प्रयास में यह नहीं कहा जा सकता कि कवि या कलाकार जो अनुभव करता है, वह जन-साधारण या परम्परागत नियमों के अनुकूल ही होगा। जब हम इस भिन्नता की स्थिति को स्वीकार कर लेते हैं तो इस का अनिवार्य निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रत्येक सामाजिक और वैयक्तिक अनुभूति का माध्यम व्यक्ति है। फिर व्यक्ति के अहम् में कौन-सा ऐसा दोष होगा जो यदि स्वीकार कर लिया जायगा तो जीवन की यथार्थ सत्ता नष्ट हो जायगी। इसका यह आशय कदापि नहीं है कि कलाकार या कवि का जन-साधारण या परम्परागत नियमों का उल्लंघन करना ही ध्येय है, किन्तु यह भी सत्य है कि वह कलाकार या कवि जिसने इन नियमों का खण्डन करके नये प्रयोग और नयी अभिरुचि को देने का प्रयास किया है, उसका बहुत बड़ा महत्त्व भी है। अस्तु, कवि की मुक्ति के साथ-साथ उसके अहम् की मुक्ति का एक विशेष महत्त्व है।

● दूसरे यह कि जीवन की मूल प्रवृत्ति जब विकासशील है, तो जीवन की सार्थकता भी इसी में है कि वह प्रत्येक कलाकार को अपनी अभिव्यक्ति का पूर्ण अवसर प्रदान करे। तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' को स्वान्तःसुखायलिखा था किन्तु उसमें उनकी दृष्टि केवल स्वान्तःसुखाय तक सीमित नहीं रही उन्हों ने अपने देश-काल की समस्याओं और नैतिक मूल्यों की भी स्थापनायें की हैं। इसीलिए कोई भी कलाकार यदि अहम्‌वादी प्रवृत्ति का है, अथवा वह अहम् की प्रतिष्ठा को मानता है, तो मात्र इतने से यह कैसे माना जा सकता है कि अहम्‌वादी प्रवृत्ति में केवल दोष ही दोष हैं अथवा उसका महत्त्व कुछ नहीं है। सब से ज्यादा लोकप्रिय ग्रन्थ 'रामचरित मानस' तुलसीदास की अहम्‌वादी प्रवृत्तियों से भरा पड़ा है। उनकी नम्रता में भी जो कटाक्ष और जो व्यंग्य है, क्या उससे 'रामचरित मानस' के महत्त्व में कोई अन्तर पड़ता है? वस्तुतः यदि अनुभूति की गहराई

और दृष्टि है, तो अहम्‌वादी रचना भी श्रेष्ठ हो सकती है।

● तीसरे यह कि अनुभूतियाँ चाहे बाह्य यथार्थ की हों या आन्तरिक यथार्थ की हों, उनका माध्यम व्यक्ति है न कि समाज। जब व्यक्ति उन अनुभूतियों का माध्यम है, तो फिर व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके अहम् से आतंकित होने की कौन सी बात है? अहम् केवल इस बात की स्थापना करता है कि कलाकार के व्यक्तित्व और उसकी स्वतंत्रता का भी महत्त्व है। इस महत्त्व की कोई आकांक्षा नहीं है; वरन् बिना इसके रचना स्वस्थ रूप में नहीं हो सकेगी। मात्र इतना ही इसका लक्ष्य है। इसकी आवश्यकता भी आज के युग में मात्र इसलिए अधिक है कि आज इस युग में मानव समूह के साथ समस्त प्रवृत्तियाँ इतनी भ्रमपूर्ण स्थिति में हैं कि जो कवि या कलाकार उन भ्रांतियों से पृथक् सोचते हैं उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे अपने व्यक्तित्व और अपने अहम् की रक्षा करते रहें।

● चौथे यह कि कला का या किसी भी रचना का कलात्मक पक्ष भी महत्त्व पूर्ण है। कला-पक्ष की दृष्टि और उसकी अभिव्यक्ति कलाकार की अभिरुचि और उसकी आत्मसंवेदना की वस्तु है। यह आत्म-संवेदना और आत्मनिवेदन कुछ अंशों तक अहम्‌वादी होता ही है। जो लोग इस अस्तित्व की आलोचना करते हैं, वे प्रायः यह भूल जाते हैं कि किसी भी कला-कृति की अभिव्यक्ति या उसकी रचना-प्रक्रिया में कलाकार की मन स्थितियों और उसकी आत्म-उपलब्धियों की प्रक्रिया केवल वैयक्तिक होती है। उसके साथ केवल वह होता है और उसकी अनुभूति होती है।

यथार्थ जितना अधिक सशक्त होगा, कलाकार का अहम् भी उतना ही अधिक स्वस्थ एवम् भावपूर्ण होगा। जीवन के प्रति आस्था रखने वाला कलाकार ही अपनी अहम्‌वादी अथवा व्यक्तिवादी सत्ता की रक्षा कर सकता है। जो मात्र परम्परा पर जीते हैं, अथवा जो मात्र प्रचलित और सर्वमान्य सीमाओं में बन्ध कर ही अपनी दृष्टि विकसित करते हैं, उनके सामने इन तत्त्वों की, अहम्‌वादी तत्त्वों की व्यक्त्यानुभूति का प्रश्न हो सकता है—इतना तीव्र न हो किन्तु जो भिन्न दिशाओं में सोचता है, जो नये आयामों का अन्वेषण करता है, उसमें प्रवृत्तियाँ होतीं ही हैं। उनका होना स्वाभाविक भी है।

अस्तु, कलाकार की चेतना वस्तुपरक और आत्मपरक अनुभवों के आधार पर समाज के विचार को इतना ही उभारती है जितना उसका अहम् और उसकी व्यक्ति-सीमा उसे प्रेषित करती है। सामाजिक दायित्व का भार भी उसी सीमा तक वह वहन कर सकता है जिस सीमा तक कि उसकी स्वयम् की अनुभूति उसे अनुप्राणित करेगी। इस प्रेरणा को बाह्यारोपित रूप से प्रस्तुत नहीं किया

जा सकता और न ही इस अनुभूति को प्रशासित किया जा सकता है।

अहम्वादी प्रवृत्तियों को इसीलिए कुण्ठावादी प्रवृत्तियाँ नहीं कहा जा सकता। कुण्ठा विकृतियों और प्रतिक्रियाओं के समर्थन में अतिवाद का द्योतक है। अहम्वाद या अहम् की प्रतिष्ठा में यह आवश्यक नहीं है। जीवन के व्यापक संदर्भ में ही अहम्वाद का अस्तित्व है इस से पृथक् उसका मूल्य या उसकी परिधि जीवन की संकुचित सीमाओं में नहीं है। जीवन अथवा यथार्थ का साक्षात्कार जिन भावस्तरों और विवेक-तत्त्वों को प्रेषित करता है, अहम् उसकी स्वीकृति से ही भविष्य की दृष्टि और सत्य की उपलब्धि को प्रस्तुत करता है, इसलिए वे लोग जो कुण्ठा और अहम् को एक स्तर पर रख कर देखते हैं, वे जीवन के सापेक्ष तत्त्वों को महत्त्व नहीं दे पाते। कुण्ठा रुकावट नहीं है, अगति है, प्रतिक्रिया है, अवरोध और विकृति है; क्योंकि उसके सामने जीवन की सापेक्षता का महत्त्व नहीं है, वरन् इसके विपरीत आत्मप्रशस्ति और आत्मोन्माद का महत्त्व है। जब हम एक बार विवेक और उसके साथ यथार्थ को मान लेते हैं, तब इन आत्म-उन्माद और आत्मप्रशस्तियों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। कुण्ठा में यह प्रवृत्तियाँ ही अधिक उभर कर आती हैं।

कुण्ठा को व्यक्ति-सत्य के समक्ष रख कर नहीं देखा जा सकता। व्यक्ति सत्य केवल व्यक्ति-सत्य नहीं है; वरन् जीवन और समाज के साथ सम्बद्ध है। कुण्ठा समाज और जीवन दोनों की सापेक्षिता को बिना ग्रहण किये भी प्रस्तुत होती है। व्यक्ति-सत्य आस्था का स्वर है, इसीलिए यदि उसमें शंका है, यदि उसमें परंपरा या अन्तिम सत्य के प्रति विद्रोह है, तो वह उस आस्था के अन्वेषण के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए। कुण्ठा में इन तत्त्वों का महत्त्व नहीं है। उसमें अरुचि की मात्रा अधिक होती है. अभिरुचि अथवा सुरुचि का प्रश्न गौण होता है। अरुचि और सुरुचि को बिना समझे किसी भी व्यक्ति-सत्य की अहम्वादी स्वीकृति की कुण्ठा से तुलना करना अनुचित है। अहम्वादी तो व्यक्ति अनुभूति का समर्थन इसलिए करता है कि वह अरुचि और सुरुचि को खण्डित करके सर्वथा नये धरातलों का अन्वेषण करता है।

प्रयोग को बहुधा लोग व्यक्तिवादी कुण्ठा के रूप में लाँछित करते हैं; किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि प्रयोग की मूल प्रवृत्ति कुण्ठा के विद्रोह में है। अहम् की स्वीकृति में ही कुण्ठा का विरोध है; क्योंकि अहम् का परिवेश वैयक्तिक अरुचि या सुरुचि में न होकर उसके विरोध में संभावनाओं के समर्थन के साथ है। अहम् उस भावबोध के साथ विकसित होता है जो हमें जीवन के परिवेश में और आत्मानुभूति के रूप में मिलता है। प्रयोग इस अहम् की स्वीकृति है न कि उस कुण्ठा की जो मात्र आत्मोन्माद का परिचायक है। आत्मोन्माद की प्रकृति केवल आत्म-

तुष्टि के लिए या केवल प्रतिक्रिया में उपजे भावस्तरों के लिए ही होती है। उसके साथ जीवन के उन तथ्यों का कोई सम्बन्ध नहीं होता जो भावस्तर पर यथार्थ और सौन्दर्य के आयामों के साथ विकसित होते हैं अहम् और कुण्ठा में वही अन्तर है जो आत्मानुभूति और आत्मोन्माद में अन्तर है; इसलिए अहम् के विषय में सोचने के साथ इस भेद को जानना आवश्यक है।

अहम् कुण्ठा को परिष्कृत करता है। कुण्ठा रुग्ण मन:स्थिति का द्योतक है; इसलिए उसमें दृष्टि का अभाव होता है। जिस काव्य-रचना में या कला-कृति में दृष्टि का अभाव होगा उसमें अहम् की स्थापना की कोई बात ही नहीं उठती। वह तो केवल उन्माद के आवेग का परिचायक होती है। आवेग के क्षणिक उन्माद का अस्तित्व दृष्टि की व्यापकता पाकर मूल्यवान् हो सकता है; किन्तु दृष्टि की व्यापकता कुण्ठा से नहीं मिलती, वह यथार्थ अथवा जीवन की समग्रता से मिलती है। कलाकार का अहम् प्राप्त समग्रता से आगे का, भविष्य का, साक्षात्कार करता है। इसलिए अहम् अलग वस्तु है—कुण्ठा अलग विकृति है।

प्रत्येक रागात्मक अनुभूति (emotional experience) अथवा बौद्धिक अनुभूति (intellectual experience) कवि अथवा कलाकार की अहम्-शक्ति पर ही निर्भर करते हैं। प्रत्येक अनुभूति व्यक्ति-सामर्थ्य के प्रतिरूप होती है। उसका अर्थ, उसके अस्तित्व, उसका परिवेश व्यक्ति की ग्रहण-शक्ति, उसकी अभिरुचि और क्रियाशील सामर्थ्य पर ही निर्भर करता है। साहित्य या कला की कोई भी प्रवृत्ति, विवेचन या विश्लेषण के रूप में यदि इस सामर्थ्य के ऊपर अपने पूर्वाग्रहों और मत-वादों को आरोपित करती है तो वह अनुभूति की संभावनाओं को संकीर्ण और कुत्सित करती है क्योंकि प्रत्यक्ष रूप में यथार्थ की सार्थकता और उसकी प्रबल आग्रहपूर्ण शक्ति का साक्षात्कार व्यक्ति ही करता है। व्यक्ति की सीमाएं इसीलिए व्यक्ति की अनुभूति द्वारा ही प्रशासित होंगी। जब हम अहम् की सार्थकता या उसकी शक्ति की बात करते हैं, तो उस से हमारा आशय यह होता है कि जब तक अनुभूतियों का साक्षात्कार करनेवाले को अपनी अहम्-शक्ति पर विश्-वास नहीं होगा या जब तक वह उसको भी अनुभूति का एक महत्त्वपूर्ण अंश नहीं मानेगा, तब तक वह उसकी उपलब्धि को ग्रहण न कर पायेगा, और संभावनाओं के प्रति उसकी जागरूक इच्छा-शक्ति प्रेरणा नहीं ग्रहण कर पायेगी। जीवन का साक्ष्य बिना इस बुनियादी अस्तित्व के समग्र नहीं होगा।

In the experiment there is a tension or contradiction between man's beliefs—the sum of his responses as a result of previous experience—and a given situation—the crucial experiment or discovery of a piece of reality which does not fit the response. As a result the hypothesis is changed. Man's consciousness is changed.

—CAUDWELL

प्रत्येक अनुभूति स्वतः कलाकार की choice का प्रतिनिधित्व करती है। विशेष कर प्रत्येक बौद्धिक अनुभूति कलाकार की अपनी अभिरुचि से सम्बद्ध होती है। इस चुनने (choice) में अथवा इस चुनाव के संदर्भ और उसके भोग करने के माध्यम और उपलब्धि में कवि का चेतन अहम् ही प्रमुख होता है। बौद्धिक अनुभूति का सत्य एक सीमा पर आत्मपरक (subjective) होता है तो दूसरी सीमा पर उसका वस्तुपरक होना भी आवश्यक होता है। सत्य निरा रागात्मक नहीं होता। उसके साथ एक बौद्धिक संगति भी होती है। इस बौद्धिक संगति में और रागात्मक अनुभव में कवि या कलाकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व क्रियाशील होता है। जो कुछ उसकी उपलब्धि होती है, वह उसके व्यक्तित्व की, उसके अहम् की, अनुभूति होती है; और इस प्रकार जब तक वह अपने अहम् को अपने व्यक्तित्व और अपनी अनुभति का माध्यम नहीं मानेगा, तब तक वह उसके साक्षात्कार को संवहन नहीं कर पायेगा। जब हम यह कहते हैं कि कलाकार का अहम् एक विशेष महत्त्व रखता है तो उस से हमारा मतलब यह है कि उसके व्यक्तित्व को आत्मविश्वास और आत्मसंवेदन की गहराइयों में जाने के लिए उसके अहम् की जागृत अवस्था नितांत आवश्यक है। चेतना का, इच्छा-शक्ति और दृष्टि का, पूरा दायित्व बिना उसके संभव नहीं है।

बौद्धिक अनुभूति एक गतिशील अनुभूति है। उसकी गतिशीलता (dynamics) में यह निहित है कि कलाकार की चेतना निष्क्रिय होकर उसका साक्षात्कार नहीं कर सकती। सक्रिय साहचर्य या सक्रिय भाग लेने की प्रवृत्ति में उसका अहम् क्षण-प्रतिक्षण नये धरातलों का अन्वेषण करता है: उसकी सीमाओं में विकसित होता है। अहम् की सक्रियता के साथ हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि उसका परिस्थितियों, और संदर्भों से पृथक् अस्तित्व नहीं है। वह तो स्वतः उनका अंश है और उन्हीं के आधार पर विकसित होता है। यह कहना कि इन वस्तु स्थितियों से पृथक् उसकी परिणति है, उतना ही गलत है जितना कि यह कहना कि कलाकर या कवि का व्यक्तित्व बिना अहम् के उनका साक्षात्कार है। वस्तुतः परम्परा ने कुछ शब्दों का प्रसंग इतना भ्रमपूर्ण बना दिया है कि उन शब्दों का वास्तविक अर्थ ही नष्ट हो गया है। अहम् के अहंकार का बोध देना, या अहम् से कुण्ठा को सम्बन्धित करना, सर्वथा शब्दों की प्रकृति

*It is a commonplace that what shocks one generation is accepted quite calmly by the next. This adaptability to change the moral standards is sometimes greeted with satisfaction as an evidence of human perfectibility, whereas it is only evidence of what unsubstantial borndactions people's moral adjustments have. —T. S. ELIOT

को तोड़ना-मोड़ना है। अस्तु, अहम् से जो अर्थ सार्थक होता है वह है कवि के व्यक्तित्व का वह अंश जो अनुभूतियों में गतिशील होकर नयी संभावनाओं और नयी उपलब्धियों को वहन करता है, उनका साक्षात्कार करता है और तब उनको आत्मविश्वास के साथ व्यक्त करने की प्रेरणा देता है।

रागानुभूति के स्तर पर भी कलाकार के इस अहम् का विशेष महत्त्व है। आत्मपरक अनुभूति को निष्क्रियता से पृथक् लाकर क्रियाशीलता की सीमाओं तक प्रस्तुत करने में जो शक्ति जागरूक रूप से कार्य करती है, वह उसके अहम् की शक्ति है। सौन्दर्यानुभूति या यथार्थ के विभिन्न पहलुओं से कलाकार का सम्बन्ध स्थापित होता रहता है; किन्तु यह सम्बन्ध उसके अहम् का ही सम्बन्ध होता है क्योंकि बिना इस अहम्-भावना के वह सौन्दर्य के वैभव और अपने आत्मसम्पर्क को कोई अर्थ ही नहीं दे सकता। अहम् की जागरूकता यदि कलाकार की इच्छा-शक्ति को प्रज्वलित करती है तो उसके साथ ही वह सौन्दर्य और यथार्थ को उस से सम्बंधित भी करती है।

सत्य के रूप और उसके संदर्भों में अनुभूति की मार्मिक संवेदना को वही वहन कर सकता है, जिसके पास अपना स्वत्व और अपनी दृष्टि होती है। अपने स्वत्व और अपनी दृष्टि के लिए आवश्यक है कि जीवन के विभिन्न स्तरों पर हमारी सक्रियता, इच्छा-शक्ति एवम् भोगने की शक्ति में वह संवेदना हो जो निजी और व्यक्तिगत होने के साथ-साथ सत्य के गतिशील गुण को सम्पन्न रखे। कहीं-कहीं इसे विवेक और समसामयिकता के साथ ग्रहण करना कठिन होता है; किन्तु इस का अस्तित्व और इसकी प्रक्रिया बिना विवेक और समसामयिकता के पूर्ण नहीं हो सकती; क्योंकि अनुभूतियों के स्तर पर सत्य का कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता जिसे हम विवेक और समसामयिकता से पृथक् कर के देख सकें।

अस्तु, सत्य और विवेक, सत्य और समसामयिकता के साथ जो तीसरी स्थिति और भी तीव्र ढंग से उभर कर प्रस्तुत होती है वह यह कि सामयिकता और विवेक की स्थिति का निर्णय कौन दे? यथार्थ? सौन्दर्य? भावबोध?—ये सब तो स्वयम् ही किसी दूसरे आधार पर आश्रित हैं। यथार्थ को कौन पहचाने? भावबोध को कौन अंगीकार करे? सौन्दर्य की जिज्ञासा को कौन वहन करे? कौन समसामयिकत्व ऐसा है जो इन सब का साक्षात्कार करता है और इनको नये परिवेश में क्रियाशील बनाता है? और तब इन सब प्रश्नों के उत्तर में केवल मानव अहम् की सार्थकता स्पष्ट होती है। कलाकार का व्यक्तित्व इस अहम् के माध्यम से ही अनुभूतियों को ग्रहण कर पाता है। यदि उसके पास अपना कुछ न हो तो वह केवल निष्क्रिय रूप से ही उसके प्रति जड़ रह जायगा। अहम् की चेतना अथवा उसकी जागरूकता द्वारा ही सामाजिक चेतना को अभिव्यक्ति मिल सकती

है; यथार्थ, सौन्दर्य, ग्रौर व्यापक जीवन-संदर्भ का बोध हो सकता है। स्वत्वहीन व्यक्ति का ग्रपना कुछ है ही नहीं, तो वह देगा क्या ? वह पायेगा क्या ? इसीलिए ग्रहम् की स्थापना से स्वत्व की स्थापना होती है। स्वत्व के महत्त्व (significance) से ही ज्ञान ग्रौर बोध होता है। मनुष्य में सोचने-समझने ग्रौर ग्रागे बढ़ने की प्रवृत्ति इसी ग्रहम् की चेतना से ग्रंकुरित होती है।

ग्रहम् की स्थिति इस बात की प्रेरणा देती है कि ईमानदारी से जो भी ग्रनुभव किया जाय उसको कहने में निर्भीकता हो ग्रौर वह नितान्त दृढ़ता से व्यक्त किया जाय। जो वस्तु सत्य है ग्रौर जो ग्रात्मसत्य है, इन दोनों के बीच कलाकार की चेतना गति पैदा करती है। गति ही नयी उपलब्धि ग्रौर नये सत्य का रूप निर्मित करती है। सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति में जहाँ मनुष्य बाह्य सत्य को या बाह्य यथार्थ को बदलने की चेष्टा करता है, वहीं वह ग्रपने ग्रन्तर् के सत्य को भी परिष्कृत करता चलता है। यह संभव इसीलिए होता है कि उसका ग्रहम् बाह्य ग्रौर ग्रन्तर् को विवेक की दृष्टि दे सकने में समर्थ होता है। यह सत्य है कि जैसे-जैसे वह ग्रपने बाह्य जगत् को नया ग्रर्थ ग्रौर नया संदर्भ देता चलता है, वैसे-वैसे वह ग्रपने ग्रान्तरिक सत्य ग्रौर ग्रपने ग्रान्तरिक तत्त्वों को भी बदलता चलता है। किन्तु ऐसा संभव तभी होता है जब उसके व्यक्तित्व ग्रौर उसके ग्रहम् में वह शक्ति हो जो जीवन के विभिन्न ग्रायामों में प्रवेश कर सके ग्रौर उसके परीक्षण-निरीक्षण द्वारा उनकी संभावनायें ग्रंकित कर सके। ग्रहम् की विशेषता इस प्रक्रिया में ग्रावश्यक ग्रौर महत्त्वपूर्ण दोनों ही है।

ग्रहम् की परिणति इस में है कि मानव व्यक्तित्व को महत्त्वपूर्ण समझा जाय ग्रौर कोई भी सामाजिक, ग्रार्थिक या नैतिक मानदण्ड बिना व्यक्ति-स्वातंत्र्य ग्रौर ग्रहम् के उचित संदर्भ के ग्रधूरा ग्रौर ग्रपूर्ण है। बहुधा ग्रालोचक ग्रहम् की बात करने वाले को कुत्सित समझ कर उसकी उपलब्धियों को भी नगण्य समझते हैं। यह परम्परा ग्रौर रीतिवादी प्रवृत्ति वाले व्यक्तियों की विशेष प्रकृति होती है।

ग्रहम् की सार्थकता पर बल देने का ग्रर्थ कलाकार की स्वतंत्रता से सम्बद्ध है—स्वतंत्रता जो मानव स्वाभिमान ग्रौर उसकी विशिष्टता का ग्रविभाज्य ग्रंग है, स्वतंत्रता जिसका लक्ष्य है मानव संभावनाग्रों को निर्बाध गति से विकसित होने की प्रेरणा देना, जिसका माध्यम है प्रयोग के सक्रिय स्वस्थ दिशाग्रों द्वारा सत्य की उपलब्धि प्राप्त करना। कलाकार की ग्रहम्वादी प्रवृत्ति का यह एक उचित ग्राग्रह है कि उसके व्यक्तित्व को, उसकी ग्रनुभूति को ग्रौर उसकी दृष्टि को प्रतिबन्धों, परम्पराग्रों की ग्रसंगतियों से उठ कर ग्रनुभव करने का ग्रधिकार है।

कलाकार समाज का जीवन्त प्राणी होते हुए और उसके दायित्व को समझते हुए भी, कई अर्थों में भिन्न है। वह सर्वप्रथम तो चेतना-शक्ति में भिन्न है। उसकी चेतना सतत जिज्ञासा और अन्वेषण की चेतना होती है। जो कुछ मानव सभ्यता और संस्कृति में है, मात्र उतने ही से उसे संतोष नहीं होता। वह नये और संभावित आयामों के अन्वेषण में रत होता है। समाज भी अपनी सीमा में उसके प्रति जागरूक रहता है; किन्तु उसको बदलने और उसके विकास की संभावना के साथ-साथ कहीं उसमें एक ठहराव भी होता है, कहीं परम्परा की रूढ़ि भी होती है। समाज के इस स्थिर अंश से कलाकार का व्यक्तित्व संतुष्ट नहीं होता। वह नित्य प्रति की एकरूपता में संतोष नहीं पाता। उसके अन्तर् में नयी भावनाओं और नयी संभावनाओं की सृजन-प्रवृत्ति उसे बाध्य करती है कि समाज ने जितना प्राप्त किया है, नैतिकता ने जितना ग्रहण किया है, संस्कृति ने जिस स्तर तक उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, उनके आगे भी संभावनायें हैं। यदि यह एक आशा और विश्वास कलाकार के जीवन में न हो तो शायद वह भी मात्र जनसाधारण की भांति जो कुछ है उसी पर विश्वास करके रह जाय। सामाजिक प्राणी होते हुए भी समाज की मूल प्रकृति और कलाकार की मूल प्रवृत्ति में यह जो आंशिक अन्तर है वही उसके अहम् की प्रतिष्ठा करता है। अहम् की प्रवृत्ति को इसीलिए किसी और संदर्भ में प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। उसका केवल यही उद्देश्य होता है कि वह अपनी इस जागरूकता का परिचय दे। अस्तु इस बात के कई निष्कर्ष निकलते हैं—

● सर्वप्रथम तो यह कि कलाकार केवल बाह्य यथार्थ (outer reality) तक ही सीमित नहीं रह सकता। उसका अस्तित्व और उसकी संवेदनाओं का आन्तरिक यथार्थ (inner realities) से भी सम्बद्ध है। यहां आन्तरिक यथार्थ का मतलब किसी प्रकार का रहस्यवाद नहीं है। आन्तरिक यथार्थ से मतलब जीवन के साक्षात्कार का यथार्थ और उसके साथ भावनाओं और अनुभूतियों का यथार्थ। बाह्य और अन्तर् के इन दोनों पक्षों को एक सूत्र में समझने और देखने की प्रक्रिया में कलाकार का अहम् विशेष भाग लेता है; क्योंकि वह एक ओर उसके स्वत्व और उसकी वैयक्तिक अनुभूति का प्रतिनिधि होता है, तो दूसरी ओर बाह्य यथार्थ के स्तर पर उसे जागरूक भी रखता है। जीवन के इन तत्वों के साथ ही ईमानदारी से रचना की प्रक्रिया में कलाकार उन स्तरों को उभार सकता है जो एक ओर उसकी अनुभूति का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ होते हैं और दूसरी ओर व्यापक जीवन का साक्षात्कार करते हैं।

● दूसरे यह कि यह मान लेने के बाद कि एक ईमानदार और सच्चे कलाकार में बाह्य और आन्तरिक यथार्थ के अतिरिक्त एक दृष्टि है जिस से

वह वस्तुसत्य के आगे की संभावनाओं को भी देख सकता है । कहा जा सकता है कि इन आगे की संभावनाओं से कवि या कलाकार के अहम् का क्या सम्बन्ध है ? किन्तु इस संबंध का भास बाह्य और आन्तरिक यथार्थ के संघर्ष (tension) में महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस संघर्ष को नयी उपलब्धि तक ले जाने में कलाकार का अहम् और उसका व्यक्तित्व ही सहायक होता है । वैज्ञानिक दृष्टि से इस संघर्ष का विशेष महत्त्व है; क्योंकि इन्हीं के माध्यम से ही नयी भावसंगतियों का अन्वेषण हो पाता है । यह अन्वेषण जिस संघर्ष में उपजता है या जिस संघर्ष में वह कलाकार को नयी दिशा या नयी संभावनाओं की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है वह मात्र 'व्यक्तिगत' होता है । मात्र व्यक्तिगत से मतलब यह है कि वह मात्र कलाकार और यथार्थ के साक्ष्य का परिणाम होता है । इस साक्ष्य को वहन करने की शक्ति उस के अहम् में होती है और तभी वह उसको नये अर्थ और नये संदर्भों तक प्रेषित कर पाता है । बिना इस नियम के, बिना इस गति के, साधारण जीवन की भांति निष्क्रियता ही मिल सकती है । अस्तु, कलाकार का अहम् ही उस चेतना के दुहरे पक्ष को अर्थ देता है ।

● तीसरे यह कि अन्वेषण और उपलब्धि की इस कठिन प्रक्रिया में एक कलाकार जितना तपता है, जितना खपता है, उसको वह बिना एक निश्चित अहम् के सहन नहीं कर सकता । सामाजिक दायित्व भी उसके इस अहम् द्वारा ही व्यक्त होता है अथवा हो सकता है । यह मानना कि कवि या कलाकार केवल एक व्यक्ति है, जिसके पास अपना कुछ नहीं, व्यक्तिगत कुछ नहीं है, अथवा वह बिना अहम् के है सर्वथा भ्रम है । कला के वास्तविक आयाम और उसके वास्तविक अर्थ को बिना अहम् के प्राप्त ही नहीं किया जा सकता । हृदय के विस्तृत संसार के यथार्थ औ बाह्य यथार्थ के रूपों में थोड़ा प्रकृतिगत अन्तर होता है । आन्तरिक यथार्थ और अनुभूति का सूक्ष्म विवेचन और उस विवेचन के साथ व्यापक यथार्थ का संतुलन, यह कलाकार के अहम् के माध्यम से ही हो पाता है । कला या कविता, या साहित्य को प्राणवान् बनाने में कलाकार के अहम् का प्राण और उसकी चेतना का योग है । बिना इस भाग को उचित स्थान दिये कला का मूल्यांकन उचित रूप में संभव नहीं है ।

अस्तु, प्रस्तुत संदर्भ में सामाजिक दायित्व का मात्र राजनैतिक अर्थ नहीं रह जाता । राजनैतिक से आगे वह एक नैतिक और सांस्कृतिक प्रश्न बन जाता है । सामाजिक दायित्व का अर्थ कला के क्षेत्र में भी एक नैतिक प्रश्न ही के रूप में प्रस्तुत होता है । इस नैतिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में सामाजिक दायित्व का क्या अर्थ है, यह जानना भी आवश्यक है ।

यह मानना होगा कि कोई भी कलाकृति सीधे समाज से सम्बन्धित नहीं

होती, वरन् उसका समाज से सम्बन्ध कराने वाला कलाकार होता है जो जीवन और समाज की अनुभूति और अपनी अनुभूति को एक-साथ मिला कर एक कृति का निर्माण करता है। अस्तु समाज और कला क बीच जो चेतन प्राणी है, जो सृजनकर्त्ता है उसकी एक विशेषता है, उसका एक महत्त्व है जिसकी अवहेलना करना समस्त कला की अवहेलना करना है। यदि कलाकार केवल सामाजिक यथार्थ को चित्रित करता रहे, तो शायद सामाजिक दायित्व अधिक सीधे ढंग से निभ जाय। किन्तु कलाकार मात्र सामाजिक यथार्थ का चित्रण नहीं करता: वह वस्तुसत्य अथवा सामाजिक यथार्थ को अर्थ भी देता है और परिप्रेक्ष्य भी प्रदान करता है। वास्तविक विरोध यहीं खड़ा किया जाता है। सामाजिक यथार्थ का चित्रण मात्र असामाजिक नहीं होगा; क्योंकि वह केवल सामाजिक नैतिकता और सामाजिक तथ्यों की स्वीकृति होगा। किन्तु जब वह सामाजिक दायित्व के साथ अपना मत, अपनी दृष्टि देने का प्रयास करता है, अथवा उन नयी संभावनाओं का परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करता है, तब सहसा यह प्रश्न उठता है कि ऐसा कलाकार सामाजिक दायित्व का निर्वाह कर रहा है या नहीं ?

किन्तु किसी भी नैतिक अथवा सामाजिक प्रश्न को उठाने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि किसी भी कलाकृति का महत्त्व तभी होता है जब उसमें नयी संभावनाओं और नयी स्थापनाओं की दृष्टि मिलती है। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेना चाहिये कि जब कुछ नया लिखा जायगा जब कभी भी नये संदर्भ प्रस्तुत किये जायँगे, तो उनमें कुछ-न-कुछ अंश ऐसा होगा ही जो वर्तमान को और परम्परा को खण्डित करेगा या उसे नये अर्थ की संभावना तक ले जायगा। इसलिए सारा प्रश्न यहां टिकता है कि नए परिप्रेक्ष्य और सामाजिक दायित्व की संगति कहां तक संभव हो सकती है ?

स्पष्ट है कि नये की स्थापना उतना ही बड़ा सामाजिक दायित्व है जितना बड़ा दायित्व पुराने का अभिनन्दन या पुराने के चेतन अंश का समर्थन। सामाजिक दायित्व इस से भी आगे की वस्तु है। उसका सम्बन्ध इस से है का मनुष्य और मनुष्य के सम्बन्धों में ईमानदारी हो। सामाजिक दायित्व का यह कदापि अर्थ नहीं है कि मनुष्य मनुष्य के सम्बन्धों का नया परिप्रेक्ष्य न प्रस्तुत किया जाय। मानव प्रगति के जिस मोड़ पर आज हम हैं उसकी यह मांग है कि सामाजिक दायित्व का पूर्ण निर्वाह तभी संभव हो सकता है जब हम यह मान लें कि मनुष्य और मनुष्य के सम्बन्ध किन नये संदर्भों में संभव हैं। केवल सामाजिक दायित्व का नारा लगाने से समस्या का हल नहीं ेगा। इसके लिए आवश्यक है कि वर्तमान युग के तत्त्वों के साथ सामाजिक दायित्व का प्रश्न समझा जाय। आज के युग में मनुष्य और मनुष्य के सम्बन्धों में अधिक उदारता और सहनशीलता

की आवश्यकता है। एक दूसरे को कितना सहन कर सकता है, यही माध्यम हो सकता है जो अन्तिम रूप में इस बात का निर्णय दे कि सामाजिक दायित्व का वास्तविक अर्थ किन सदर्भों में संभव है। न तो परम्परा के समर्थन से सामाजिक दायित्व का निर्वाह हो सकता है और न समाज-निरपेक्ष होने से व्यक्ति-मानव के स्वातंत्र्य की रक्षा हो सकती है। आधुनिकता की यह मांग है कि आज सामाजिक दायित्व के प्रश्न को नये यथार्थ के बदलते सत्यों के साथ देखने की चेष्टा की जाय। मात्र कलाकार की अहम्-स्थापना की आलोचना से कोई सामाजिक दायित्व का पथ नहीं अनुसरण कर सकता।

अस्तु, नये की स्थापना में सामाजिक दायित्व उतना ही सबल रूप से व्यक्त होता है जितने सबल रूप से यह सिद्ध होता है कि कलाकार का अहम् विशेष है। नये की स्थापना का गुण है कि वह अधिक सशक्त रूप से प्रस्तुत होता है। किसी भी कला का सशक्त होना इस बात का प्रमाण है कि उसमें कलाकार का अहम् विशेष अनुभूतियों के साथ व्यक्त हुआ है। कोई भी प्रवृत्ति पतनोन्मुख तो तब होती है जब उसमें शक्ति नहीं होती अथवा जब वह मात्र फैशन की वस्तु बन जाती है। प्रगतिवादी रचनाओं में फैशन का स्वर उतना ही है जितना कि नयी कविता में भी हो सकता है। किन्तु नयी कविता में मात्र लीक पीटने की बात नहीं है, इसलिए उसमें अहम्वादी प्रवृत्तियां अधिक दिखलाई पड़ती हैं। किसी भी अनुभूति का, चाहे वह सामाजिक हो अथवा केवल सौन्दर्यवादी, कलाकार स्वयम् साक्षी होता है और उसके स्वयम् का, निज का, जितना अंश उस रचना में व्यक्त होता है उतनी ही वह रचना नयी होती है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, सामाजिक दायित्व बिना इस निजी अनुभूति के संभव नहीं है। फिर इस निजी अनुभूति अथवा अहम् की अनुभूति में अन्तर कहाँ आता है। वस्तुतः समाज जिन वर्जनाओं को मानता है कलाकार जब उनका खण्डन करके नये तत्त्व प्रस्तुत करता है तभी उस प्रकार की बातें उठाई जाती हैं। किन्तु इस प्रकार के आरोपों से वर्जनाओं के पंजे से छुटा नहीं जा सकता।

सामाजिक दायित्व के साथ व्यक्ति- स्वातन्त्र्य या कलाकार की स्वतंत्रता पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। स्वतंत्रता का वास्तविक मूल्य समाजसापेक्ष है किन्तु इस समाजसापेक्ष स्वतंत्रता के साथ समाज और व्यक्ति की सीमाओं का भी प्रश्न है। जिस किसी ने भी यह कहा था कि "It is better for a man to go wrong in freedom than to go right in chains" उसन स्वतंत्रता के प्रश्न, सामाजिक दायित्व के प्रश्न और व्यक्ति के प्रश्न को एक-साथ देखने की चेष्टा की थी। जीवन का प्रवाह नकारात्मक सीमाओं को केन्द्र बना कर गतिमान नहीं हो सकता। किन्तु जैसे ही हम इन नकारात्मक सीमाओं का

उल्लंघन करते हैं, वैसे ही हमारे ऊपर यह आरोप स्वतः लग जाता है कि हम अहम्वादी हैं, अथवा विकृतियाँ उत्पन्न करते हैं अथवा अराजकता के समर्थक हैं। कलाकार या साहित्यकार की प्रवृत्ति जिस सीमा तक स्वतंत्रता को स्वीकार करती हैं, उसका अर्थ राजनैतिक अथवा साम्प्रदायिक रूप में हमेशा ग़लत लिया जाता है। विचार की स्वतंत्रता और कृतित्व की स्वतंत्रता के साथ-साथ कलाकार नये आयामों को प्रस्तुत करने की स्वतंत्रता मांगता है। वह उनके लिए अनिवार्य है स्थापित सत्य की जड़ता बहुधा उसे इस बात के लिए मजबूर करती है कि वह अधिक जागरूक होकर उसकी जड़ता से आगे बढ़े और नये सन्दर्भों का अन्वेषण करे। अस्तु इस सीमा तक स्वतंत्रता की मांग में वह कौन सामाजिक दायित्व है जिसे वह पूरा नहीं करता। वस्तुतः स्वतंत्रता की अधिक माँग करके वह दायित्व को भी अधिक मात्रा में अपने ऊपर ले लेता है। परम्परा की रूढ़िगत प्रवृत्ति का खण्डन अथवा उसके प्रति विद्रोह करके वह नये संदर्भों का नया भार अपने ऊपर ले लेता है, नयी-नयी स्थापनाएँ सशक्त रूप से प्रस्तुत करने का कार्य वह जान-बूझ कर स्वीकार करता है। फिर यह कहना कि कवि अथवा कलाकार की स्वतंत्रता अथवा उसकी अहम्वादी प्रवृत्ति में निहित अराजकता मिथ्या है, उसका कोई मूल्य नहीं है, बिल्कुल ग़लत है।

सामाजिक दायित्व के नाम पर जितना कुछ लिखा जा रहा है, उसमें से सब का सब कलापक्ष या सामाजिक दायित्व का प्रतिनिधि साहित्य नहीं है। सामाजिक दायित्व के नाम पर झूठी सामाजिकता (pseudo social value) भी बन रही है—ठीक उसी तरह जैसे नयी कविता की अहम्वादी प्रवृत्ति के आधार पर विकृतिपूर्ण रचनायें भी लिखी जा रही हैं। फिर सामाजिक दायित्व या अहम्वादी प्रवृत्तियों का दोष कहाँ है? बात तो उन झूठी कलाकृतियों की उठती है जो न सामाजिक दायित्व से सम्बन्ध रखती हैं और न अहम्वादी प्रवृत्तियों से। वस्तुतः कोई भी सामाजिक दायित्व की रचना बिना अहम्वादी संदर्भ के संभव ही नहीं है। मूसा के कमान्डमेन्ट की भांति सिद्धान्तों का नारा दे देना कला नहीं है। कला की अभिव्यक्ति तो सदैव इसमें होती है कि किसी भी सत्य को कलाकार ने ईमानदारी से किस रूप में ग्रहण किया है।

अहम्वादी प्रवृत्तियाँ जिस सीमा तक नयी कविता में हैं उनका एक मात्र कारण यह है कि इस युग के यथार्थ और उसके बदलते आयामों के साथ आगे बढ़ने की क्षमता नयी कविता में है। इसीलिए नयी कविता की प्रवृत्तियों पर विचार करने के समय जिस बात पर ध्यान देना आवश्यक है वह प्रकृति और विकृति है न कि अहम्वादी अथवा मिथ्यावादी नारे। अहम्वादी कविता भी उतनी महत्त्व-पूर्ण हो सकती है जितनी कि कोई अन्य कविता। कविता को कविता के मापदण्ड

से देखना आवश्यक है, उसके भावबोध और सौन्दर्यबोध को जानने या समझने की आवश्यकता है, न कि इस दृष्टि से उसको देखना आवश्यक है कि यह अहम्वादी है अथवा मिथ्यावादी। अहम्वादी कविता में भी काव्यगत सौन्दर्य अपनी अनुभूतियों के स्तर पर सशक्त एवम् दायित्व की जागरूकता के साथ व्यक्त हो सकता है। पूर्वाग्रहों से कार्य करने वाली बात अलग है; किन्तु वे जो काव्य के सौन्दर्य और उसके दायित्व को सम्पूर्ण तत्त्वों के साथ देख सकते हैं, उन्हें इन पूर्वाग्रहों से उठकर काव्य के कला पक्ष और उसके संदेशपक्ष को देखना उचित है। इन स्थापनाओं के बाद यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्रता अथवा सामाजिक दायित्व को सीमित करने के बाद ही किसी भी अहम्वादी प्रवृत्ति की निन्दा की जा सकती है।

स्वतंत्रता को सीमित करने या उसको एक रूढ़ि के रूप में प्रस्तुत करने के पीछे कहीं-न-कहीं उसके विकसित आयामों से संत्रस्त मनोवृत्ति की झलक स्पष्ट मिलती है। वस्तुतः, सत्य तो यह है कि ––

एक मृषा जिसमें सब डूबे हुए हैं
क्योंकि एक सत्य जिससे सब ऊबे हुए हैं
एक तृषा जो मिट नहीं सकती, इसीलिए मरने नहीं देती
एक गति जो विवश चलाती है, इसलिए कुछ करने नहीं देती
स्वातंत्र्य के नाम पर मारते हैं मरते हैं
क्योंकि स्वातंत्र्य से डरते हैं **––अज्ञेय**

जहाँ तक नयी कविता का सम्बन्ध है, वह परम्परागत मान्यताओं से पृथक् दृष्टि लेकर विकसित हुई है। वह व्यक्ति-मानव और समाज के मौलिक स्तरों को अविभाज्य मानती है। उसके सामने समाज का रूप व्यक्तिसापेक्ष रूप में भी महत्त्वपूर्ण है। स्वातंत्र्य का अर्थ सीमायें ही सीमायें नहीं है; वरन् मुक्ति और दायित्व का विवेक है। यह विवेक सदैव और सभी परिस्थितियों में किसी अनुशासन-प्रशासन द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसे तो कलाकार का व्यक्तित्व ही निर्धारित करता है। उसका अहम् ही इसकी सीमायें आंक सकता है। जीवन का प्रवाह सतत है। उसकी स्वतंत्रता खण्डित नहीं होती, वह केवल परिवेश द्वारा मर्यादित होती है। इस मर्यादा को कवि की आत्मा का आन्तरिक यथार्थ ही अपने विवेक द्वारा स्थापित करता है। इसके अतिरिक्त जो भी शक्ति कलाकार की अनुभूति और उसके संवेदनशील अहम् पर अनुशासन डालना चाहती है, वह मिथ्या स्वतंत्रता की आड़ में कला की संभावनाओं को कुत्सित करती है। यही कारण है कि आज का कवि बार-बार यह दुहराता है कि––

केवल बना रहे विस्तार––हमारा बोध
मुक्ति का
सीमाहीन खुलेपन का। **––अज्ञेय**

यह सीमाहीन खुलापन ही मुक्ति और अहम् को शक्ति देता है। कोई भी सामाजिक दायित्व बिना इस खुलेपन के प्रस्तुत नहीं हो सकता। स्वतंत्रता बिना इस खुलेपन, निष्पक्ष एवम् सक्रिय चेतना के मूल्यवान् नहीं हो सकती। अहम् की प्रवृत्ति इस स्वतंत्रता की समर्थक है। बहुधा इसकी आलोचना भी इसीलिए की जाती है क्योंकि यह स्वातंत्र्य के समर्थन में अभिव्यक्ति पाती है और उसके साथ उन सामाजिक प्रतिबन्धों को नहीं स्वीकार करती जो केवल पूर्वाग्रह और परम्परा के नाम पर मानव जीवन पर लदे हुए हैं। अस्तु, इस अहम् में आत्मचेतना के वे स्तर होते हैं जहाँ जीवन की सार्थकता के साथ उसकी रूढ़ियों की अपेक्षा न करके आत्मविश्वास का स्वर अपनी दृढ़ता के साथ व्यक्त होता है। अस्तु, इसकी स्वीकृति में वर्तमान जीवन का यथार्थ अधिक निखर कर व्यक्त होता है, क्योंकि आज की स्थिति में यह भी एक बहुत बड़ा सत्य है कि —

समाज के चरण तले अनाथ व्यक्ति दलित है
बोध बाल खेलते अजान में अंगार से।
उजाड़ विश्व-पंथ पर, लहू लहान चरण धर
भटक रही मनुष्यता श्रमित, नमित, सभार है। **—वैरागी**

प्रश्न उठ सकता है कि इन अहम्वादी प्रवृत्तियों का विस्तार क्या है? इनका परिवेश और इनकी मर्यादा क्या है? इनका संदर्भ और इनकी भाव-स्थिति क्या है? किन्तु इन प्रश्नों के साथ-साथ इस सत्य को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि व्यक्ति-मानव का स्वातंत्र्य विशेष कर कला के क्षेत्र में आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। कला के क्षेत्र में इसलिए कि इसका सीधा सम्बन्ध कला के मूल्यों से है जो बिना पूर्ण स्वतंत्रता के विकसित नहीं हो सकते, अथवा यदि विकसित होंगे भी तो उनमें वास्तविक मूल्यों के संदर्भ प्रस्तुत नहीं हो पायेंगे। इसी लिए जब हम अहम् की ओर उसके सम्बन्ध में कुछ भी विचार करने चलते हैं तो हमारा यह दायित्व हो जाता है कि उसके सम्पूर्ण परिवेश को देख सकने का सामर्थ्य स्वीकार करके चलें।

अस्तु, अहम् का विस्तार है सम्पूर्ण मानव चेतना की समग्रता में आस्थावान् होने का! यह आस्था मात्र सामाजिक चेतना से नहीं मिल सकती। सामाजिक सत्य और उसकी चेतना के साथ-साथ अन्तर् के सत्य का भी साक्षात्कार करना होगा। नयी कविता में इस आस्था का स्वर सम्पूर्ण अहम् के साथ व्यक्त हुआ है। नयी कविता के अहम्वाद में कुण्ठा या निराशा का स्वर उतना तीव्र नहीं है जितना कि आशा और आस्था का है। नयी कविता का स्वर अहम् के इस

रूप को स्थापित करने का स्वर है जो बार-बार अपना आत्मविश्लेषण करने पर अनुभव करता है कि––

क्या यही हूँ मैं
अंधेरे में किसी संकेत को पहचानता सा
चेतना के पूर्व सम्बन्धित किसी उद्देश्य को
आगत किसी संभावना से बांधता सा ?
.. ..
क्या यही हूँ मैं
उजागर इस क्षितिज से उस क्षितिज तक जागता सा
एक क्षण की सिद्धि, प्रामाणिक परिष्कृत चेतना से
युग युगों को माँजता सा........?

––कुँअरनारायण

किन्तु इस अहम्वादी प्रवृत्ति का परिवेश किन्हीं संकीर्णताओं से नहीं बंधा है। उसका परिवेश है यथार्थ और अनुभूति के साथ-साथ आत्मसाक्षात्कार के क्षणों में प्राप्त उपलब्धि के प्रति ईमानदारी का। इस ईमानदारी की उपलब्धि में शिव की कामना भी अहम् की चेतना से सम्बन्धित सत्य है और तभी उसमें यह आत्म-विश्वास भी जन्म लेता है जो यह कह सकता है कि––

शिव रहूँ मैं देह का हर पक्ष छूकर
मृत्यु तक मेरी विजय हो :
पी गरल जब जब मरण सा व्योम नीला मैं लगूं
तब तब उदय हो
सूर्य संतति,
तुम मुझे मेरे सृजन में बूझना
मैं कौन हूँ ?

––अनाम

और तब इस ईमानदारी के साथ जो कुछ भी उपलब्धि के रूप में प्राप्य है, वह कलाकार के अहम् को नृशंसता की प्रेरणा नहीं देता; वरन् वह उसके अहम् को पहले से अधिक परिष्कृत करता है। वह कलाकार के अहम को वह मर्यादा प्रदान करता है जिस से उसमें सहनशक्ति (tolerance) के साथ-साथ वेदना वहन करने (suffering) की शक्ति प्रदान करती है। यह वेदना, यह सहनशक्ति और इन सब से विकसित भावस्थिति ही आज के कलाकार के जीवन आस्था और विश्वास का स्वर अंकुरित करती है। ऐसा नहीं है कि आज के कलाकार के मन में किसी भी उत्सर्ग के लिए आत्मविसर्जन का भाव न हो। अन्तर केवल वहाँ उपस्थित होता है जहाँ बिना अनुभूति की गहराई के

विसर्जन की मांग प्रस्तुत की जाती है, जहाँ अनुभूति के अस्तित्व को गौण समझकर केवल आदर्श के स्वर्ण सिद्धान्त पर आत्मबलिदान की मांग की जाती है। सहन-शक्ति की कितनी गहराई आज के नये कवि में है इसकी एक झलक निम्नलिखित कविता से स्पष्ट हो जायगी—

मैं
संझलौके का दीपक सही
सगुन भर करने को जलता हूँ
अपने को ही बुझा कर
सुबह की पगडंडी पर
पंगु सा ललकता हूँ।
सांझ मेरी माँ है
बुझा देती है, बुझ जाता हूँ
कितना स्वातंत्र्य !
सब कुछ मान लेता हूँ
क्योंकि,
माँ कहती है
आने वाली रात माँ नहीं
उर्वरा काली मिट्टी होगी
बिना वात्सल्य के
उगा देगी
जो कुछ
वही सूरज होगा।

—देवनारायण

नयी कविता की अहम्‌वादी प्रवृत्ति की कोई भी गति मानव स्वाभिमान की अवहेलना करके व्यक्ति या समाज के स्वत्व को स्थापित नहीं करती। उसके स्वर में और उसकी नैतिकता में जो आग्रह बार-बार उभर कर आता है और जिससे तथाकथित परम्परावादी अक्सर इस प्रवृत्ति पर अनेक आरोप लगाते हैं, वह मानव स्वाभिमान और उसकी मर्यादा की रक्षा में व्यक्त हुआ स्वर है, जिस में बार-बार यह झंकृत होता है कि —

क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी
अभी मेरी आख़िरी आवाज़ बाक़ी है
हो चुकी हैवानियत की इन्तिहा
आदमीयत का अभी आगाज़ बाक़ी है
लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ

नया इतिहास देती हूँ
कौन कहता है कि कविता मर गई —भारती

कलाकार का अहम् जिस मानव स्वाभिमान पर बल देता है उस स्वाभिमान का सम्पूर्ण लक्ष्य है जीवन की समसामयिकता तथा विवेक, और यथार्थ के साथ उस संगीत को स्थापित करना जो मानव व्यक्तित्व को अधिक से अधिक समग्र एवम् गतिशील बना सके। कलाकार अपने अहम् को सदैव व्यापक संदर्भ में रखता है। वही उसकी नियति है, वही उसका मार्ग है। अहम् गति का समर्थक है, उसे किसी भी प्रकार से गतिरोध उपस्थित करने वाला तत्त्व नहीं माना जा सकता; क्योंकि समस्त अनुभूतियों को ग्रहण करने वाली चेतना उन अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देने का माध्यम है। कलाकार के व्यक्तित्व का यह सार्थक एवम् सक्रिय अंश बिना समसामयिकता एवम् विवेक और आस्था के अर्थहीन होता, क्योंकि बिना इन दो तत्त्वों के इन में उचित दृष्टि का विकास नहीं हो पाता। इसीलिए आज की नयी कविता में बहुत कुछ ऐसा है जो तुलसीदास, कालिदास और कबीरदास की वाणियों को नहीं दुहराता, वह अपने आत्म विश्वास और आत्मविकास का पूर्ण समर्थन करके अग्रसर होता है। यही गुण है जो नयी कविता को एक ओर अहम्वादी संवेदना देता है तो दूसरी ओर दायित्व की नैतिकता शक्ति को वहन करने का साहस देता है। यह साहस जिन नयी दिशाओं की ओर प्रेरित कर रहा है अथवा विकास पा रहा है वह मात्र एक हठ नहीं है वरन् प्रकृति है जिसकी पृष्ठभूमि में जीवन की गति का समर्थन है। इसीलिए उसका स्वर बार-बार यह दुहराता है —

ओ महा प्रलय के बाद नये उगते शिखरो
तुम्हें क़सम इन ध्वस्त विंध्य मालाओं की
मत शीश झुकाना तुम अपना।
आ सूर्य तुम्हारा तेजस्वी यह भाल देख
कितने अगस्त्य आयेंगे गुरु का वेश धरे
आशीष वचन कहने वाले।
चिर विनत तुम्हारा मस्तक यों ही झुका छोड़
ये गुरुवर वापस नहीं लौट कर आयेंगे!

—विजयदेवनारायण साही

[११]

आधुनिकता और समसामयिकता

मानव विशिष्टता के संदर्भ में जिन बातों पर विशेष आग्रह किया गया है उनका केन्द्रविन्दु मानव स्वाभिमान (human dignity) और मानव को मानव रूप में (man as man) स्वीकार करने की वह दृष्टि है जो मनुष्य को आत्मविश्वास और स्वत्व प्रदान करती है। इस विश्वास और स्वत्व के आधार पर ही आधुनिकता का सारा दाय आधारित है और समसामयिकता का बोध भी अवलम्बित है। मानव स्वाभिमान का मूल यथार्थ और मनुष्य को मनुष्य रूप में मानने की प्रज्ञा मुख्यत: इन्हीं दो तत्त्वों द्वारा निर्धारित होती है। बिना आधुनिकता की स्वीकृति के मानव स्वाभिमान का औचित्य ही नहीं हो सकता; और बिना इस औचित्य के समसामयिकता का निर्वाह नहीं हो सकता।

प्रश्न उठता है, आधुनिकता का आशय क्या है और उसका संदर्भ विशेष किन तत्त्वों से निर्धारित होता है? आधुनिकता वास्तव में देश-काल के बोध का परिचायक है। अपनी प्रकृति में आधुनिकता मानव प्रगति द्वारा जोड़े गये जीवन के नये अर्थ और नये परिवेश की स्वीकृति है। जब हम यह मान लेते हैं कि ऐतिहासिक क्रम में और अपनी चिन्तन-क्रिया में समूची मानवता ने प्रगति की है और आज जो कुछ भी ज्ञान और विज्ञान की समस्त उपलब्धियाँ हमें मिली हैं उनका एक विशेष महत्त्व है और वे हमारे जीवन और उसकी समग्रता को पूर्ण बनाती हैं, तो निश्चय ही आधुनिकता का एक बहुत बड़ा स्थान हमारे चिन्तन, आचरण, व्यवहार और

संसर्ग में निश्चित हो जाता है। आधुनिकता की सशक्त अभिव्यक्ति और उसका सम्पूर्ण औचित्य इसी में है कि हम मानव प्रगति को स्वीकार करें और प्रगति के उत्सर्ग में जितना कुछ केवल एक ऐतिहासिक विराम बन कर रह गया है उसके अतिरिक्त उसे स्वीकार करें जो समस्त ऐतिहासिक दायित्व के साथ जीवन को आगे बढ़ाता है, उसके समसामयिक दायित्व का निर्वाह करने के लिए आन्तरिक और बाह्य बल प्रदान करता है।

मानव प्रगति में आस्था आधुनिकता का विशेष गुण है। कुछ लोग आधुनिकता का विरोध करने में हजारों वर्ष की मानव प्रगति की निन्दा करके आदि काल की मानव स्थिति की प्रशंसा करने से भी नहीं चूकते; और यहाँ तक भी कह देते हैं कि आधुनिक मानव जीवन ने जैसे कोई प्रगति ही नहीं की है। इस प्रकार के तर्क-वितर्क और विश्रृंखल चिन्तन में मानव इतिहास का जो चित्र वे प्रस्तुत करते हैं वह जीवन में विश्वास न पैदा करके जीवन से घृणा, असंतोष और अरुचि ही अधिक पैदा करता है। इतने विस्तृत मानव इतिहास को केवल असंतोष की दृष्टि से देखने से सारे परिप्रेक्ष्य और दृष्टिकोण में एक विचित्र प्रकार का विघटन जन्म पाता है जो केवल विकृति को ही प्रश्रय दे सकता है, मानव स्वाभिमान और उसके अस्तित्व को नगण्य बना देता है।

किन्तु यह सत्य है कि आज के जीवन-संघर्ष में यह अनास्था लेकर चलना कि इतिहास की मुख्य शक्ति प्रगति की नहीं है और मानव इतिहास इस प्रगति की दृष्टि के बिना भी चल सकता है, असंभव है। सारांश यह कि समूचे मानव इतिहास को एक प्रगति-उन्मुख इतिहास ही माना जा सकता है। अन्य रूप में मानने से हम उस स्थिरता (statics) और प्राणहीन तर्क की संगति बैठाने की चेष्टा करेंगे, जिसमें न तो गति है और न दृष्टि। आधुनिक होने के अर्थ ही हैं कि हम समूचे इतिहास की उपलब्धियों को, उसके अच्छे बुरे तत्त्वों को मानव विकास-श्रृंखला और अनुभूति-व्यवधान का एक जीवन्त अंश मानते हैं। जो कुछ उपलब्धियों के रूप में मिला है, उसको स्वीकार करने के बाद ही यथार्थ की समग्रता की अनुभूति विकसित हो सकती है, इसीलिए प्रत्येक ऐतिहासिक उपलब्धि प्रगति के संदर्भ को विकसित करती है और तभी उस संदर्भ के विस्तार और विवेक के बल पर मानव चेतना विकासशील हो पाती है। आधुनिकता का वास्तविक बोध और उसका दायित्व तभी समझ में आ सकता है जब उसको इस मानव संदर्भ के साथ देखा जायगा। प्रगति का अर्थ भी आधुनिकता के संदर्भ में ही विकसित हो सकता है। जैसे आधुनिकता का यह एक विशेष गुण है कि वह प्रगति में आस्था रख कर ही सारे मानव इतिहास को देखने की चेष्टा करती है, ठीक उसी प्रकार प्रगति का भी यह अर्थ है कि वह आधुनिक मानव की संभावनाओं को संकुचित न होने दे वरन् उसे अधि-

काधिक व्यापक और भविष्य-दृष्टि-सम्पन्न बनाने की चेष्टा करे। आधुनिकता को बिना इस दृष्टि से ग्रहण किये उसका उचित महत्त्व भी नहीं समझा जा सकता; और तब यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिकता को ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि :—

● हमारी दृष्टि 'मानवसापेक्ष' हो और इस सापेक्षता के साथ-साथ वह उन स्थलों को स्वीकार करे जहां मनुष्य ने 'मानव' नैतिकता, मर्यादा और आचरण को एक नया मोड़ दिया है।

● हमारी चेतना में वह दायित्व हो जो समूचे परिवेश में सामान्य मानव की समस्याओं और उसकी गतिविधि के औचित्य को ग्रहण कर सके और उसके सार्थक पहलुओं को एक वैज्ञानिक समर्थन प्रदान कर सके।

● हमारा भावबोध वैज्ञानिक होने के साथ-साथ उन मानव मूल्यों को शक्ति प्रदान करे जो तेजी से विकसित होते जा रहे हैं। आधुनिकता के महत्त्व पूर्ण सत्यों में यह निहित है कि मानव इतिहास आज ऐसे मोड़ पर पहुंच चुका है जहाँ मानव मूल्यों की संगति में परम्परा या रूढ़ि की अपेक्षा मानव विवेक महत्त्वपूर्ण है।

● प्रगति द्वारा प्राप्त उपलब्धियों की स्वीकृति के दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष हैं। सर्वप्रथम तो यह कि मानव संघर्ष का इतिहास, उसके अनुभवों का ज्ञान, जीवन को अधिक यथार्थ बनाने के साथ-साथ उसे वर्तमान से आबद्ध मानता है। अर्थात् मानव अनुभवों के आधार पर जो कुछ भी प्राप्त किया जा सका है वह सब का सब 'मानव' से सम्बन्धित इतिहास है, इसीलिए आज मनुष्य का जो भी रूप है वह न तो ईश्वरप्रदत्त है और न यों ही उपजा हुआ सत्य है; वरन् इस के विपरीत आज जिस रूप में भी मनुष्य है वह उसकी अपनी निजी क्रिया-शीलता का प्रारूप है। मनुष्य ने जागरूक प्राणी के नाते देश-काल के दायित्व को निभाया है और उसका अथक परिश्रम, और उस परिश्रम के आधार पर मिली हुई दृष्टि ही जीवन को अधिक गतिशील बनाती है।

दूसरे यह कि मानव जागरूकता स्वतः यथार्थ का एक बहुत बड़ा समर्थन है। वस्तु-अनुभूति (experience of the matter) और मानव विशिष्टता का संकल्प-सत्य, जीवन को अधिक समृद्धिशाली बनाने में सहायक होते हैं। आज के जीवन की यह विशेषता है कि वह समस्त भावजगत् एवम् बाहय जगत् को दो भिन्न स्तरों से नहीं देखता वरन् वह इन दोनों को वर्तमान और समसाम-यिक परिवेश के साथ सम्बद्ध मानता है। आधुनिकता इसीलिए सदैव अतीत की रूढ़ियों के विरुद्ध प्रस्तुत होकर नये को, वर्तमान को, समसामियकता को, अभि-व्यक्ति देने की दृष्टि प्रदान करती है। उस दृष्टि को प्राप्त करने के लिए, उसकी

स्वाभाविकता को समझने के लिए, सम्पूर्ण मानव की दृष्टि अपनाना ही आवश्यक है। आधुनिक का समवेत रूप, देश-काल की मर्यादा और उस मर्यादा में मानव गति के औचित्य की सार्थकता को उसका एक अंग मानती है।

● आधुनिकता वस्तु-अनुभूति को देश-काल की सापेक्षता प्रदान करती है। उसका आग्रह इस पर नहीं है कि मनुष्य महानता की होड़ में अपना परिवेश भूल जाय; वरन् आधुनिकता का आग्रह इस बात में है कि मनुष्य अपने देश-काल की उपलब्धियों को ग्रहण कर के उसका दायित्व-निर्वाह करे।

● आधुनिकता पूर्वाग्रह से मुक्त बौद्धिक चेतना को प्रत्येक अनुभूति का अविभाज्य अंग मानती है। बौद्धिक चेतना का क्षेत्र और उसका औचित्य आधुनिकता की पृष्ठभूमि में ही सार्थक रूप पाता है; इसलिए आधुनिकता आज की बौद्धिक चेतना की क्रियाशील निष्ठा को भी विकसित करती है।

● ऐतिहासिक दायित्व के प्रति जागरूकता इन्हीं उपलब्धियों द्वारा संभव हो सकती है। देश-काल के संदर्भ में मानव जीवन का प्रगति में आस्थावान् होना स्वयम् एक आचरण की अपेक्षा रखता है। उस आचरण का अनुसरण अथवा उसको बिना किसी संकोच अथवा भेदभाव के स्वीकार करना आधुनिकता का यथेष्ट मत है। ऐतिहासिक दायित्व के प्रति जागरूक होने से जीवन की सक्रियता और यथार्थ के प्रति उचित दृष्टि विकसित होती है। जीवन के सतत प्रवाह में प्रत्येक गति के साथ नयी लहर जन्म पाती है और वह अपने संदर्भ के अनुसार अपना दायित्व निभा कर समाप्त हो जाती है। जैसे लहर की गति अग्रगामी प्रवृत्ति की होती है, उसी प्रकार जीवन की गति भी अग्रगामी ही होकर व्यक्त होती है। यदि वह पीछे की लहर की ओर उन्मुख होगी तो निश्चय ही उस में भँवर पैदा होंगे, विकृतियाँ उत्पन्न होंगी और प्रवाह में एक अनावश्यक गाँठ पनपेगी।

अस्तु, जब हम ऐतिहासिक दायित्व की बात करते हैं तो उसके साथ यह भी स्पष्ट है कि जीवन के उस अंश को हम स्वीकार करते हैं जो उस समय और उस स्थिति की देन है। जैसे-जैसे हम आज के संदर्भ में वस्तुस्थितियों का सामना करते हैं, उनके प्रति अपनी जागरूकता और अपनी सजगता का साक्ष्य देते हैं, वैसे-वैसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देश-काल की प्रत्येक स्थिति का एक रागात्मक महत्त्व भी है जो कला, कविता और जीवन के अन्य क्षेत्रों को समान रूप से प्रभावित करता है। यह रागात्मक अभिव्यक्ति और यह बौद्धिक चेतना प्रत्येक कलाकार की दृष्टि को निर्धारित करती है, उसकी व्यापकता और गहराई दोनों को नये स्तर प्रदान करती है और समूचा मानव व्यक्तित्व आधुनिकता के गतिशील तत्त्वों से परिचालित हो उठता है। यद्यपि प्रत्येक ऊँची कलाकृति में कुछ तत्त्व

ऐसा होता है जिसे देश-काल की सीमा में बांधा नहीं जा सकता; किन्तु ऐसे अंशों में ईमानदारी और प्रभाव उसी समय हो सकता है, जब उसकी पृष्ठभूमि में देश-काल की सम्पूर्ण आत्म-वेदना अभिव्यक्ति पाती है। एवं कलाकार की दृष्टि जितनी भी शक्ति पाती है वह देश-काल के बोध द्वारा ही मिलती है। आज का जो संघर्ष है, वह भले ही कल के संदर्भ में उतना महत्त्वपूर्ण न हो; किन्तु आज के संदर्भ के अनुसार आज की अनुभूति और उस अनुभूति में डूबी हुई आत्मवेदना ही उसे ऊँची और अच्छी कलाकृति का रूप दे सकती है, क्योंकि बात यहाँ आ कर टिकती है कि क्या कलाकार उन क्षणों को भोग कर लिख रहा है जिन में वह संघर्षरत होकर अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति देना चाहता है ? जीवन के जागरूक क्षणों में जीना और उनके द्वारा प्राप्त अनुभूतियों को भोगना—यही कलाकार को आधुनिकता के संदर्भ में इस बात की प्रेरणा देता है कि वह देश-काल के प्रति अपने ऐतिहासिक दायित्व का निर्वाह करे।

किन्तु, यह बिना वैज्ञानिक जीवनदृष्टि के संभव नहीं है। आधुनिकता बिना इस वैज्ञानिक दृष्टि के विकसित नहीं हो सकती। आधुनिकता जीवन को वैज्ञानिक आधार देना चाहती है; इसीलिए उसके पास वे सभी तत्त्व अर्थहीन हैं, जो मात्र परम्परा और अन्धविश्वास के बल पर समस्त मानवीय अनुभूति को एक परिधि में बाँधे रखना चाहते हैं। जैसे जीवन बिना किसी गतिशील चेतना के कोई अर्थ नहीं रखता, ठीक उसी तरह गतिशील तत्त्व की कोई व्याख्या बिना वैज्ञानिकता के संभव नहीं है। इसीलिए —

● आधुनिकता प्रयोग को माध्यम मानते हुए सत्य का आत्मसाक्षात्कार करना चाहती है, प्रयोग, अनुभूतियों के नये स्तर और उनके नये परिवेश में विकसित यथार्थ को अधिक अन्वेषण दृष्टि प्रदान करती है जिस से ऐतिहासिक दायित्व के साथ-साथ हम यथार्थ अथवा जीवन के नये तत्त्वों का साक्षात्कार करने में सफल होते हैं।

● आधुनिकता की दूसरी विशेषता यह है कि वह परीक्षण को बुरा नहीं मानती। कोई भी स्थापना परीक्षण के माध्यम से जाँची जा सकती है। विश्लेषण के माध्यम से उसका बौद्धिक साक्षात्कार एवम् भावनात्मक बोध भी प्राप्त किया जा सकता है।

● कोई भी सत्य या कोई भी मानव अनुभूति आधुनिक दृष्टि से पूर्वनिश्चित या पूर्वनिर्धारित नहीं होती। प्रत्येक भावस्थिति एक क्रम का परिणाम होती है। क्रम के औचित्य को आधुनिकता स्वीकार करती है। किसी भी स्थिति में क्रम और व्यवस्था को देखना, जाँचना और उनके अनुभव पर आगे बढ़ने का प्रयास करना, आधुनिकता को वैज्ञानिक पुष्टि देना विशेष महत्त्व का है।

जब हम आधुनिक युग या आधुनिकता का प्रयोग करते हैं तो हमारा आशय होता है कि हम इतिहास से पाई हुई अनुभूति और विज्ञान से प्राप्त जीवन-विधि को स्वीकार करके चलें, उसका दायित्व निभाने के साथ-साथ उसके भाव स्थलों को अधिक मानवीय संवेदनाओं के साथ प्रयुक्त करके उसे विवेक द्वारा स्थापित करें। आधुनिकता और प्राचीनता में इसीलिए बड़ा अन्तर पैदा हो जाता है। आधुनिक दृष्टि में जो अन्वेषण और विश्लेषण की प्रकृति है, वही प्राचीन रूढ़िवादियों को अनास्था और अविश्वास के रूप में दिखलाई पड़ती है। वस्तुत: आस्था का वास्तविक रूप और उसकी वास्तविक विधि बिना आधुनिकता के अपनी पूर्ण पृष्ठभूमि नहीं पाती। यही कारण है कि स्वच्छन्दवादी (romantic) अथवा छायावादी सदैव वैज्ञानिक दृष्टि को, उसकी विवेचन और विश्लेषण दृष्टि को, सदैव बुरा मानते हैं। वर्डसवर्थ ने भी इस अन्वेषण और जिज्ञासा की निन्दा की है, और स्पष्ट शब्द में यह कहा है कि—we murder to dissect; किन्तु ऐसा केवल एक रोमान्टिक या छायावादी ही कह सकता है क्योंकि किसी भी प्रकार का विश्लेषण या विवेकगत संगति उसे प्रिय नहीं है। उसके सामने केवल भावना ही महत्त्वपूर्ण है; और जहाँ तक उसकी बौद्धिक अनुभूति का प्रश्न होता है, छायावादी ने सदैव उसे वाग्विलास के रूप में ही स्वीकार किया है। आधुनिकता इसके विपरीत उस बौद्धिकता को अर्थ देना चाहती है जो किसी भी अनुभूति की गहराई में निहित रहती है। बौद्धिकता का यह आग्रह आधुनिकता का एक लक्षण है। आज का युग जिस सार्थकता को प्रश्रय देता है, वह बौद्धिक, विवेकपूर्ण और जीवनसापेक्ष ही है। कोई भी ज्ञान या कोई भी उपलब्धि जीवन से उपजती है और जीवन को ही प्रगतिमय रूप दे कर उसे अधिक गतिशीलता प्रदान करती है। जो ज्ञान या जो उपलब्धि इसके अतिरिक्त की संभावना बन कर प्रस्तुत होती है, वह आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य को कुत्सित और विकृत करती है। आधुनिक जीवन का स्तर यह मान कर चलता है कि क्षण-प्रतिक्षण जो भी साक्षात्कार हम करते हैं उसके प्रति हमारा दायित्व है, और वह भी एक गतिशील अनुभूति है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जीवन क्षण-प्रतिक्षण जिस जगत् का, जिस मानव संवेदना का, जिस मनोवैज्ञानिक सत्य का साक्षात्कार करता है वह ऐसा है जिसके आधार पर मानव भविष्य और मानव नियति को गति मिलती और रूप मिलता है।

इसीलिए मानव भविष्य के विकास में विश्वास रखते हुए आधुनिकता इस विस्तृत सृष्टि का पार्थिव रूप, इस के स्थूलत्व और इस की व्यापकता को हेय समझ कर किसी भी ऐसी कल्पना-सृष्टि को नहीं स्वीकार करती जो इसके व्यापक अस्तित्व को अस्वीकार करके बनती है या बनाई जाती है। मनुष्य स्वयम् एक

बड़ा व्यापक विषय है, उसकी अपनी एक गति है, उसकी अपनी महानता है और इस महानता के साथ-साथ उसकी अपनी जटिलता भी है। आधुनिकता यह नहीं मानती कि महानता कोई बाह्यारोपित शक्ति है। आधुनिकता यह स्वीकार करती है कि अपनी समस्त दुर्बलताओं के साथ भी मानव मर्यादा और मानव अभिमान अपने में महान् है। व्यक्ति की दुर्बलता के साथ-साथ, मानव की सीमा के साथ-साथ, उसकी महान् शक्ति और उसका महान् व्यक्तित्व आबद्ध है। प्रत्येक ऐसा चिन्तन जिस में मानव महानता को उसकी इस सीमा से पृथक् के देखने की चेष्टा की जाती है, वह आधुनिक न होकर या तो मध्यकालीन अवतारवाद का समर्थन करता है या आदिकालीन भयत्रस्त मानव बुद्धि का परिचय देता है। आधुनिकता इन दोनों से परे आज के मानव की, उसके देश-काल की, उसकी परिधि और विस्तार की सार्थकता को मूल्यवान् मानती है। जिस स्थल पर आज की मानव गाथा गतिशील है, वह स्थल है वैज्ञानिक दृष्टिकोण का, विवेकपूर्ण सामर्थ्य का, मानव विशिष्टता और आत्मविश्वास का, व्यापक यथार्थ और उसके सामर्थ्य का; इसीलिए जीवन जिस किसी भी सीमा में आज है वह उसकी अपनी सीमा है। आधुनिक युग इन सीमाओं को स्वीकार करके आगे बढ़ने का साहस करता है। यही कारण है कि आज वह अपने जय और पराजय को स्वीकार करके क्षण-प्रतिक्षण अपने दायित्व को निभाने की क्षमता रखता है—उसे न तो प्रायश्चित करना है और न अपनी विजय के लिए कोई अद्भुत यज्ञ की रचना करनी है.....वह आज अपनी जय और पराजय की अनुभूतियों को सहन करने की क्षमता स्वयम् प्राप्त कर चुका है।

● जीवन के प्रति आध्यात्मिक अथवा परम्परावादी दृष्टिकोण न रखकर यथार्थ की गतिशील शक्ति को स्वीकार करने का आग्रह आधुनिकता का एक लक्ष्य है। इस आत्मविश्वास के स्तर में अभिमान नहीं, उसका स्वाभिमान अधिक सशक्त है। विज्ञान ने उसे विकास की गति दी है और उसकी आत्मानुभूति ने उसे उस विकास की श्रृंखला में अपना दायित्व निभाने की क्षमता दी है; इसलिए वह न तो इतिहास के दण्ड से घबराता है और न यथार्थ की कटुता से पराजित होता है। वह इतिहास के दण्ड को भी मनुष्य के रूप में भोगना चाहता है और यथार्थ की कटुता को भी मनुष्य के रूप में वहन करना चाहता है। जिस गतिशीलता से वह जीवन-व्यापार में, उसकी क्रिया शीलता में डूबना चाहता है या उसमें भाग लेना चाहता है उसमें उसके अपने निजी गौरव और निजी व्यक्तित्व की छाप है। आधुनिकता इस निजत्व और इस स्वत्व के स्वाभिमानपूर्ण यथार्थ को अस्वीकार नहीं करती; वरन् उसे बल देती है, आत्मशक्ति और आत्माभिमान देती है।

इतिहास की बहुसंख्यक दुर्घटनाओं से अभिशप्त मानव गाथा आज उस मोड़ पर पहुँच चुकी है जहाँ अभिशापों से पलायन करने की अपेक्षा उनसे डट कर जूझने की क्षमता मनुष्य अपने भीतर अनुभव करने लगा है। आज वह अपने ही क़दमों पर यात्रा करने का सम्बल पा चुका है। आधुनिकता इस मानव उपलब्धि को महत्त्वपूर्ण समझती है। आज का युग-सत्य मानव की इस क्षमता को, उसके विकलांग जीवन और जर्जरित सीमाओं के साथ होते हुए भी सहगमन की प्रेरणा प्रदान करता है। यह प्रेरणा मनुष्य के अदम्य साहस और उसके साथ-साथ उसके संघर्ष-रत जीवन की एक उपलब्धि है। अधुनिकता इन दोनों को मानव गतिशीलता के अनुरूप समझती है। ऐसा इसलिए है कि आधुनिक युग और उसकी समस्यायें स्वयम् उस सीमा से उपजी हैं जहाँ मनुष्य ने अपने इतिहास को ऐसा बनाया है जिसमें प्रत्येक युग की मुख्य सीमा-रेखायें अपनी जड़ता के बावजूद भी उसकी दृष्टि और उसकी ज्ञानवृद्धि को संकुचित नहीं बना सकीं। कौन जानता था कि न्यूटन अपने उद्यान में बैठा-बैठा आधुनिक युग की विचारधारा का सूत्रपात कर रहा है, कौन जानता था कि डारविन अपनी प्रयोगशाला में बैठा-बैठा मानव जीवन की दृष्टि में ही क्रान्ति प्रस्तुत कर देगा ? फ्रायेड, आइन्स्टाइन में से कौन ऐसा है जिसने यह पहले ही से जान लिया था कि वह मानव में एक भयंकर क्रान्ति का सूत्रपात कर रहा है ? किन्तु यदि ये व्यक्तित्व न होते तो शायद आज के युग का समारंभ ही न होता।

इसीलिए आधुनिकता की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वह समस्त विकास और गति का केंद्र मनुष्य और उसकी उपलब्धि इन्हीं दोनों तत्त्वों को मानती है। मानव उपलब्धि के परे की किसी भी दृष्टि को वह मानव-सम्बन्धी मानने के लिए तैयार नहीं है। यदि भौतिक तत्त्वों के विस्फोट से उसने अणुशक्ति जैसी गतिशील शक्ति का ज्ञान प्राप्त किया है तो दूसरी ओर उसने विस्फोट में धूल-धूसरित मानवता की पंगुता का भी अनुभव किया है। यदि एक ओर मानव जीवन की आन्तरिक उथल-पुथल को चीड़-फाड़ कर फ्रायेड ने रक्खा है तो बाह्य जगत् के यथार्थ को भी मार्क्स जैसे चिन्तक ने चीड़-फाड़ करके नग्न रूप में प्रस्तुत किया है; और इन सब ने आधुनिकता को एक सम्यक् रूप दिया है, मनुष्य की दृष्टि को विकसित आयामों के परिप्रेक्ष्य में उभारा है और इस से जो आत्मविश्वास मिलता है वह अधुनिकता को जन्म देता है। इसीलिए उन अभिशापों को नयी दिशा में मोड़ने का दायित्व भी फ्रायड, डारविन, मार्क्स और आइन्स्टाइन के बाद आने वालीमावनता का दायित्व है। आधुनिकता इस दृष्टि से विकसित होती है। यही उसका दाय है जिसे वह मानव मात्र में फलीभूत होना देखना चाहती है।

हो सकता है कि आज तक की उपलब्धियों का कोई महत्व ही न हो किन्तु मानव भविष्य जिस किसी भी रूप में प्रस्तुत होगा उसका अपना महत्व होगा। उपलब्धि उसकी चाहे जो हो किन्तु मानव इस से बंधा (committed) है। आज के जीवन को बिना उपर्युक्त विचारों के सोचा ही नहीं जा सकता क्योंकि इन्हों ने मनुष्य का रूप और उसकी गति बदल दी है, उसकी नियति को सर्वथा नयी दिशा की ओर मोड़ दिया है। आधुनिक जीवन का कोई भी अर्थ, कोई भी संदर्भ, बिना इन रेखाओं के पूरा ही नहीं हो सकता।

अस्तु, प्रस्तुत घटनाओं ने आज के जीवन को जो उपलब्धियाँ दी हैं उनका कई प्रकार का महत्व है। जीवन की दृष्टि में उन्हों ने यथार्थ की उन सीमाओं का अन्वेषण किया है जिन के माध्यम से मानव की परिभाषा एक रहस्य की अपेक्षा वैज्ञानिक हो गई है। विकास का गतिशील तत्त्व, जीवन और प्रकृति के संदर्भ, समाज और व्यक्ति के रिश्ते, नैतिकता और अनैतिकता के प्रतिमान, इन सब को एक नये सिरे से विकसित होना पड़ा है। और जब आधारभूत (fundamental) परिवर्तन उपस्थित होता है तो एक विशेष महत्त्वपूर्ण क्रान्ति का जन्म होता है जो जीवन के सभी माध्यमों को झकझोर देती है। आज भी जिस स्थिति में समूची मानवता है, उसकी अधिकांश पृष्ठभूमि बदल चुकी है और नयी पृष्ठभूमि में मनुष्य जो कुछ भी अनुभव कर रहा है उसे व्यक्त करने में, उसे समझने और अनुभव करने में, उसे दिन प्रतिदिन नये प्रकार की अभिव्यक्ति और नये प्रकार की भाषा को उपयोग में लाना पड़ रहा है। आज की भाषा, आज का भावबोध, आज की अभिव्यक्ति और आज का सम्बोधन इतना नया और अनोखा इसी लिए लगता है क्योंकि उसमें पूर्व रूप का अधिक तत्त्व नहीं है, वह तो आज का, इस युग का, इस क्षण-प्रतिक्षण के जीवन की गतिशीलता का साक्षात्कार है। हो सकता है कि पृष्ठभूमि के बदल जाने से, परम्परा से हटकर सोचने से, नये सन्दर्भ और नये आयामों के सहसा आ जाने से, आज की अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति अधिक न समझ में आये या उसमें स्वयम् कुछ अपूर्णता रह गई हो; किन्तु यह अपूर्णता किसी विघटन की नहीं बल्कि नये विस्तार की अपूर्णता है जो शंकाकुल होकर भी जीवन को निस्सार मानने के लिए प्रस्तुत नहीं है।

एक बात जो इन सब तत्त्वों से निकलती है वह है मानव सामर्थ्य से सम्बन्धित जीवन की आस्तिकता की। आज का मानव जिस संदर्भ और जिस भी स्थिति-परिस्थिति में है वह उस से भागना नहीं जाहता। जो कुछ भी उसे उपलब्धि के रूप में मिलता है, उसे वह स्वीकार करता है, और जो कुछ अपने विवेक द्वारा ग्रहण करता है उसके प्रति भी वह उत्तरदायी है। आधुनिकता इन दो छोरों पर जिस दृष्टि से संवेदना देती है उसमें यह निहित है कि

कोई भी मुक्ति अथवा कोई भी गति स्वीकार की सीमा से पृथक् और ग्रहण की मर्यादा के विपरीत नहीं है। यदि इतिहास ने उसे नागासाकी-हीरोशिमा जैसी दुर्घटनायें दी हैं तो वह इन दुर्घटनाओं के बावजूद भी जीने की क्षमता रखता है। यदि उसके विवेक ने और उसकी दृष्टि ने कुछ भूलें की हैं तो वह उन भूलों के परिणामों से बचना नहीं चाहता; उन परिणामों को झेलकर जीवन को नये परिवेश में ले चलना चाहता है। जीवन की अबाध गति और मानव सामर्थ्य के समवेत अस्तित्व द्वारा ही आधुनिकता मनुष्य को मनुष्य रूप में स्वीकार करने की प्रेरणा देती है। साथ ही वह यथार्थ की तथाकथित कटुता और उसकी उग्रता को सौन्दर्य-दृष्टि से देखने की प्रेरणा भी देती है। यह प्रवृत्ति ही हमें जीवन को समग्रता के संदर्भ में देख पाने की क्षमता प्रदान करती है।

स्वाभिमानी मानव व्यक्तित्व के साथ जिस विशिष्ट आचरण की झलक हमें आधुनिक जीवन में दिखलाई पड़ती है वह किसी भी स्थिति या परिणति को भोगने की, उसे भोग सकने की, अदम्य शक्ति है! यह माना जा सकता है कि आज का जीवन जहाँ एक ओर नई गतिविधि को, और उसके द्वारा व्याप्त जीवन-सत्य को, वहन करने की प्रेरणा देता है वहीं वह उसके संदर्भों में जीने के साथ-साथ उसे भोगने की शक्ति भी प्रदान करता है। सुख हो चाहे दुःख हो, सब को बिना किसी भी अन्यमनस्क भाव से भोग सकने का सामर्थ्य भी उसी व्यक्ति में होगा जो अपने निजत्व और स्वत्व को मूल्यवान् समझेगा। जिसके पास अपना कुछ नहीं है, वह स्वयम् भोगता भी नहीं। रस, सौन्दर्य, अभिशाप, वरदान, इन सब में, जब तक मानव व्यक्तित्व का अपना कुछ नहीं होगा, जब तक वह अपने दाय और अपनी क्रियाशीलता का अर्थ नहीं समझेगा, अथवा जब तक वह जीवन के अच्छे-बुरे में सक्रिय रूप से भाग नहीं लेगा, तब तक न तो वह सौन्दर्य का और न जीवन का उचित भोग करने की शक्ति ही पा सकेगा। आज जिस सीमा-रेखा पर सम्पूर्ण मानवता खड़ी है उस से यह स्पष्ट है कि उसमें आत्मविश्वास का अंकुर है जो इतनी ही तीव्रता से जीवन में क्रियाशील है जितनी तीव्रता से कि वह परिणामों को स्वीकार करने में आतुर है।

सारांश यह कि जिसे हम भोगते हैं—चाहे वह वेदना हो अथवा सौन्दर्य की विभूति, दोनों ही हमें अनुभूति के स्तर पर वह प्रौढ़ता और विचार शक्ति प्रदान करते हैं जिस में हमारा निजी स्वर ही मुखर होकर उभरता है। निजी स्वर और निजी अनुभूति का जो स्तर आधुनिक जीवन में व्यक्त होता है और जिसके माध्यम से हम आधुनिक जीवन को जान-पहचान सकते हैं, उसमें हमें भोगने की क्षमता का आभास भी प्राप्त होता है। अस्तु जिस सुख को, जिस वेदना को, जिस उपलब्धि और जिस संशय को हम में भोगने की क्षमता नहीं होगी, वहन करने की शक्ति नहीं

होगी उसके प्रति हम सहधर्मा होकर आस्थावान् या अनास्थावान् भी नहीं हो सकते। यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण सत्य है जिसको आधुनिकता के संदर्भ में समझना और जानना आवश्यक एवम् अनिवार्य दोनों ही है।

मानव विशिष्टता के संदर्भ में इस भोगने की क्षमता का बहुत बड़ा महत्त्व है। मानव विशिष्टता अपने सुख-दुःख को बिना किसी शिकायत के भोगने में जीवन के स्वस्थ तत्त्वों को विकसित करती है। आधुनिकता इस मानव दायित्व को बल और शक्ति दोनों ही देती है क्योंकि वह अपने समस्त परिवेश का केन्द्र-बिन्दु मानव को मानती है और उसकी क्षमता के बल पर ही वह उन रूढ़ियों और परम्पराओं का खण्डन करती है जो आज के संदर्भ में निरर्थक और सारहीन हो चुकी हैं। जीवन की प्रतिक्षण विकासोन्मुख गति में आस्था रख कर ही यह आधुनिकता हमें वह दृष्टि देती है जिससे हम अपने संदर्भ के साथ-साथ अपनी गतिविधि को भी अंकित करते हैं।

वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण जिसका आग्रह हमें आधुनिकता में मिलता है, उसे स्वीकार कर लेने के बाद कई और तत्त्व अपने-आप स्पष्ट हो जाते हैं। आज के मशीन-युग का यथार्थ भी अधिक स्पष्ट होकर प्रस्तुत होता है। प्रेम, घृणा, स्नेह, दया, श्रद्धा, भक्ति, मित्रता, शत्रुता—इन सब में भी एक परिवर्त्तन हो जाता है। इस परिवर्त्तन को स्वीकार करना आज के कलाकार के लिए नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है। जैसे जीवन का संदर्भ और उसका परिवेश प्राचीन मानदण्डों के अनुसार आज की अनुभूति वहन करने में असमर्थ है, उसी प्रकार आधुनिकता के संदर्भ में वे उपलब्धियाँ भी ग्राह्य नहीं हो सकतीं जो मात्र इसीलिए विकसित होती हैं कि वह कहीं न कहीं किन्हीं पूर्वाग्रहों से परिचालित होकर आधुनिकता के आवरण में विकसित होती रहती हैं। आज का सारा जीवन इतनी तेज गति से चल रहा है और उसमें इतना प्रवाह और आगे बढ़ने की क्षमता है कि जब तक उसके क्षण-क्षण को संगृहीत नहीं किया जायगा अथवा जब तक समूची आधुनिकता के संदर्भ में इस क्षण-क्षण के दायित्व को अच्छी तरह समझ नहीं लिया जायगा तब तक आधुनिकता का वास्तविक बोध और उसके प्रति उचित कर्त्तव्य का निर्वाह भी नहीं हो पायेगा। आधुनिकता इसीलिए कोई रूढ़ि नहीं है : वह एक ऐतिहासिक परिधि है जो एक युग के मानसिक धरातल को कुछ नयी उपलब्धियों के अनुसार काटती-छांटती है अथवा उसमें नये संदर्भ जोड़ती है और पुरानों को या ऐसों को, जो सतत गतिशील नहीं रह पाते, अपने से पृथक् भी करती है।

अस्तु, आधुनिकता की प्रस्तुत व्याख्या के बाद सब से महत्त्वपूर्ण प्रश्न सम-

सामयिकता का उठता है। समसामयिकता का संदर्भ भी इसी बात पर आधारित है कि मनुष्य जीवन के प्रत्येक क्षण, छोटे से छोटे क्षण, के प्रति भी अपना एक ममत्त्व और अपनी एक दृष्टि रखता है अथवा रख सकता है। काल के अजस्र स्रोत में, उसके प्रवाह में, हम इन क्षणों को भले ही न देख सकें, उनका महत्त्व न समझ सकें किन्तु एक सीमित देश-काल में इन क्षणों का एक बहुत बड़ा महत्त्व भी हो सकता है। जहाँ आधुनिक युग एक बहुत ही तेज़ गति-चक्र से (fast tempo of life) जीवन को खींचता हुआ लगता है, वहीं उसकी यह विशेषता है कि वह इस में उन क्षणों को भी सुरक्षित रखना चाहता है जो जीवन की गतिशीलता से आबद्ध हमें प्रत्येक क्षण झंझोड़ते रहते हैं। समसामयिकता द्वारा ही उस क्षण का और उस महत्त्वपूर्ण अनुभूति का स्वरूप निखर सकता है जो हमारे निजी व्यक्तित्व को सम्पूर्ण परिवेश के साथ प्रभावित करती है।

यहाँ पर यह भी जान लेना आवश्यक है कि वह तर्क, वह दृष्टि, जो सदैव किन्हीं शाश्वत सिद्धान्तों और विचारों के सामने समसामयिकता को हेय समझती है, वह वास्तविक मानव अनुभूतियों और जीवन की जागरूक शक्तियों को सीमित करके देखने का प्रयास करते हैं। समसामयिकता का अनुरोध जीवन के बाहुल्य (richness) के प्रति है, इसलिए उसका विरोध उन सभी तत्त्वों से है जो एक-रसता अथवा एकरूपता को प्रश्रय देते हैं। आज के गतिशील जीवन की तेज़ गति उन सभी सत्यों की आत्मा बदलती चलती है जो अपनी समग्रता के साथ मनुष्य के जीवन में आते हैं और उनको किसी न किसी रूप में प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। समसामयिकता इसीलिए आधुनिकता के संदर्भ में उन समस्त शाश्वत मूल्यों और सत्यों को घात-प्रतिघात द्वारा बदलती है, जो जड़ हैं अथवा जो जीवन के बाहुल्य के साथ आगे बढ़ने में असफल हैं। फिर शाश्वत की परिधि में बांध कर न तो कोई मानवानुभूति आँकी जा सकती है और न वह मानवीय संवेदना और जीवन के परिवेश के प्रति न्याय ही कर सकती है।

कला के क्षेत्र में उस क्षण को महत्त्व देना होगा, उसकी सार्थकता स्वीकार करनी होगी, जो कलाकार के मानसिक धरातल को, उसकी संवेदनशीलता को, एक-साथ प्रभावित करता है; और उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को एक नये यथार्थ का दर्शन कराता है। यदि वह अनुभूति अथवा उस क्षण का महत्त्व अनन्त कालगामी नहीं है, अथवा यदि वह देश की सीमा पार करके निरपेक्ष नहीं होती है, तो इसमें न तो कोई कमी आती है और न कोई त्रुटि ही उपस्थित होती है। समसामयिक जीवन और उसकी अनुभूतियों का आग्रह आज के जीवन में वह स्थल प्रदान करता है जिसके माध्यम से हम वर्तमान को समूचे मानव संदर्भ के साथ देख सकते हैं। जीवन वस्तुतः वर्तमान में ही अधिक क्रियाशील अभिव्यक्ति पाता है; और उस

अभिव्यक्ति में सामान्य जन के जीवन की चित्रावली प्रस्तुत करके हमें अपने आदर्श, दृष्टिकोण और गतिविधि का दर्शन कराता चलता है। वस्तुत: वे जो वर्तमान में नहीं जीते या जो वर्तमान को नहीं भोग पाते वे भविष्य के स्वप्नों में डूबे हुए असाधारण स्वप्नद्रष्टा होते हैं अथवा वे अतीत में डूबे हुए परम्परावादी होते हैं जिनके पास न तो यथार्थ की गतिशीलता को परखने की क्षमता होती है और न वह अन्तर्दृष्टि होती है जिसके बल पर वह सत्य के नये पहलुओं का अनुभव स्वयम् कर सके। ऐसी स्थिति में समसामयिक दायित्व निभाने के लिए, वर्तमान को समझने और उसके संदर्भ में प्रस्तुत करने की सार्थकता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

● यथार्थ की गतिशीलता समसामयिकता द्वारा ही वहन की जा सकती है। इस सत्य के बाद कि यथार्थ की वास्तविक प्रकृति गतिशील है और वह अपनी गतिशीलता के आधार पर ही अनुभूतियों को संवेदनाशील बनाती है, समसामयिकता का अर्थ और भी स्पष्ट होकर उभर सकता है। आधुनिक विचारधारा में मानव अस्तित्व के साथ जिन तथ्यों को हम नित्यप्रति देखते और अनुभव करते हैं, वह यह है कि जीवन को तभी जिया जा सकता है, उसका उपभोग और उपयोग तभी हो सकता है जब उसको आधुनिक मानवीय संदर्भों में रख कर देखने की चेष्टा की जाय और इस प्रयास में जीवन के उन अंगों को हेय न समझा जाय जो वर्तमान क्षण और उसके विशिष्ट गुणों के अनुकूल आचरण की माँग करते हैं। समसामयिकता इसलिए और भी यथार्थ के सम्पूर्ण अस्तित्व को, उसकी समस्त गतिशीलता के साथ, वहन कर पाती है; क्योंकि उसका अपना आग्रह न तो किसी शाश्वत नियम या मानदण्ड का पोषक होता है और न वह उससे बन्ध पाता है।

● अनुभूति का आधुनिक स्तर यह मान कर विकसित हुआ है कि जीवन की छोटी सी छोटी अनुभूति और उस अनुभूति में निहित सत्य का महत्त्व है। यदि सम्पूर्ण मानवता के व्यक्ति-सत्य का हमें आदर करना है तो उसका सब से बड़ा माध्यम वह समसामयिकता है जिसके आधार पर हम आज के तेज़ गति वाले जीवन को अर्थ और उचित स्थान दोनों ही दे सकते हैं। आज का जीवन महागाथा में उतना रस और तुष्टि नहीं पा सकता; क्योंकि जीवन की गतिविधि में न तो इतना ठहराव है और न इतना धैर्य। वह तो केवल इतना जानना चाहता है कि विस्तृत जीवन में वह कितना अपना होकर बिता सका।

● समसामयिकता के आयाम से इसीलिए यह आवश्यक हो जाता है कि हमारी दृष्टि उस विस्तार की अपेक्षा उस गहराई को स्वीकार करे जो अधिक से अधिक आत्मवेदना और निजी अनुभूति को मानवीय स्तर प्रदान करके

उसे सशक्त और जागरूक आत्मबोध का चिह्न प्रस्तुत कर सके। जीवन की तीव्र गति के साथ मानवीय धरातल को बनाये रखने के लिए और उसकी वास्तविक उपलब्धियों को अंगीकार करने के लिए, समसामयिक विचार और उनके प्रति ईमानदारी रखना आवश्यक है।

क्षण और उसके प्रति दायित्व का अर्थ है मानव व्यक्तित्व को उन तत्त्वों के प्रति जागरूक रखने की प्रवृत्ति जो परम्परा और पूर्वाग्रह के कारण छूट जाते हैं या जिनका उपयोग अति वैयक्तिक होने के नाते या परिवेश में सीमित होने के नाते नहीं हो पाता। वस्तुतः आज के युग की स्थिति ऐसी है कि मानव व्यक्तित्व का अधिकांश उपेक्षित और अपरिमित रह जाता है। राजनीति से लेकर साहित्य के क्षेत्र तक में जो द्वन्द्व बहुधा देखने में आता है और जिसके परिणाम-स्वरूप मानव व्यक्तित्व (personality) में विघटन की प्रतिच्छाया भी दीखती है, वह उन विरोधी तत्त्वों के कारण है जो मनुष्य को उसका उचित संदर्भ दिये बिना किन्हीं पूर्वनिश्चित सिद्धान्तों या दृष्टियों के आधार पर मापने का प्रयत्न करते हैं। समसामयिकता का दायित्व इनके विरोध में प्रस्तुत होकर इस बात का आग्रह करता है कि मनुष्य को उसके उचित संदर्भ और उसकी उचित पृष्ठभूमि में उसकी अनुभूति को अधिक निकट से देखने और समझने का अवसर प्राप्त हो सके।

समसामयिकता के अध्ययन के साथ-साथ हमें उस जीवन दृष्टि की ओर भी देखना चाहिए जिस से आज का युग प्रतिक्षण प्रभावित हो रहा है। मानव सभ्यता आज उस स्थल पर पहुंच चुकी है जहां वह यदि चाहे तो अपने सर्वनाश को उतनी ही जल्दी गति दे दे जितनी कि शायद आज से पहले युगों में संभव नहीं थी। ठीक उसी प्रकार यदि वह चाहे तो आज अपनी समस्त विवेक-शक्ति और संयमित मर्यादा से मानव सभ्यता और संस्कृति को सर्वथा नया संदर्भ देकर जीवन का कलेवर ही बदल दे। आधुनिक युग इस दृष्टि से एक नये प्रकार के संक्रमण का युग है, जिस में मानव चेतना नयी समस्याओं और नयी परिस्थितियों से घिरी हुई अपना पथ निर्माण करने में रत है। एक प्रकार से यह युग एक संधि-युग भी कहा जा सकता है क्योंकि सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व के सामने जो कुछ भी मूल्य थे वे आज के नये परिवेश में टूट रहे हैं; किन्तु जो नये मूल्य और नये प्रतिमान विकसित हो रहे हैं उनको ग्रहण करने की क्षमता भी अभी पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पा रही है। संभव है कि इस संघर्ष में जीवन एक बार फिर बिखरे, टूटे, और विशृंखलता के निकट पहुँच जाय; किन्तु यह भी संभव है कि आज के इस बिखराव में से ही वह दृष्टि विकसित हो, वह धरातल मिल सके, जिस पर हम अधिक आस्था और विश्वास के साथ टिक सकें। ऐसी स्थिति में और ऐसी

पृष्ठभूमि में अन्ततोगत्वा हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह यह है कि चाहे जिस तीव्रता से, अथवा चाहे जिस मात्रा में, हमारा आज का जीवन विपाक्त और कुण्ठा-ग्रस्त हो, हम इस को भी सम्पूर्ण शक्ति से संभाल सकते हैं यदि हमारा विश्वास उस मानव विशिष्टता और विवेक में हो जिस की निष्ठा सम्पूर्ण मानव गाथा के विकास-क्रम को संचालित करती रही है। आधुनिक युग की समस्या बहुत अंशों में मानव स्वाभिमान और उसके आत्मसम्मान की समस्या है। शायद आज से अधिक मानव सम्मान को ठेस और वेदना इतिहास के किसी अन्य युग में नहीं मिली है। किन्तु यह भी सत्य है कि आज से अधिक सचेष्ट और सक्रिय मानव चेतना अपनी मर्यादा और अपने सम्मान के लिए पिछले युगों में नहीं रही है। आज का अपमानित मानव व्यक्तित्व शायद अधिक सतर्कता से अपने स्वाभिमान और सम्मान को साधिकार रूप में प्रस्तुत करने में तत्पर है। इसीलिए उसकी जागरूकता और गतिशील चेतना अपने समसामयिक और तत्कालीन परिवेश में अधिकाधिक सक्रिय भाग लेने में तत्पर भी है।

संभावनाओं में जिस आशा के प्रति आज का युग सजग और सचेष्ट है उसमें यह निहित है कि मनुष्य का विवेक आज अपने दायित्व से कतरा कर पृथक् अस्तित्व स्थापित करने के पक्ष में नहीं है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि उसकी सम्पूर्ण चिन्तन-शक्ति जीवन की सक्रियता में अकर्मण्य बन कर नहीं रहना चाहती। जीवन के सभी क्षेत्रों में सक्रिय होने की तत्परता की ही अभिव्यक्ति हमें समसामयिकता में मिलती है। यद्यपि इस समसामयिकता का आधार हमारे जीवन के गहनतम अन्तरालों में व्याप्त समस्याओं से भी है; किन्तु वे समस्यायें भी अपना उचित रूप तभी पाती हैं जब वे देशकाल की तत्कालीनता से उभर कर मानवीय संवेदनाओं को गहराई प्रदान करती हैं।

यहां पर एक अन्तर विशेष की ओर ध्यान सहज ही में चला जाता है। प्रगतिवाद अथवा साम्यवाद की परिणति से यह समसामयिकता का क्षेत्र भिन्न है। साम्यवाद या प्रगतिवाद मानव वेदना और वर्तमान की गहराई को कोई महत्त्व नहीं देता। वह केवल तत्कालीन ऊपरी और सतही बातों से एक निश्चित मन्तव्य की पूर्ति को महत्त्वपूर्ण समझता है और वह मन्तव्य है किसी पूर्वनिश्चित मत की पुष्टि। समसामयिकता इसीलिए पूर्वाग्रहों और पूर्वनिश्चयों से भिन्न मानव सक्रियता की अभिव्यक्ति है। यदि इस सक्रियता में वह विशुद्धता नहीं है जो देश-काल और वर्तमान के स्तर से मानवानुभूति को प्रेरित करती है तो निश्चय ही इस में समसामयिकता की संवेदना को भी वहन करने की क्षमता नहीं होगी। इसीलिए जब हम समसामयिकता को तत्कालीनता से भिन्न करने की बात करते हैं तो हमारा आशय होता है कि तत्कालीनता की सतही और पूर्वनिश्चित

स्थिति से पृथक् हम उस अन्तर्वेदना को प्रस्फुटित होने का अवसर दें जो सामान्य जन की आत्मदृष्टि से उपज कर वस्तुस्थिति को आन्दोलित करती है। हो सकता है कि तत्कालीन में परिवेश की व्यापकता हो; किन्तु उस में संवेदना की गहराई का आयाम प्रायः लुप्त हो जाता है। समसामयिकता की दृष्टि जब गहरी अन्तर्वेदना की अपेक्षा विस्तार पर आग्रह करती है या उस छिछले स्तर से उपजती है जो किसी भी पूर्वनिश्चित मतवाद या साम्प्रदायिकता के साथ बंधी होती है तो वह अपनी गतिशीलता खो देती है और वह केवल तत्कालीन सतही संवेदना बन कर रह जाती है। हो सकता है कि यह समसामयिकता और तत्कालीनता का भेद अधिकतर स्पष्ट हो कर ग्राहक के सामने न उपस्थित हो किन्तु आज के जीवन-संदर्भ में बिना इस अन्तर की परीक्षा किये बहुधा हम उन चीजों को भी समसामयिक सम्बोधन दे देते हैं जो केवल एक मन्तव्य और पूर्वाग्रह से उपज कर हमारी अनुभूतियों को केवल बाह्यमुखी बना कर छोड़ देती हैं और हम उन की गहराइयों की तीव्रता को न अनुभव करने के कारण केवल ऊपरी ढंग से समसामयिकता का निर्वाह करते से प्रतीत होते हैं। समसामयिकता में गहराई का आयाम है, इसीलिए उसकी तीव्रता में भी अन्तर ह।

समसामयिकता से हमारा आशय है देश-काल के दायित्व के साथ-साथ उस क्षण की गहरी तीव्रानुभूति की ग्राह्यता जो परिस्थितियों से उपजती है और बिना किसी पूर्वाग्रह के सहज सामयिक औचित्य के साथ व्यक्त होती है। समसामयिक की विशेषता उसकी अनिवार्यता में है, न कि उसकी पूर्वनिश्चित संगति में। जहां हम सामयिक की इस अनिवार्यता को समझने की चेष्टा करते हैं, वहीं हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि समसामयिकता का एक महत्त्वपूर्ण अंश हमारे अपने व्यक्तिगत तत्त्व से संबंधित रहता है जिसके बिना मानव स्वतंत्रता और उसकी वैयक्तिक मर्यादा स्थापित नहीं की जा सकती। स प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि—

● जीवन के प्रत्येक क्षण के साथ उस रागात्मक एवम् सहधर्मी विचारानुभूति को स्वीकार करना आवश्यक है जो एक निश्चित देश और काल के अन्तर्गत उपजती है और उस क्षण की समस्त तीव्रता को अनुरंजित करती है। जीवन का समसामयिक पक्ष मानव आस्था को अधिक गति और शक्ति देने के साथ-साथ उसे अधिक यथार्थ अनुभूति और यथार्थ दृष्टि प्रदान कर के सम्पूर्ण मानव चेतना को स्वस्थ एवम् स्वाभिमानपूर्ण आस्थाओं से सम्बन्धित करता है। क्षण के इस अमूल्य अस्तित्व को हमें एक-साथ जीवन की बाहुल्यता के साथ रख कर देखना अनिवार्य है। जैसे सांस-सांस की गति में हम प्राण की अभिव्यक्ति

पाते हैं, वैसे ही क्षण-क्षण के दायित्व में हम जीवन की बाहुल्यता का स्वरूप भी पाते हैं ।

● संभावनाओं के प्रति स्पष्ट दृष्टि का विकास समसामयिकता के संदर्भ में ही प्रस्तुत होता है । मानव कल्पना का बहुत बड़ा अंश हम समसाम- यिकता के प्रति अनुदार होकर खो देते हैं । यथार्थ की जितनी तीव्र गति-शक्ति हम समसामयिकता के प्रति जागरूक होकर ग्रहण कर सकते हैं । यदि केवल कल्पना-लोक (fantasy) की कुहासामय उच्छृंखलता से हमें मुक्ति पानी है और उस मुक्ति के साथ हमें अपनी दृष्टि को यथार्थ के धरातल पर विकसित करना है, तो फिर हमें मानव संभावनाओं के किसी न किसी पक्ष को समसामयिक स्तर पर रख कर देखना आवश्यक है । यथार्थ की इस गतिशीलता का सम्यक् महत्त्व इसी के साथ प्रतिफलित होता है ।

● देश-काल के बदलते और विस्तृत होते हुए रूप में यदि कला की और संवेदना की ईमानदारी को जीवित रखना है तो भी समसामयिकता के अनुरोध क साथ ही यह संभव है । एक निश्चित सीमा-रेखा में जैसे मानवीय चेतना को बाँध कर नहीं रखा जा सकता, वैसे ही एक निस्सीम विस्तार में भी उसे अपना सम्बल नहीं मिल सकता । इसीलिए वह बौद्धिक चेतना जिस की आधारभूमि आधुनिकता है अपने समस्त चेतन तत्त्वों के साथ इसी समसामयिकता के संदर्भ में अपना अर्थ पाती है । देश-काल का दायित्व मानवीय दायित्व को प्रतिबिम्बित करता है । हो सकता है कि उसमें कोई बड़ी बात न हो, कोई बड़ा स्वप्न या कोई बड़ा अभियान न हो; किन्तु इनके बावजूद भी उसमें एक ईमानदारी* हो जो उस स्थिति विशेष की अनुभूति को अर्थ दे सके, और तब इस अर्थ के माध्यम से वह उन क्षणों की सार्थकता पा सके जो वर्तमान के यथार्थ से उपज कर उसकी चेतना को आन्दोलित करने में समर्थ हो सके हैं । आज हम जिस स्थिति-विशेष में रह रहे हैं उसके प्रति हमें अपनी जागरूकता और तत्परता व्यक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस समसामयिक दायित्व का निर्वाह करें और उसे अभिव्यक्ति दें ।

● वर्तमान के महत्त्व का एक नैतिक आग्रह भी है जो बिना समसामयिकता के नहीं हो सकता । आज, वर्तमान और वर्तमान के भी निकटवर्ती क्षणों का

* यदि आज हम प्रगति की कल्पना को सही दिशा देना चाहते हैं तो हमें प्रगति के समसामयिक आधार को ध्यान में रखना होगा । समसामयिक विचारक प्रगति की संभावना को अस्वीकार नहीं करता । वह उसको झूठ और भविष्य-वादी फ़रेब से मुक्त करना चाहता है । इसीलिए वह प्रगति को निरन्तर संघर्ष के रूप में देखता है । —साही

एक आग्रह हमें इस बात के लिए बाध्य करता है कि उसके प्रत्येक छोटे-से-छोटे दायित्व का भी एक सार्थक महत्त्व है। समसामयिकता के आग्रह में वर्तमान के उन आयामों को मानवीय संवेदना और मानवीय अनुभूति मिलती है, जो हो सकता है, कि अपने परिवेश में बड़े ही छोटे हों; किन्तु जिनकी प्रेषणीयता समूचे जीवन को प्रभावित कर सकती है। समसामयिकता के प्रति जागरूक मानव चेतना को उन पक्षों के साथ ही विकसित होने में पूर्णता और प्रौढ़ता मिल सकती है।

आत्माभिमान और आत्मबोध का अस्तित्व जो नितान्त समसामयिकता में ही व्यक्त होता है, अपने दायित्व में उस मानवीय निष्ठा को तुष्ट करता है जो आज की तेज़ गति वाले जीवन-चक्र में आसानी से नहीं हो पाता। जीवन की गति जितनी तीव्र होती है और उसके साथ जितने ही अधिक गतिशील तत्त्व होते हैं, उसमें उतना ही बड़ा दायित्व उस नगण्य क्षण के प्रति भी होता है जो प्रत्येक स्तर पर अपनी समग्रता लेकर प्रस्तुत होता है। इन्हीं क्षणों में से बहुत से ऐसे भी हो सकते हैं जिन में सत्य के नये रूप, संवेदना के नये स्तर, मानव अभिव्यंजना के नये माध्यम अपनी सम्पूर्ण विकलता के साथ अवतरित हों और सर्वथा नयी दिशा का संकेत देकर फिर लीन हो जायें। आत्माभिमान और आत्मबोध के इस अस्तित्व की उपेक्षा करके जीवन की कोई भी गतिशीलता सुरक्षित नहीं रखी जा सकती।

किन्तु समसामयिकता और आधुनिकता के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। आधुनिकता युग विशेष का गुण है। समसामयिकता स्थिति विशेष का आयाम है। आधुनिकता एक ऐतिहासिक विश्लेषण है जो हमें देश-काल का बोध देती है, समसामयिकता देश-काल के बोध के साथ सक्रियता की भी पुष्टि करती है। जिस भी देश-काल में हम हैं उसकी सीमायें और विस्तार को हम समसामयिकता के यथार्थ द्वारा अनुभव करते हैं। जीवन के इन्हीं संदर्भों में, आधुनिकता के परिवेश और समसामयिकता के आयाम में, हमें अपनी दृष्टि और अपने दायित्व का बोध होता है।

आधुनिकता कालबोध और युगबोध की उद्योतक है। मानव चेतना की प्रगति के अथवा उसकी मुख्य प्रवृत्तियों के अध्ययन और विश्लेषण द्वारा हमें अपनी आधुनिकता का बोध होता है। यह ऐतिहासिक कालान्तर का प्रारूप हमें यह बोध कराता है कि इतिहास एवम् संस्कृति के किस चरण में हम रह रहे हैं और आगे हम किस दिशा की ओर जा रहे हैं। आधुनिकता से हमारा मतलब है, आज की उपलब्धियों की सापेक्षता में हमारा अपना काल विशेष और उस की संभावनायें। मशीन युग का सत्य, वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि, सामाजिक दायित्व और

वैयक्तिक दायित्व के संदर्भ में हम आज ऐसी स्थिति में हैं जो इतिहास के विगत चरणों से सर्वथा भिन्न है। आज हम यथार्थ की दृष्टि से, विज्ञान की दृष्टि से, मानव नियति की दृष्टि से, सम्पूर्ण जीवन-गति का केन्द्र मनुष्य को ही मान कर चल रहे हैं। समस्त नैतिक आग्रह, दर्शन-चिन्तन आज के मानव से प्रारंभ होता है और उसकी उपलब्धियों के समर्थन से विकसित होता है। निश्चय ही यह इतिहास के उन चरणों से भिन्न है जो धर्म-सापेक्ष, राज्य-सापेक्ष, या सत्तासापेक्ष थे। इस प्रकार आधुनिकता हमें दृष्टि देती है और हमें हमारे औचित्य का बोध कराती है।

किन्तु विचार में आधुनिक होते हुए भी हम समसामयिक नहीं हो सकते; क्योंकि समसामयिकता का परिवेश इतना विस्तृत नहीं होता। वह तो एक स्थिति विशेष को प्रतिबिम्बित करने का माप मात्र है। इस विशेष स्थिति के प्रति अपना दायित्व न निभा सकने के बावजूद भी हम आधुनिक हो सकते हैं। आधुनिकता का विस्तृत परिवेश समसामयिकता के आयाम की अपेक्षा नहीं रखता; किन्तु आधुनिक भावबोध के बाहुल्य (richness) का साक्षात्कार और उसका अनुभव बिना समसामयिकता के, वास्तविक क्रियाशीलता के, संभव नहीं है। समसामयिकता जिस वर्तमान से उपजती है और जिस संदर्भ की अनिवार्यता प्रस्तुत करती है, उस में यथार्थ का सतत आग्रह क्षण प्रति क्षण अधिक प्रबल होता है और इस आग्रह में वह मानवीय संवेदना गुँथी होती है कि मनुष्य अपनी लघुता को और अपने लघु परिवेश को सार्थक अर्थ देना अधिक आवश्यक समझता है; उस में मिथ्या स्वप्न और आदर्श इसीलिए अप्रसंगिक हो जाते हैं।

अस्तु आज नयी कविता का अधिकांश रूप, उसका विषय-वस्तु, उसकी संवेदना और अनुभूति जो कहीं किसी रूप में अपरिचित सी, अनभिज्ञ सी लगती है, उसका एक मात्र कारण आज के इस समसामयिकता से शराबोर जीवन की क्रियाशीलता है जो विगत काव्य परम्पराओं और काव्यादर्शों से पृथक् सर्वथा नये आयाम की अनुभूति देकर उसे उस परम्परा से भिन्न कर देती है जो पूर्वाग्रह या पूर्वनिश्चय से अनुशासित होते हैं। परम्परागत दृष्टि में आज की भावस्थिति से भिन्न एक ऐसा रूप (pattern) था जो व्यक्ति की समसामयिकता को महत्त्व न देकर एक व्यापक आदर्शवाद के अन्तर्गत अनुभूतियों को अंकित करने का प्रयास करता था। मानव अनुभूतियों का व्यक्तिगत पक्ष और उस व्यक्तिगत पक्ष के आधार पर समसामयिकता का उतना महत्त्व नहीं था जितना कि इस बात का कि हम परम्परा और प्रचलित मतवाद को कैसे और किन सीमाओं में स्वीकार करते और मानते हैं। एक बड़ा नारा शाश्वत और स्थायी मूल्यों का समस्त मानव संवेदना से इतना चिपका रहता था कि समसामयिकता का औचित्य उस के सामने छोटा

और हेय समझा जाता था। इसी हेय दृष्टि के विरोध का यह परिणाम था कि छायावाद, प्रगतिवाद और समूचा राष्ट्रवाद उस संवेदना को प्रस्तुत नहीं कर सका जो समसामयिक होने के नाते संभव था। छायावाद या प्रगतिवाद या राष्ट्रीयवाद आधुनिक होते हुए केवल खोखले और संवेदनाहीन से इसलिए लगते हैं कि उनमें मानवानुभूति की व्यक्तिगत साहचर्य और भोग-उपभोग की शक्ति नहीं है। इसकी चरम परिणति तो वहां स्पष्ट हो जाती है जहां श्रीमती महादेवी वर्मा की सारी कविता केवल दो-चार प्रतीकों और प्रतिबिम्बों तक सीमित रह जाती है और उनके अतिरिक्त जीवन का कोई भी पहलू या विभिन्नता का बाहुल्य (richness) उस में विकसित ही नहीं हो पाता। यह विशेषता हमें तत्कालीन सभी कवियों में इसीलिए और भी नहीं मिल पाती क्योंकि वह व्यक्तिगत अनुभूति के स्थान पर तथाकथित व्यापक अनुभूति अथवा व्यक्तिगत दृष्टि से पृथक् एक ऐसे साँचे में ढाले जाते थे कि उनमें इस विभिन्नता का अर्थ ही खो जाता था।

किन्तु, आज का भावबोध इस सीमा को स्वीकार करने में असमर्थ है। वह अपने जीवन को अपनी दृष्टि और अपनी बुद्धि के साथ समझना और परखना चाहता है। शायद यही कारण है कि वह पूर्वनिर्धारित और पूर्वनिश्चित रूप-रेखा और विषय-वस्तु को अनित्य सत्य मान कर स्वीकार करने में असमर्थ है। वह इस जनसमूह में और विराट् मानव आन्दोलन में, शोर और गुल में, अपने को खोने के लिए प्रस्तुत नहीं है। वह इस शोर और गुल से पृथक् अपने व्यक्तित्व को भी देखने और जानने की इच्छा रखता है। आज तक वह अपनी जिस अपूर्णता के कारण जीवन की समसामयिकता से पृथक् रहने पर मजबूर किया गया था, आज वह उसी अपूर्णता के आधार पर समसामयिकता को देखना, परखना और भोगना भी चाहता है; और इसीलिए आज का कवि यह अनुभव करता है कि

यह व्यक्ति और समाज का
उत्तप्त मंथन काल है
संक्रान्ति की घड़ियाँ बनी हैं शृंखला
बंदी हुई है देह
मन को बाँधने बढ़ते पतन के हाथ हैं
है फेन विष का फैलता ही जा रहा
अब डूबता अन्तिम ग्रहण की छाँह में
आलोक हत नक्षत्र मिट्टी से बना
जिसका कि पृथ्वी नाम है। **—गिरिजाकुमार माथुर**

संक्रान्ति की जिन घड़ियों का उल्लेख प्रस्तुत कविता में कवि ने किया है उन

घड़ियों के संघर्ष से ही यह दृष्टि मिलती है कि जीवन को मात्र पूर्वकल्पित आदर्श पर नहीं बिताया जा सकता; वरन् इस को उन घड़ियों की संवेदना में क्रियाशील योग दे कर ही उस अन्धकार को मिटाया जा सकता है जो समस्त पृथ्वी को डसने के लिए निरन्तर तत्पर प्रतीत होता है। समसामयिकता के इस बोध से उद्भूत अनुभूति इसीलिए हमें यह शक्ति देती है कि हम अपने जीवन का प्रत्येक क्षण उस भावस्थिति को स्वीकार करके जीने की चेष्टा करें जो हमें यथार्थ और उसके साथ का दायित्व वहन करने की क्षमता दे सके।

और तब नयी कविता के परिवेश में जिस भावस्थिति का आभास हमें मिलता है, वह इन दोनों तत्त्वों के समीकरण में व्यक्त हुआ है। आधुनिकता से अधिक नयी कविता समसामयिक भाव-स्तर का प्रतिनिधित्व करते हुए भी समसामयिकता के दायित्व से अपरिचित नहीं है। वस्तुतः किन्हीं अर्थों में यह कहना अधिक उचित होगा कि आज की नयी कविता अपने विषयवस्तु और जीवन-दृष्टि में समसामयिक तत्त्वों से काफी प्रभावित भी है और उस पर उसका आग्रह भी है। जीवन के यथार्थ की इस तीव्रता और गतिशीलता के साक्षी के रूप में मानव अनुभूतियों के प्रति क्षण-क्षण के वेगमय आघात-प्रतिघात के साथ, आज की कलाभिव्यंजना भी अधिक गतिशील है। समसामयिक स्तर पर नयी कविता का स्वर उस खण्डित मानव व्यक्तित्व की सचेष्ट शक्ति के साथ है जिसे इस स्टैम्पीड में केवल बड़े-बड़े शब्दों के शोर-गुल के साथ जूझते-जूझते अपने समूचे अस्तित्व को टूक-टूक कर देना पड़ा है। आधुनिक परिवेश में युग की समस्त विचारधारा की समग्रता के साथ जब हम यह कहते हैं कि आज की नयी कविता अधिक समसामयिकता के दायित्व से अनुरंजित है, तो उस से हमारा मतलब यह है कि वह उस स्टैम्पीड से मुक्त हो कर अपने आत्मविश्वास पर आस्था रखने में समर्थ है। समसामयिक दृष्टि से नयी कविता आज के यथार्थ के साथ-साथ उस बृहत् संवेदना को अपने परिवेश में प्रस्तुत करने की अभिव्यक्ति है। आज यही निश्चय उसकी समस्त रसस्निग्धता की आधार-शिला है और वह बार-बार यह कहता है—

किस ने क्षण की मर्यादा को थाम लिया है
मैंने
किस ने गति को एक तमाचा मार सदा को रोक लिया है
मैंने
किस ने पल के विष अमृत को कृष्ण सरीखा चूस लिया है
मैंने

× × × ×

प्रभु ! मुझे वर दो

....

....

क्षण क्षण पतंगों से लुटे हुए अनुभवों के प्रति
ईमानदार बन सकूं
ईमानदार रह सकूं —बसन्तदेव

क्षण-क्षण के पतंगों जैसी लुटी हुई, अनुभवस्थिति को पकड़ने की, और उसको सापेक्ष जीवन से सम्बन्धित करने की अतृप्त तृष्णा का उद्वेग ही आज की कला की चेतना और दृष्टि की विलक्षणता है। आज के मूल्यों में जिस प्रकार का संक्रमण नये और पुराने के सम्बंध से प्रस्तुत हो रहा है अथवा परम्परा और प्रगति के रूप में व्यक्त हो रहा है और जिस अदम्य विभीषिका में समस्त मानवीय कोमलता को झुलसने की चेष्टा की जा रही है, उससे यह सत्य उपजता है कि हम अपने व्यक्तित्व की आस्था के साथ जीवन का प्रत्येक क्षण जियें, उसे भोगें और उसकी उपलब्धि को सहज मानवीय स्तर पर व्यक्त करें। वस्तुतः जिन स्थितियों और शंकाओं के बीच आज की समूची बौद्धिक चेतना उलझी हुई है उस से मुक्ति का साधन और विवेक का प्रतिष्ठापन मनुष्य अपने परिवेश में अपने क्षण-क्षण का भुक्त-भोगी हो कर ही कर सकता है।

आज के संदर्भ में जो जीवन हम व्यतीत कर रहे हैं, वह निश्चय ही दो चेतनाओं को एक-साथ प्रस्तुत करता है। सर्वप्रथम तो यह कि मनुष्य होने के नाते हमारी अपनी एक विशिष्टता है और दूसरे यह कि इस विशिष्टता को स्थापित करने के लिए हमें जीवन के व्यापार में सम्पूर्ण दायित्व के साथ भाग लेना है। इन दोनों तथ्यों में यह स्थिति स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि जीवन में सक्रिय भाग लेने का अर्थ ही यह स्पष्ट करता है कि हमें उस समसामयिक दायित्व का निर्वाह करना है जो हमारे चारों ओर प्रत्येक क्षण नये-नये संदर्भों के साथ प्रस्तुत हो रहा है। हो सकता है कि अपने इस निर्वाह में हम कोई बड़ी बात न कर पायें; किन्तु फिर भी अपनी थोड़ी सी ईमानदारी के द्वारा भी उस दायित्व के निकट आत्मशक्ति के साथ प्रस्तुत हो सकते हैं और उसमें भाग लेकर उसका निर्वाह भी कर सकते हैं; क्यों कि

हम एक इशारा हैं दो भिन्न दिशाओं में
हम से होकर सदियों के प्रश्न गुजरते हैं
हम एक व्यवस्था हैं क्षण भंगुर जीवन की
जो हर क्षण को सपनों से जीवित रखते हैं। —कुँअरनारायण

इस क्षणभंगुरता का बोध हमें इस निष्कर्ष तक ले जाता है कि मनुष्य अपनी विशिष्टता द्वारा एक क्षण के जीवन को भी अधिक मूल्यवान् बना कर जी सकता है। इस जीने में हो सकता है कि किसी महानता का बोध न हो, साथ ही यह भी संभव है कि यह बाह्य दृष्टि से अधिक प्रभावित भी न करे, किन्तु गहराई से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस जीवन के साथ जो जागरूकता सम्बन्धित है वह महानता की होड़ भले न ले सके; किन्तु इस जीवन से उसका मानवीय पक्ष पृथक् करना शायद कठिन ही नहीं असंभव भी हो।

और तब नयी कविता का परिवेश और उसका दायित्व भी अधिक स्पष्ट हो कर प्रस्तुत होता है। नयी कविता का जैसे यह कभी भी दावा नहीं रहा है कि वह किसी शाश्वत मूल्य से प्रेरित हो कर लिखी जा रही है, ठीक उसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह अपने चारों ओर के जीवन से अनभिज्ञ और अपरिचित रह कर एक एकांगी मतवाद से अस्तव्यस्त तथ्यों से कतराना चाहती है; क्योंकि आज की कला-चेतना जीवन की जिस परिधि से विकसित होती है, वही उसे इस बात की भी प्रेरणा देती है कि वह गतिशील जीवन के तत्त्वों के प्रति अधिक जागरूकता के साथ व्यक्त हो।

ऐसी स्थिति में जब नयी कविता को उसकी सम्पूर्ण पृष्ठभूमि में देखते हैं तो समूची काव्यप्रकृति को समसामयिकता के साथ देखने की आवश्यकता महसूस होती है, और हम यह कह सकते हैं कि :—

● नयी कविता का विश्वास जीवन की गतिशीलता में होने के कारण यह अपेक्षा रखता है कि वह समसामयिकता को नगण्य न मानकर यथार्थ की गति-शक्ति का प्रतीक माने और उस में भाग लेकर उसकी शक्ति को स्वीकार करे।

● समसामयिकता सतत गतिशील सत्य को समस्त मानवीय संवेदनाओं के साथ देखने का प्रयास करती है। सत्य का यह गतिशील रूप शाश्वतवाद को स्वतः खण्डित करता है।

● नयी कविता का भावपक्ष जब किसी भी निरपेक्ष स्थिति को नहीं स्वीकार करता तब निश्चय ही उसे देशकाल के आन्तरिक सत्य के साथ सम्बद्ध होकर अभिव्यक्त होना पड़ेगा।

अस्तु, जहाँ तक नयी कविता का प्रश्न है उसमें आधुनिक होने के साथ-साथ समसामयिकता का निर्वाह बड़े सफल ढंग से हुआ है। आधुनिकता का परिवेश मानव प्रकृति में ऐतिहासिक सम्बल के साथ विकसित होता है। आज का मानव विज्ञान से लेकर धर्म-निरपेक्षता को आधुनिक तत्त्वों के साथ स्वीकार करता है; विज्ञान द्वारा प्राप्त यथार्थ को स्वीकार करता है। आज वह समूची मानव जाति को विभिन्न रक्त-पुंजों के आधार पर नहीं देखता। आज उसके सामने वे पूर्वाग्रह

और पूर्वनिश्चय नहीं हैं जिनसे समूचे मानव वर्ग को खण्ड-खण्ड करके देखने का प्रयास किया जा सके। आज का भावबोध साम्प्रदायिक नहीं है, इसीलिए वह धर्म और रूढ़ि निरपेक्ष होकर विवेक की सापेक्षता को अस्तित्व दे पाता है। आधुनिकता के यही परिवेश हैं और इन परिवेशों में ही उसका महत्त्व है।

समसामयिकता इस परिवेश के अंतरंग क्षण की उपलब्धि है। उसका आग्रह है कि मिथ्या भविष्यवादी स्वप्न, और अनावश्यक भूतवादी दृष्टि जीवन के समसामयिकता के दायित्व को पूर्ण रूप से निभाने में ही संभव है। कल हम क्या थे, अथवा कल हम क्या होगें, ये दोनों वर्तमान स्थिति से च्युत करके अकर्मण्य बना देते हैं। वस्तुतः कल हम जो कुछ भी हों, आज इस क्षण, इस देशकाल के संदर्भ में हम क्या हैं, इसका दायित्व समसामयिकता में व्यक्त होता है। उसके सामने व्यक्ति के सत्य, देश-काल के सत्य और क्षण के सत्य का विशेष महत्त्व है। अस्तु, आधुनिकता एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कुछ गुणविशेष प्रवृत्तियों के आधार पर हमें हमारा ऐतिहासिक भूगोल बताती है जिस से हम अपने को अतीत और भविष्य के अनावश्यक आग्रहों से मुक्त होकर अपने को एक विशेष युग से सम्बद्ध पाते हैं और उस सम्बद्ध चेतना से यथार्थ और वस्तुस्थिति को देखने की चेष्टा करते हैं। किन्तु जहाँ आधुनिकता का यह आग्रह है वहीं समसामयिकता का आग्रह इन दृष्टियों को क्रियाशील रूप देने में है, उनको कर्मरत जीवन के क्षण-क्षण की गतिशीलता से सम्बद्ध करने की है। समसामयिकता की क्षणभंगुरता विस्तृत परिवेश के अनुकूल न हो; किन्तु उसकी तत्परता और गहराई अपने लघु परिवेश में ही इतनी गतिशील है कि वह हमारी चेतना को स्वप्नरत निस्तब्धता न देकर कर्मरत क्रियाशीलता और जागरूकता देने में सर्वथा शक्तिमान् है। अस्तु

आओ हम उस अतीत को भूलें
और आज की अपनी रग-रग के अन्तर को छू लें
छू लें इसी क्षण
क्योंकि कल के वे नहीं रहे
क्योंकि कल हम भी नहीं रहेंगे।

—मुद्राराक्षस

[१२]

मूल्यान्वेषण

नयी कविता और उसके भावबोध के विभिन्न स्तरों की विवेचना के बाद आज जिस विषय पर प्रायः बल दे कर अनेक प्रश्न पूछे जाते हैं वह मूल्यों का है जिनके आधार पर नयी कविता की सृजनशील प्रवृत्ति अभिव्यक्ति पाती है। इस के साथ यह भी प्रश्न उठता है कि क्या आज की मानव अनुभूतियों के लिए वे मूल्य अस्तित्वहीन हैं जिन के आधार पर मनुष्य आज तक के जीवन को झेलते हुए इस स्थिति पर स्वतः पहुँच गया है जहाँ वह प्रत्येक मूल्य की आधारभूत मनःस्थितियों का एक बार पुनः निरीक्षण कर के उनको संदर्भानुकूल नयी अभिव्यक्ति दे ? वस्तुतः इन दोनों प्रश्नों का सही उत्तर इस विश्लेषण में निहित है कि वे कौन से तत्त्व हैं जिन्हों ने आज की मनःस्थिति में ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है जिस से प्रचलित आधार सर्वथा बदलते हुए से लगते हैं—और तब यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आज के जीवन की मूल समस्या उस नैतिक आधार की खोज में है जो समूह-मानव की सापेक्षता में, व्यक्ति-मानव को सामाजिक मूल्यों की सापेक्षता में वैयक्तिक मूल्यों को, और उपेक्षित मानव-विशिष्टता की क्रियाशीलता को एक नई निष्ठा और शक्ति दे सके। साथ ही यह भी आवश्यक है कि आज की विचारधारा उस मूल व्यक्ति-मानव की रक्षा में सहायक हो सके जो आज की विद्रूपताओं में खण्डित और टूक-टूक हो कर बिखर रहा है। वस्तुतः पिछली अर्धशताब्दी की राजनैतिक एवम् सांस्कृतिक भ्रांतियों ने आज

का जीवन इतना भ्रमपूर्ण एवम् शंकाकुल बना दिया है कि उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही एक मशीन की भांति या कठपुतली की भांति स्वतः चालित न होकर दूसरों द्वारा परिचालित होता है। आज वस्तु-स्थिति यह है कि साधारण जन का अस्तित्व इस सीमा तक महत्त्वहीन समझा जाने लगा है कि उसके स्वचिन्तन और स्वनिर्णय के अधिकार को भी समाज, व्यवस्था, संस्कार और संस्कृति ने इस सीमा तक अपने में समेट लिया है कि वह वही देखता है जो उसे दिखाया जाता है, वही सोचता है जो सोचने के लिए उसे प्रेषित किया जाता है, वही सुनता है जो उसे सुनाया जाता है। मानव व्यक्तित्व के इस अपमान का प्रमाण आज भी नासूर की भांति रिस रहा है। कोरिया का संहार, नागासाकी-हिरोशिमा का ताण्डव, फ़ारमूसा का झूठा नाटक और औपनिवेशिक शोषणों का खुला नर्तन इस बात को प्रमाणित करता है कि मानव-मुक्ति का मार्ग उन गुटबन्द स्वार्थरत झूठे नारों में नहीं है। मनुष्य को फिर से अस्तित्व और अपनी क्षमताओं का विश्लेषण करना है। उसे अपनी संभावनाओं को अप्रतिहत रूप से संजोना है और बाह्य आडम्बरों की ओर उन्मुख न होकर स्वयम् अपने में आत्मविश्वास और यथार्थ वस्तुस्थितियों का साक्षात्कार करना है।

आज जिन मूल्यों के लिए मानव चेतना अधिक जागरूकता के साथ सतत संघर्षशील है वह है वह मानव-विशिष्टता जो इतिहास की इतनी लम्बी यात्रा के बावजूद भी अपने बल पर और अपने स्वर के साथ खड़ा होने का साहस कर रही है। आज के इस साहस का मूल्य इसलिए है कि यह यथार्थ की स्वीकृति से उपजा हुआ सत्य है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यह आत्मविश्वास ही इस बात की प्रेरणा देता है कि हम प्रत्येक स्थापित सत्य के प्रति भी विवेक और देशकाल की सापेक्षता की दृष्टि विकसित करके उसे पुनः स्थापित करने का प्रयास करें। मनुष्य ने धर्म से लेकर परम्परा और रूढ़ि तक को आँख मूँद कर मान लेने के बाद आज यह अनुभव कर लिया है कि इन सब से अधिक विश्वसनीय उसका तर्क है, उसकी विवेक और विश्लेषण शक्ति है; क्योंकि उसके द्वारा प्राप्त उपलब्धि में क्रियाशील चेतना, सतत सहयोग और सचेष्ट उन्मुक्तता का आधार मिलता है जिसके बिना न तो दृष्टि मिल पाती है और न आत्मतुष्टि। आज शायद हम देशकाल और परिस्थितियों के परे की कल्पना को समसामयिक यथार्थ से अधिक महत्त्व देने में असमर्थ हैं क्योंकि आज हम जीवन और उसके परिवेश से पलायन करना अथवा उसके प्रति अनास्थावान् होना एक भयंकर रोग और संक्रामक परिस्थिति मानते हैं।

विवेक हमें 'महामानव' जैसी कल्पना भले ही न दे सके, वह हमें मानव की कल्पना और उसकी शक्ति को अनुप्राणित करने का सामर्थ्य देता ही है। विवेक तो

उन लोगों को संतोष नहीं दे पाता जो या तो स्वप्नलोक में रहते हैं या जो आज भी जीवन के यथार्थ का साक्षात्कार न करके उससे कतराने की चेष्टा करते हैं। यही कारण है कि यथार्थ को स्वीकार कर लेने के बाद जो शक्ति मिलती है वह है आत्म-संघर्ष के क्षणों में भी गतिशील रहने की, जीवन के आन्दोलनों में स्वतंत्र-चेता मानव की भाँति भाग लेने की और फिर उसकी उपलब्धियों को सहर्ष भोगने की। शायद यही एक मात्र कारण है कि आज का भावुक कवि विषमताओं में भी हँस लेता है और सुख में भी अधिक अधीर और चपल नहीं होता और इस में सन्देह नहीं कि उसके भोगने के इस अदम्य साहस में वह मानवीय स्तर विकसित होता है जिसमें न तो विशाल मानव होने का दंभ है और न अनन्त रहस्य के विधायक का अभिनय। तर्क हमें अपना निजी धर्म देता है और उसके द्वारा हमें एक ऐसी मनःस्थिति और आत्मनिश्चय की शक्ति मिलती है कि फिर उसके आधार पर हम जीवन को सक्रिय मनुष्य के रूप में झेलने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। आज के युग को विवेक की आवश्यकता मात्र इसलिए है कि मनुष्य अपनी नियति और अपनी मुक्ति-गाथा का नियंता और अधिष्ठाता स्वयम् बनना अधिक उपयुक्त मानता है।

समसामयिकता का भावपक्ष मात्र एक यंत्रवत् सत्य नहीं है वरन् वह एक विवेक की परिणति है जो हमें इस बात के लिए बाध्य करती है कि हम उत्तरदायित्व-पूर्ण जीवन निर्वाह करने के साथ-साथ उन समस्त स्थितियों और परिस्थितियों के सहगामी और सहचारी हो सकें जो हमारे जीवन को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से प्रभावित और प्रशासित करती रहती हैं। विवेक-पूर्ण जीवन-दर्शन सदैव मानवीय उत्तरदायित्व से परिचालित होकर उसकी सतत क्रियाशीलता को निर्मित करता है और जब हम विवेक के साथ-साथ क्रियाशील मानवीय दायित्व की बात करते हैं तो क्रियाशीलता की प्रकृति स्वीकार करने के साथ-साथ हम समसामयिकता को स्वतः जीवन के अस्तित्व के साथ सम्बद्ध कर देते हैं। समसामयिक होने में ही विवेक का अधिकांश महत्त्व है। भविष्यवादी के समक्ष न तो विवेक महत्त्वपूर्ण है न समसामयिकता, आदर्शवादी तो विवेक से कोसों दूर भाग कर अपनी समस्त चेतना रूढ़ि को समर्पित कर देता है, नियतिवादी भी न तो विवेक के महत्त्व को समझ सकता है और न समसामयिक के उस आयाम को पकड़ सकता है जिसमें ऐतिहासिक दायित्व और देश-काल का आग्रह हमें यथार्थ का साक्षात्कार करने का आत्मबल और संयम दोनों ही प्रदान करता है।

और तब देश-काल के आधार पर समसामयिकता का रूप अधिक निखर उठता है। जीवन का यथार्थवादी दृष्टिकोण कर्मण्य सहगमन का दृष्टिकोण है, इसलिए उसके मूल्य निरपेक्ष न होकर मानवसापेक्ष एवम् देश-काल की

सापेक्षता से संचालित होते हैं। आधुनिक जीवन का अधिकांश केवल इसीलिए अधिक खुरदुरा, कटु, और कहीं-कहीं तीखा भी है, क्योंकि आज का जीवन मात्र कल्पना का जीवन नहीं है और न ही वह किसी ऐसी मन:स्थिति को स्वीकार करता है जिसमें सक्रियता का अंश नहीं होता। उस का खुरदुरापन, उसकी कटुता और उसका तीखापन स्वयम् भोगा हुआ दु:ख-दर्द होता है, स्वयम् साक्षात्कार किया हुआ यथार्थ होता है, स्वयम् अनुबद्ध एवम् अनुक्रमित भावबोध होता है जो देश-काल और समसामयिकता के परिवेश में सहज मानव मन:स्थिति का परिचय तो देता ही है साथ ही वह इस बात का भी परिचय देता है कि उन समस्त कुण्ठाओं और पीड़ाओं को भोगने वाला स्वयम् आत्मविश्वासी जीवन्त प्राणी है जो आत्मसमर्पण की अपेक्षा आत्माभिमान को अधिक मूल्यवान् समझता है। जिन परिस्थितियों से वह संघर्षरत होता है उनके प्रति उसकी ईमानदारी सहज होती है और जब उस सहजता को देश-काल की मर्यादा संभाल नहीं पाती अथवा जब वह देश-काल के दायित्व में ईमानदार होते हुए भी अपनी उन उपलब्धियों को संगृहीत नहीं कर पाती जो कि न्यायसंगत और उचित हैं तो उसी रूप में उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र और कटुता से परिपूर्ण होती है। किन्तु अच्छा-बुरा, कटु और मधुर का वास्तविक निर्णय करने वाले व्यक्ति की भाषा और उसकी गाथा दोनों ही अपनी होगी और वह जो कुछ देगा उसमें उसका अपनापन ही महत्वपूर्ण होगा।

भोगने के साहस का एक और भी अर्थ है जिसे इसी संदर्भ में जान लेना आवश्यक है। भोगने के साथ 'भोग सकने' की व्याख्या करना ग़लत होगा। भोग सकने का यदि अर्थ है कि समसामयिक और देश-काल से पृथक् ऊपर उठकर कुछ भी कहना या अभिव्यक्ति देना, तो शायद इस में पुन: वही आदर्शवादी बू आ जायगी जो यथार्थ से तो पलायन करती है किन्तु जिसके पास आडम्बर बहुत होता है। आज के नये संदर्भ में भोग सकने का उतना ही महत्त्व है जितना कि भोगने की प्रक्रिया में सजग होते हुए भी टूटने का। आदर्शवादी या तथाकथित प्रगतिवादी 'टूटने' को महत्त्वहीन समझ कर उस से बिचकता है किन्तु आज के संदर्भ में जीवन को इन कटघरों में बन्द करके नहीं देखा जा सकता; साथ ही उसे इतना झीना नहीं किया जा सकता कि वह व्यापकता के आवरण में सर्वथा क्षीण और महत्त्वहीन होकर समाप्त हो जाय। आज यदि हम जीवन के शुभ पक्ष को महत्त्वपूर्ण समझने का मिथ्या अभिनय करेंगे और यथार्थ के उस पक्ष को नहीं देखेंगे जो शुभ न होते हुए भी जीवन्त और महत्त्वपूर्ण है, तो हम किसी भी उपलब्धि को नहीं प्राप्त कर सकेंगे। आज हमें महानता से अधिक महत्त्व उस लघुता को देना पड़ेगा जो शताब्दियों से धर्म, राजनीति, नियति, और कितने अन्य अपवादों के बीच एक दुर्घटना का शिकार बनी रही है। ठीक इसी प्रकार जब हम भोगने के सामर्थ्य

की बात करते हैं तो हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि समय को अथवा काल को भी कहीं न कहीं किसी केन्द्र-विन्दु से सम्बन्धित करना पड़ेगा। और तब इस लघुता के संदर्भ में हम यह जान सकेंगे कि उस क्षण का भी महत्त्व है जो विस्तृत जीवन के फलक पर सारहीन भले ही लगे; किन्तु जिसमें एक निश्चित देश-काल की परिधि में अपना महत्त्व है।

इसी संदर्भ में क्षण का बोध भी आधुनिक मानव के लिये महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन कर उपस्थित होता है। 'क्षण' केवल काल का एक विभाजित अंश है जो देश और परिस्थिति द्वारा निर्धारित होता है। जीवन के इन क्षणों का अपना महत्त्व है। समय के विस्तार में न तो ये खो सकते हैं और न ही उनका विघटन होना आज के जीवन में संभव है। जो जीवन के इन सशक्त क्षणों के प्रति अपना उत्तरदायित्व नहीं निभा सकता, वह यथार्थ की गतिशीलता के प्रति भी अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर सकता; क्योंकि यथार्थ की गतिशीलता इस बात की मांग करती है कि मानव-जीवन की संवेदना उसकी सापेक्षता में ही विकसित हो और यह विकास अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ इस बात को स्थापित करने में योग दे कि मूल्यों की दृष्टि से केवल उसी का महत्त्व नहीं है जो व्यापकता के समर्थन में केवल विस्तार लाये, वरन् उसका भी महत्त्व है जो विस्तृत न होते हुए भी गहराइयों के आयाम से उभरा हो।

अस्तु, आज की समस्या यह नहीं है कि अपमानित और कुण्ठित जीवन के बावजूद भी हम इतने महान् हैं; वरन् आज की समस्या यह है कि हम कुण्ठाग्रस्त महानता से निस्पन्द लघुता को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं, निष्क्रिय विराटता से कहीं अधिक मूल्यवान् वह बौनापन है जो अनावश्यक और मिथ्या धारणाओं का पोषण न करके सीधा यथार्थ को महत्त्वपूर्ण समझता है और उसे स्वीकार भी करता है। लघुता की स्वीकृति और उसकी सीमाओं में अनावश्यक उदात्त और महान् की अपेक्षा मध्यम और मानवीय का समर्थन स्वयम् अपने में एक महान् आस्था का द्योतक है क्योंकि लघुता केवल आत्मविश्वास और आत्माभिमान के आधार पर ही क्रियाशील हो सकती है। इसीलिए लघुता का निर्वाह महानता एवम् विराटता के निर्वाह से कहीं अधिक कठिन और दुस्तर भी है। यह कह कर जीना आसान है कि हम विराट् के समर्थक हैं, उदात्त के प्रतिनिधि हैं, महानता के पिछलगुआ हैं, व्यापकता के पुजारी हैं और इसलिए हम दूसरों से भिन्न हैं और दूसरे हम से भिन्न हैं। किन्तु यह कह कर जीना कठिन है कि हम विराटत्व को उसी सीमा तक मानते हैं जिस सीमा तक

वह हमें हमारे परिवेश में दृष्टिगोचर होता है, अथवा उदात्त को हम उतना ही महत्त्व देते हैं जितना वह हमें सत्य के समर्थन और यथार्थ के दर्शन के साथ प्राप्त होता है, अथवा यह कि हम पिछलगुआ नहीं हैं अथवा अन्धविश्वासी नहीं हैं, हम अन्धविश्वास की अपेक्षा आत्मविश्वास को अधिक मूल्यवान् समझते हैं क्योंकि वह हमें अपनी भाषा, अपनी अनुभूति, अपनी सीमाओं और अपनी मर्यादाओं द्वारा प्राप्त होता है । मानव की अपूर्णता के लिए प्रायश्चित्त करना उनके लिए आवश्यक है जो महान् मानव को सन्दर्भ में रख कर अपना मूल्यांकन करते हैं । वास्तविक मानसिक दासता का समर्थन वहीं हो जाता है, जहाँ ऐसी विचारधारा मानव अपूर्णता को ढँकने के लिए तरह-तरह के आवरणों और मुखौटों का आश्रय लेती है, उसके लिए प्रायश्चित्त एवम् ग्लानि से काम लेती है और इस धारणा से प्रशासित होती है कि मानव जीवन किसी विराट् के सम्मुख आत्म-समर्पण के सिवा कुछ नहीं है—यह उसकी उपलब्धि है और उसकी अन्तिम नियति ।

इसके विपरीत लघुता पर आग्रह करने वाली विचारधारा कई अर्थों में भिन्न एवम् अतिरिक्त स्थितियों का समर्थन करती है । वह मानव अपूर्णता को हेय नहीं समझती, न ही वह किसी विराट् महानता के लिए अपना अस्तित्व सारहीन समझती है । वह अपनी लघुता को भी महत्त्वपूर्ण मानती है, अपनी सीमाओं को भी अर्थ देना चाहती है; और इस प्रकार न तो वह दूसरों की सीमाओं को काटना-छाँटना चाहती है और न वह अपनी सीमाओं में प्राप्त उपलब्धियों को किसी भी नारे को साथ बलिवेदी पर चढ़ाना चाहती है । उसकी मर्यादा इस में नहीं स्थापित होती कि कितनों ने विराट् के मुख में प्रवेश किया, वरन् उसकी मर्यादा इस में स्थापित होती है कि कितनों ने उस विराटत्व के सम्मुख अपने लघु अस्तित्व को भी महत्त्वपूर्ण अर्थ दिया है । लघुता के समर्थन का एक स्पष्ट निष्कर्ष यह निकलता है कि हम सहगामी होने के साथ समानता का समर्थन करते हैं और प्रत्येक छोटी अनुभूति एवम् छोटी से छोटी उपलब्धि को महत्त्वपूर्ण मानते हैं । महानता या विराटता का भाव अविश्वास से प्रारम्भ होता है । मानव मात्र में उसकी आस्था इन्हीं कारणों से दृढ़ नहीं हो पाती और वह समस्त मानवता को एक क्रमबद्ध ऊँचे-नीचे के परिप्रेक्ष्य से देखने का प्रयास करती है । उसकी दृष्टि में महत्त्व शृंखला का है, मुक्त स्वतंत्र दानों और कड़ियों का अस्तित्व उनके लिए नहीं है; क्योंकि वे लघुता के प्रतीक हैं और अपने साथ उस सुमेरु की स्थापना नहीं करते जो मस्तक पर ताज रखकर गिनती के आदि और अन्त के बीच एक विराम की भांति स्थित है ।

यह सत्य है कि महानता अथवा विराटता की कल्पना के साथ कई चीजें स्पष्ट हो कर उभरती हैं, व्यवस्था का बोध होता है, संस्कार का समर्थन मिलता

हैं, विधान की एकरसता मिलती है, आकार की संभावना चित्रित हो कर उभरती है, किन्तु इसके साथ-साथ यह भी होता है कि मानव संघर्ष और उसके व्याप्त यथार्थ के प्रति एक प्रकार की अनास्था भी इन्हीं सीमाओं में उपजती है जो व्यवस्था के नाम पर स्वत्व को छीन लेना चाहती है, संस्कार के नाम पर विवेक का अपहरण कर लेती है, विधान के नाम पर जिज्ञासा छीन लेती है, आकार की सँभावना में कल्पना पर प्रतिबंध लगा देती है, आकार का नारा देकर विविधता की बृहत् भावना छीन लेती है, और महानता के नाम पर यह आदेश देना चाहती है कि 'लघुता' केवल अपनी 'लघुता' को एक सारहीन कलंक मान ले जिस से कि महानता प्रतिष्ठित हो और सुमेरु स्थापित हो ।

किन्तु, आज का भावबोध किसी भी दर्शन-चिन्तन के आधार पर यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है कि कोई भी व्यवस्था बिना 'लघुता' के अस्तित्व को स्वीकार किये जी सकती है अथवा कोई भी आकार बिना विविधता का समर्थन किये अंकित किया जा सकता है, अथवा कोई भी संस्कार विवेक से अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है अथवा कोई भी महानता मानव मुक्ति और मानव नियति के लिए अनिवार्य है । मुक्ति का रूप विविधता में प्रस्फुटित होता है, उसकी अभिव्यक्ति माला के सूत्र में नहीं, स्वतंत्र उन्मुक्त जीवन में होती है । 'लघुता' के सामर्थ्य के साथ जिस मुक्ति की स्थापना का आज के समसामयिक दायित्व से संबन्ध है उसका प्रथम स्वर ही विविधता को स्वीकार करके चलता है । मुक्ति की कोई कल्पना बिना उस वैविध्य के संभव नहीं है । 'लघुता' जिस विविधता का परिपेषण करती है उस का भाव-स्तर ही इस बात से परिचालित होता है कि मनुष्य की विशिष्टता में यदि आज हमारा विश्वास है तो उस की विशेषता को देखते हुए विविध होने का अधिकार, शंकाकुल होने का अधिकार, जिज्ञासा में अन्वेषण और प्रयोग का अधिकार, बौद्धिक विवेक का अधिकार और प्रत्येक व्यवस्था के प्रति प्रश्न करने का अधिकार देना पड़ेगा । बिना इस स्वीकृति के न तो आज के युग का दायित्व निभाया जा सकेगा और न ही मानव विचारधारा को वह मानवीय स्तर ही मिल पायेगा जो लघुमानव में अधिक से अधिक आत्म-विश्वास प्रदान करके उसे नयी संभावनाओं को आँकने और ग्रहण करने के लिए आवश्यक और अनिवार्य है ।

आज के मूल्यगत संक्रमण का एक मात्र कारण यह है कि अभी तक हम वर्तमान समस्याओं को इस दृष्टि से नहीं देख पाये हैं । इसके विपरीत जिस स्तर से अब तक हम इन समस्त विषयों पर दृष्टिपात करते रहे हैं उन में न तो कहीं आज के विशृंखल एवम् टूटे हुए मनुष्य को उसका खोया हुआ सम्मान वापस मिल रहा है और न ही गत दो महान् युद्धों में टूटी हुई मानवता को कहीं से उभरने

का बल और साहस ही मिल रहा है। आज की सब से बड़ी विडम्बना यह है कि एक ओर तो हमारे पास वह समस्त वैज्ञानिक एवम् सामाजिक उपलब्धियाँ हैं जो हमें ज्ञानसम्पन्न बनाती और आधुनिक बोध देने का साधन देती हैं और दूसरी ओर भावनात्मक स्तर पर हमारे अन्दर वे रूढ़ियाँ भी हैं जिन के कारण हमारी कल्पनायें कुण्ठित हो जाती हैं और विवेक निष्फल सा प्रतीत होने लगता है। सामाजिक स्तर पर एवम् वैयक्तिक स्तर पर आज भी हम किन्हीं ऐसी संस्कार-बद्ध रूढ़ियों से परिचालित हो रहे हैं कि हम अपने बौद्धिक एवम् सामाजिक दायित्वों में एक दूसरे को विरोधी तत्त्व मान कर चलने लगे हैं, जिसका साक्षात परिणाम यह हुआ है कि हम मानव विशिष्टता और उस के संदर्भ से दूर हट कर मनुष्य के प्रति घोर अनास्था की दृष्टि विकसित करने लगे हैं। इसी अनास्था का अन्तिम फल यह है कि सम्पूर्ण मानव जाति को या तो हम अनिश्चयवादी ईश्वरीय शक्ति से बाँध देते हैं या उसे उस महामानव के चरणों पर टिका देते हैं जो बलि लेकर सम्पूर्ण मानवता को केवल कठपुतली बनाकर छोड़ देता है। इन दोनों स्थितियों में मनुष्य की अपनी परिधियों और सीमाओं का महत्त्व घट जाता है और वह अपनी विशिष्टता के महत्व को न समझ सकने के कारण जीवन की इतर प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख हो कर यथार्थ से वंचित रह जाता है।

कथा आज के मानव जीवन के उस धरातल की है जहाँ मूल्य टूट गये हैं, संवेदनाएं बिखर गई हैं, अनुभूतियाँ सैकड़ों उतार-चढ़ाव के बाद इतने तनावों में बनती और बिगड़ती हैं कि उनका एक रूप अथवा एक स्तर नहीं रह जाता। समाज की चोट से घायल व्यक्ति आज समाज का विद्रोही भी हो सकता है और आत्म-हत्या भी कर सकता है। विद्रोही हो कर मरने वाले के प्रति श्रद्धावान् होने की परम्परा साहित्य, संस्कृति और इतिहास में तो बराबर मिलती रही है; किन्तु वह जो आज की व्यवस्था के सामने टूटता है उसका महत्त्व क्या कम है? क्या उसका टूटना या विघटित होना भी सत्य नहीं है? क्या प्रेमगाथा का रूप संगीतमय ही हो सकता है? क्या यह भी संभव नहीं है कि वह केवल गद्यात्मक और धुंधला भी हो? वस्तुतः आज का जीवन इतने संघर्षों से गुज़र रहा है कि उसमें मरसिया और कसीदा, विलाप और विलास दोनों साथ-साथ करने पड़ते हैं। इसकी अनुभूति और यथार्थ को हमारे प्राचीन ग्रन्थों ने स्वीकार तो किया था; किन्तु उनके पास ऐसे अवसर थे कि वे उन से विरक्त होकर शिव को ही चित्रित कर सकते थे, पर आज के जीवन में उन अशिव तत्त्वों की अवहेलना करके आदमी ज़िन्दा नहीं रह सकता। आज की कुन्ती के सामने पुत्रशोक भी है

और क्षुधा भी । जैसे महाभारत के अंत में कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में अपने पुत्रों पर करुण विलाप करते-करते जब कुन्ती को क्षुधा लगी तो अपने ही पुत्रों की लाश पर चढ़ कर बेर तोड़ने लगी और जब क्षुधा शान्त हुई तो कृष्ण ने व्यंग्य किया कि वह जिनके लिए रो रही है उन्हीं की लाश पर बैठी खा भी रही है—इसी प्रकार आज के जीवन में इन रागात्मक विस्फोटों का भी एक आधार है जो उतना ही कटु है जितना कि कुन्ती का था । अन्तर यह है कि तब कुन्ती ने भगवान के व्यंग्य को उन्हीं की महिमा मान लिया, किन्तु आज का मनुष्य उसे भगवान की महिमा न मान जीवन का कटु यथार्थ मानता है ।

अब यह प्रश्न उठता है इन वस्तु-स्थितियों में वह कौन-सा मानवीय स्तर है जिसके प्रति आज का जागरूक भावबोध समस्त उत्कण्ठा के साथ विकसित हो रहा है ? निश्चय ही वह भावबोध किसी ऐसे मनोरंजन अथवा दिल-बहलाव से द्रवित नहीं होता जिसका उद्देश्य केवल उक्ति-वैचित्र्य या चमत्कार-वैचित्र्य तक ही सीमित रहे । आज का भावबोध उस स्तर का समर्थन एवम् प्रतिनिधित्व करता है जिन में मनोरंजन की अपेक्षा जीवन की सक्रियता को बल मिला है । चमत्कार और वक्रोक्ति की भाषा से अधिक जीवन की भाषा को महत्त्व मिला है, इसीलिए :

● नैतिक स्तर पर नयी कविता का यह आग्रह है कि जीवन के यथार्थ तत्त्वों से पृथक् किसी भी नैतिकता का मानचित्र नहीं प्रस्तुत किया जा सकता । नैतिकता का वास्तविक रूप बाह्यारोपित न हो कर जीवन से अनुशासित होता है और इस जीवन के संदर्भ का वास्तविक और उचित रूप विवेक की हत्या करके नहीं प्रस्तुत किया जा सकता, वरन् उस का औचित्य और परिवेश, उसकी सीमा और मर्यादा जीवन के क्षण-प्रतिक्षण के समर्थन द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है; और इस समर्थन में भी मात्र समर्थन पर्याप्त नहीं है, वरन् समर्थन के साथ-साथ सक्रिय योग-सहयोग, आदान-प्रदान भी शामिल है ।

● सामाजिक स्तर पर नयी कविता यह नहीं मानती कि कला में केवल वही महत्त्वपूर्ण है जो समाज का आवरण लेकर प्रस्तुत होता है । समाज का यथार्थ किसी महानता ही में नहीं व्यक्त होता । उसका चित्रण और उसकी अभिव्यक्ति उस लघु परिवेश में भी है जिसे हम अपने fast tempo अथवा महानता के आवेश में सदैव उपेक्षित समझते आये हैं । यदि आज की सामाजिक गति जीवन के इस आवेश को व्यक्त करती है तो गति की मर्यादा भी इसी में है कि हम उस तीव्रता में भी उन लघु परमाणुओं के स्वत्व की रक्षा करते चलें । नयी कविता इस दायित्व के साथ चलती है कि जीवन की तीव्र से

तीव्र गति में भी इन नन्हे और लघु परमाणुओं का वही स्थान है जो महान् का हो सकता है ।

● सांस्कृतिक स्तर पर भी नयी कविता मिथ्या सांस्कृतिक आग्रहों की अपेक्षा उस सांस्कृतिक आधार का पोषण करती है जो प्रत्येक स्थिति में मानव मात्र में निष्ठावान् हो कर उसके विभिन्न स्तरों को अनुभूति के माध्यम से व्यक्त करता है । यह सत्य है कि नयी कविता संस्कृति के नाम पर न तो आर्य-समाज जैसी संस्थाओं को महत्त्वपूर्ण समझती है जो केवल प्राचीन गौरव-गाथा कह कर सहसा हमारी कल्पनाओं को कुंठित करके इसलिए बाध्य करती हैं कि हम समसामयिक और आधुनिकता को महत्त्वहीन समझें ।

● वैज्ञानिक स्तर पर आज के भावबोध के सामने भावुकता की अपेक्षा यथार्थ की कटुता को महत्त्व देने का बहुत बड़ा दायित्व आ पड़ा है । अभी तक हमारा जीवन, बौद्धिक स्तर पर, उन भावोन्मेषों को नहीं कसता था जो केवल ऊपरी ढंग से समस्याओं को छू कर समाप्त हो जाते थे । आज का भावबोध एवम् सौन्दर्यबोध इस बौद्धिकता को भी महत्त्वपूर्ण मानता है । जैसे जीवन की व्याख्या बिना उस ऐतिहासिक विकास-गाथा के अधूरी है जो युगों-युगों से हमारे जीवन के अंश में विद्यमान है, ठीक उसी प्रकार आज के भाव-बोध को उस समय तक नहीं समझा जा सकता जब तक अनुभूतियों के साथ हमारा बौद्धिक सम्बन्ध उतना नहीं होगा जितना कि रागात्मक सम्बन्ध होता है ।

● सृजनात्मक स्तर पर उस उदात्त मनोवृत्ति का विश्लेषण-बोध इस बात का आग्रह करता है कि मानव संदर्भ की प्रत्येक अनुभूति उतनी ही मूल्यवान् है जितनी कि वह मानव विशिष्टता जिस के आधार पर आज का भावबोध विकसित हुआ है । परिप्रेक्ष्य की दृष्टि से एवम् आधुनिकता के परिवेश में साधारण जन की मुख्य चेष्टा एवम् उसकी लघुता का महत्त्व बिना सम्पूर्ण अस्तित्व को समझे संभव भी नहीं है । इसीलिए सृजनात्मक स्तर पर नयी कविता किसी भी प्रकार की वर्जना से अनुप्राणित न हो कर आवश्यक सहानुभूति को अनिवार्य मानती है । सृजन की प्रेरणा हमें जीवन और यथार्थ से प्राप्त होती है इसलिए उसके सम्बन्ध में आज हमारी वह रहस्यात्मक दृष्टि भी नहीं रह गई है । आज सृजन का अर्थ केवल अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि संदर्भ और परिवेश के यथार्थ का एकांगीकरण करके संवेदना की अभिव्यक्ति है ।

अब तक की साहित्यिक कृतियों में कुछ विशेष स्वर हैं जो आज की भाव-धारा को अधिक स्पष्ट करते हैं । ये स्वर किसी पराजित पीढ़ी के स्वर नहीं हैं

और न ही इन में किसी दिग्भ्रान्त अनिश्चित यात्री का एकालाप ही है। इन स्वरों में आज के तीखे व्यंग्यों के बीच भी एक नैतिक मानदण्ड को स्वीकार करने की क्षमता है और उस मानव के प्रति आस्था है जो इन संघर्षों में बिखरने के बावजूद भी किसी आधार पर दृढ़ रह कर उबरना जानता है। यद्यपि यह सत्य है कि आज बहुत से मानचित्रों की सीमायें टूट रही हैं। स्थापित आदर्शों के धरातल नष्ट हो रहे हैं, अधिकांश पूर्वस्थापित धारणायें आज की समस्याओं के साथ अग्रसर नहीं हो रही हैं फिर भी यह कहना कि आज का मानव इस अनिश्चय अथवा अपरिचित के प्रति पराजित भावना से हताश हो चुका है, अथवा यह कि आज वह अपने अस्तित्व को एक तिनके का सहारा मान कर उसे सब कुछ मान बैठा है, ग़लत है। आज अपने अस्तित्व के प्रति उसका आग्रह इसलिए है कि वह जानता है कि आज के जीवन में और आज की विषमताओं में कोई भी उसे मार्गदर्शन नहीं करा सकता, किसी भी अन्य विश्वास को लेकर वह अग्रसर नहीं हो सकता, साथ ही किसी भी व्यक्तित्व के सामने वह आत्मसमर्पण नहीं कर सकता। वह यह भी जानता है कि बिना अपने अस्तित्व के प्रति आस्थावान् हुए वह न तो दूसरे के अस्तित्व के प्रति आदर का भाव रख सकता है और न ही उस आदर के भाव के बिना वह अपने दायित्वों का निर्वाह कर सकता है।

आज से वर्षों पूर्व युद्ध विभीषिका के उपरांत हम ने यह देखा था कि इतिहास के समस्त आयाम केवल शंकाकुल, भयत्रस्त और जर्जर विकृतियों से परिपूर्ण थे। यही कारण है कि युद्धोपरान्त सारा भावबोध इस व्याख्या से प्रारंभ ही होता है कि मानव नियति और उसकी परिणति मनुष्य के स्वाभिमान को सुरक्षित रखने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसके समस्त परिवेश और उसके नगण्य से नगण्य को भी महत्त्वपूर्ण समझें। आज वह यह अनुभव करता है कि स्वयम् अपने अस्तित्व की रक्षा करने के लिये सर्वथा नये पथ का अनुसरण करना होगा और कहना होगा——

गाओ. . .
कोई किनारे से लग जाये
अपने अस्तित्व की शुद्ध चेतना जग जाये
जल में
ऐसा उबाल लाओ !

—दुष्यंतकुमार

और जब हम अस्तित्व की बात करते हैं तो उस पर हमारा बल इसलिए नहीं होता कि हमारा अपने अस्तित्व के प्रति किसी प्रकार का विशेष मोह है

अथवा हम किन्हीं कुण्ठावादी मनोवृत्तियों में पड़ कर अपने को प्रछन्न रूप से कोई विशेष विकृति का पात्र बनाना चाहते हैं वरन् हमारा ध्येय मात्र इतना होता है कि हम उस समूह मानव में पशु के समान अस्तित्वहीन होकर नहीं जीना चाहते। हम न्यूकिल्यर की भांति गतिशील और क्षमताशील हैं। आज इस बात को अधिक बल से कहने की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गई है क्योंकि जिन शिवरों में आज की समस्त मानव बौद्धिकता बँटी हुई है उसको देखते हुए यह आवश्यक हो गया है कि प्रत्येक देश-काल में स्थित व्यक्ति मानव अपने परिवेश के अनुकूल अपने अस्तित्व को महत्त्वपूर्ण समझ कर परिचालित हो और जीवन की गतिशीलता में सक्रिय भाग लेकर उसे वह चेतना प्रदान करे जिस से ऐसी संभावनायें कम हों।

नयी कविता ने इन मूल प्रश्नों को एक बार फिर बड़ी जागरूकता और साहस के साथ उठाया है और उस समूचे वातावरण के बीच में उस आधार को ढँढ़ने का प्रयत्न किया है जिस पर आज के जीवन की विषमताओं के बावजूद जिया जा सके और जीने के साथ-साथ व्यक्ति मानव को वह स्वाभिमान मिल सके जिस से उसकी स्वतंत्रता पर कोई बोझ न हो।

डा० धर्मवीर भारती के 'अन्धा युग' की मौलिक समस्या इन्हीं मूल्यों और मर्यादाओं के अन्वेषण को लेकर उपस्थित हुई है। इस गीति-नाटक की यही विशेषता है कि युद्धोपरान्त आज के जीवन की विषमता को महाभारत जैसे महा-युद्ध के अंतिम भग्नावशेषों की जीवन-गाथा के साथ रख कर देखने की चेष्टा की गई है। युद्धोपरान्त संस्कारों की विकृतियों में सार मूल्य हिल जाते हैं उनकी आधार-शिलायें जीर्ण हो जाती हैं क्योंकि यथार्थ के रूप विभिन्न आकारों-प्रकारों में हमारे सामने प्रस्तुत होकर वास्तविकता और औचत्य की सीमाओं को तोड़ने लगते हैं; और ऐसा होता इसलिए है कि प्रत्येक युद्ध के बाद जो शेष बच रहता है वह बहुत कुछ ऐसा ही होता है जैसा कि कवि ने लिखा है।

> **"युद्धोपरान्त,**
> **यह अन्धा युग अवतरित हुआ**
> **जिस में स्थितियाँ, मनोवृत्तियां, आत्माएं सब विकृत हैं**
> **है एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की**
> **पर वह भी उलझी है दोनों पक्षों में**
> . . . .
> . . . .
> **शेष अधिकतर हैं अन्धे**
> **पथ भ्रष्ट आत्महारा, विगलित**

अपने अनार के अन्ध गुफाओं के बासी
यह कथा उन्हीं अन्धों की है
यह कथा ज्योति की है अन्धों के माध्यम से......

फिर इन स्थितियों में जब कि सत्य के रूप को दोनों पक्ष अपने-अपने स्वार्थ के लिए तोड़ते हैं, यथार्थ को अपनी-अपनी दृष्टि से घात-व्याघात पहुँचाते हैं, मर्यादाओं का अतिक्रमण कर के उसे घिनौना बता देते हैं, तब उस व्यक्ति-मानव के लिए बड़ा संकट उपस्थित हो जाता है जो दोनों पक्षों को एक विवेक की दृष्टि से देख कर दोनों को असंतुलित जीवन-गाथा से पृथक् अपने अस्तित्व को, साधारण जन के अस्तित्व को अथवा उस लघुमानव के अस्तित्व को इन दिग्भ्रमों के साथ विवेक और मानव विशिष्टता के प्रति विश्वास रखते हुए ले चलना चाहता है। आधुनिक युग की सब से बड़ी विषमता यही है कि शान्ति से लेकर युद्ध तक के नैतिक संदर्भों के दो रूप प्रस्तुत हैं और ये दोनों रूप जीवन के यथार्थ से न प्रेरित होकर 'महामानववादी' विचारधारा अथवा अतिवादी विचार-धारा से प्रभावित हैं। सत्य, अर्द्धसत्य, सापेक्ष सत्य, इन तीनों ने जीवन को खण्ड-खण्ड करके छोड़ दिया है। और आज इसीलिए यह आवश्यक हो गया है कि मनुष्य पथप्रदर्शकों की अपेक्षा अपनी दृष्टि से काम ले, भावनात्मक प्रोत्साहन की अपेक्षा विवेक से काम ले, पूर्वाग्रहों की अपेक्षा स्वयम् अपने अनुभव पर विश्वास करे, दूसरों की उपलब्धियों की अपेक्षा आत्मोपलब्धियों के सहारे आगे की ओर अग्रसर हो। और तब हमें इस बात का मूल्य मालूम होगा कि प्रत्येक स्थिति के प्रति शंकाकुल होकर, उसके प्रति मूल रूप से विश्वास की विवेचना कर के; आज नया कवि जिस बात को जानना और पहचानना चाहता है वह है किसी भी वस्तु-सत्य का सापेक्ष मूल्य और उसकी सापेक्ष उपयोगिता। जो मूल भावना आज के नये कवि को संदिग्ध होकर सत्य के नये आयामों की उपलब्धि देती है वह उसके जीवन से सम्बद्ध होने के नाते उन शंकाकुल मन:स्थितियों की विकृतियों से बचा लेती है जो अन्यथा रूप में उसकी चेतना को नष्ट करने की क्षमता रखती हैं। जैसा कि कहा जा चुका है, बौद्धिकता और जिज्ञासा मिश्रित आधुनिक भावबोध पूर्वनिश्चित अथवा मात्र परम्परा से चले आनेवाले किसी भी नैतिक आग्रह को यों ही नहीं स्वीकार कर सकता, ठीक उसी प्रकार किसी भी व्यवस्था, किसी भी स्थापित मूल्य के प्रति शंका उन्पन्न करना या उसे पुन: किसी निरीक्षण अथवा परीक्षण द्वारा आत्मोपलब्धि की सीमा तक ले जाना, बड़े ही स्वस्थ भविष्य के लक्षण हो सकते हैं। जैसे भारती कथागायकों द्वारा यह कहलाते हैं :—

टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा
उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है
पाण्डवों ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा
यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है
क्या अजब युद्ध है नहीं किसी की भी जय
दोनों ही पक्षों को खोना ही खोना है
अन्धों से शोभित था युग का सिंहासन
दोनों पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों पक्षों में जीता अन्धापन **—भारती**

वास्तव में आज की समस्त जागरूक चेतना के सामने ठीक यही प्रश्न है जो बार-बार और अनेक रूप में प्रत्येक मानव के सामने है। युद्ध और शान्ति के बीच में जितना विस्तार है, उसने आज इन प्रश्नों को भी दोहरा रूप दे दिया है। वे धरातल जिन पर कभी संघर्षरत मानवता ने इन को एक निश्चित रूप दे दिया था आज वे नहीं हैं। साथ ही आज वह परिवेश और वातावरण भी शेष नहीं है जिस में उनका मौलिक रूप किसी भी प्रकार उपयोगी हो सका। मर्यादा का एक रूप आज कायरता में अभिव्यक्ति पा रहा है, सत्य का एक रूप आज केवल स्वार्थ-साधन का नारा मात्र बन गया है, विवेक का एक रूप आत्म-समर्पण की सीमा में कुत्सित हो चुका है, युद्ध धर्मार्थ भी है और संहारार्थ भी, शांति युद्धार्थ भी है और शोषणार्थ भी और तब इन समस्त विकृतियों में कभी हमें केवल अर्द्ध सत्य ही मालूम होने लगता है और कभी निरपेक्ष सत्य ही सर्वोपरि होकर दृष्टिगोचर होने लगता है। ऐसी परिस्थितियों में मानव मुक्ति का मार्ग कहाँ है? मानव नियति का लक्ष्य क्या है? मानव भावना का अस्तित्व कहां है? मनुष्य को मनुष्य रूप में समझने को क्षमता कैसे मिले—आदि प्रश्न है जो आधुनिक चिन्तक को बार-बार उद्वेलित करते हैं और जिनका अर्थ जाने बिना, औचित्य समझे बिना, आज की मानव जिज्ञासा शान्त नहीं हो सकती।

नयी कविता का आग्रह जो बहुधा ग़लत समझा जाता है उसका एक मात्र कारण यह है कि नयी कविता में व्यक्त अनुभूतियां इन्हीं परिस्थितियां से उपजती हैं और इन से उपज कर वे हमारी समस्त चिन्तन-शक्ति तथा अनुभूति-शक्ति को इन्हीं सीमाओं में विकल कर के छोड़ देती हैं। आज के नये कवि के प्रति जो मूल समस्या है इसीलिए वह इतनी सरल नहीं है। उसे अपना मार्ग स्वयम् तो ढूँढ़ना ही है साथ ही उसे किसी भी ऐसे मानदण्ड का सहारा भी नहीं लेना है जो केवल पूर्वाग्रह और पूर्वनिश्चित होने के नाते सर्वथा मान्य मान लिया जाता है। हो सकता है कि इस लम्बी यात्रा में कुछ भटकाव हो, कुछ स्थल ऐसे हों

जिन में यह लगे कि सारा नया भावबोध एक मरुस्थल में सूखा जा रहा है; किन्तु किसी भी नयी प्रवृत्ति की नयी समस्यायें उसे यह स्थिति दे सकती हैं। इन से उबर कर निकलता वही है जिसे अपनी बुद्धि और विवेक पर भरोसा होता है। यदि नयी कविता में यह प्रवृत्ति नहीं रही तो निश्चय ही एक मिथ्या कला (pseudo art) के रूप में वह कुछ दिनों के बाद समाप्त हो जायगी।

वस्तुतः 'अन्धा युग' नयी कविता की अधिकांश समस्याओं का ठीक प्रतिनिधित्व करता है और उन संस्कारच्युत मूल्यों को पुनः नयी शक्ति से प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। आज के संदर्भ में नैतिक स्तर पर जो प्रश्न बार-बार हमें व्याकुल कर देता है वह है —

अन्धे युग में जब-जब शिशु भविष्य मारा जायगा ब्रह्मास्त्र से
तक्षक डसेगा परीक्षित को
या मेरे जैसे कितने युयुत्सु
कर लेंगे आत्मघात
उनको बचाने कौन आयेगा....?

—भारती

आज के इस संक्रामक युग में भविष्य की यह कल्पना भी बहुधा हमें आहत करती है और इसीलिए हमारे लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि हम अपने समसामयिक दायित्व को पूर्ण शक्ति के साथ और समूची तत्परता के साथ निभायें ताकि हमारे परिवेश में वह क्रियाशील चेतना सतत परिचालित हो सके जो भविष्य को यथार्थ की दृष्टि के साथ-साथ मानव विशिष्टता के आधार पर विकसित कर सके। भविष्यवादियों के मिथ्या स्वप्नलोक (pseudo fancies) का विरोध इसीलिए नयी कविता के लिए अनिवार्य हो जाता है; क्योंकि वह जो अपने समसामयिक और वर्तमान के प्रति जागरूक दृष्टि रखता है, उसका भविष्य कभी भी अधकचरा नहीं रह सकता। ऐसा इसलिए है कि भविष्य भी वर्तमान की सापेक्षता के साथ निर्मित होता है और यदि वर्तमान में यह दृष्टि है तो निश्चय ही उसमें वह क्षमता भी होगी जिस से वह उन सब तत्त्वों का निर्माण कर सकेगा जो भविष्य को अधिक समृद्ध रूप से परिचालित करने की क्षमता रख सकेंगे। इसीलिए आज के नये कवि की वाणी में यह शक्ति है कि वह साहस के साथ यह कह पाता है कि —

मेरी प्रगति या अगति का
यह माप दण्ड बदलो तुम

I have not much faith nor even much faith in faith. I put more faith in goodness, which can exist without faith and may indeed be the product of doubt. —THOMAS MANN

जुए के पत्ते सा
मैं अभी अनिश्चित हूँ।
मुझ पर हर ओर से चोटें पड़ रही हैं
कोपलें उग रही हैं
पत्तियाँ झड़ रही हैं
मैं नया बनने के लिये खराद पर चढ़ रहा हूँ
लड़ता हुआ, नयी राह गढ़ता हुआ आगे बढ़ रहा हूँ

—दुष्यंतकुमार

आज साहित्य या साहित्येतर जीवन में जिस बात का संघर्ष है उसमें इतना महान अन्तर नहीं है जितना कि छायावादी युग या प्रगतिवादी युग में था। साहित्येतर जीवन आज के साहित्य में अधिक शक्ति के साथ प्रतिबिम्बित दीख पड़ता है। हाँ अन्तर यह अवश्य है कि आज का साहित्य मात्र साहित्येतर जीवन का ग्राफ़ बन कर नहीं रह गया है, वरन् उसकी अन्तर्वेदना और उसके यथार्थ को समान रूप से साक्षात्कार करता हुआ चल रहा है। संघर्ष आज इस बात का नहीं है कि कौन कितना और किस सीमा तक उस यथार्थ का साक्षात्कार करता चलता है वरन् बात आज यह है कि जिस सीमा में भी आज का यथार्थ साहित्य में आ रहा है वह परम्परा गत विकृतियों से मुक्त है प्रथम तो यह कि आज के साहित्य में, विशेष कर नयी कविता में, यथार्थ का वह सतही रूप नहीं है जो पिछले दो दशकों में प्रगतिवाद ने प्रस्तुत किया। दूसरी विशेषता यह है कि आज के साहित्यिक परिवेश में जीवन का वैविध्य अधिक है और यह वैविध्य इस बात का द्योतक है कि आज की साहित्यिक प्रवृत्ति में अनुभूति की वास्तविकता एवम् सच्चाई पर अधिक आग्रह है, उसकी एकरूपता और एक स्वरबद्ध आलाप के प्रति सहज विद्रोह की भावना स्पष्टतया दिखलाई पड़ती है। तीसरी विशेषता जो खास इस युग की विशेषता है और जिसका प्रयास तक हमें छायावाद और प्रगतिवाद में नहीं मिलता, वह है लघुमानव के लघु परिवेश की सबल अभिव्यक्ति की बात।

अतः आज की नयी कविता उस दिशागति (directional movement) को अधिक तीव्रता से अभिव्यंजित करती है जिस में स्वच्छन्दता मर्यादित यथार्थ से संचालित होती है, प्रगति लघु मानव के सशक्त आग्रहों को स्वीकार करती है, सौन्दर्यबोध बौद्धिक चेतना को स्वीकार करता है, काव्य दृष्टि में समसामयिकता के दायित्व के साथ यथार्थ के निर्वाह का आग्रह है, समूह-मानव की चेतना को उस व्यक्ति-मानव के अहम् से संलिष्ट होना पड़ता है जो

वर्षातप में, संघर्षों के निलय-विलय में पकता-सीझता अपने अस्तित्व के लिए संघर्षशील है।

नयी कविता की इस दिशा-गति में कवि जिस क्षण और जिस अनुभूति को व्यक्त करता है वह उसी क्षण और उसी अनुभूति तक नहीं रह जाता बल्कि उसमें समस्त परिवेश की गूंज भी व्यक्त होती है जिससे संघर्ष करता हुआ उसका जीवन बीता है। बहुधा लोग इस विविधता को शिथिलता कहकर उसकी अवहेलना करना चाहते हैं; किन्तु इस विविधता में शैथिल्य नहीं है वरन् उस समस्त परिवेश को हस्तांरित करने का प्रयास है जिसका यथार्थ भावनाओं से क्षण-प्रति-क्षण टकराता रहता है। एक स्थिति में यह चेतना उस क्षण का दायित्व निभाती है जिसमें अनुभूति विशेष से अभिभूत होकर वह अभिव्यक्ति ढूंढ़ती है। इस प्रकार जो भावस्थिति पैदा होती है, उस में कभी-कभी वह जटिलतायें भी उभर आती हैं जिन को समझने में कठिनाई होती है। किन्तु इन स्थितियों की चेतना और वर्तमान यथार्थ की जागरूकता में जिन भाव-स्थलों की अभिव्यक्ति मिलती है उनमें जीवन का वह तत्त्व अधिक ईमानदारी से व्यक्त होता है जो क्रियाशील एवम् ऐतिहासिक दायित्व से ओतप्रोत रहता है। इन स्थितियों के कारण जो विविधता आती है उसकी शिथिलता का दायित्व भी आज के युग की मन:स्थिति का है।इस का सफल चित्रण हमें बहुधा मदन वात्सायन की कविताओं में मिलता है, जैसे—

नाली तो मोज़ेक की है
नक़शे तिल्ले वाली,
सजी धजी,
सारी बू अपने अन्तर में समेट कर
छिपा कर बहा देती है—
इतनी कृपालु
केट केली उर्वषी है
समुद्र से उत्पन्न वह उर्वषी नहीं।

—मदन वात्सायन

स्पष्ट है कि नयी कविता की इस भावस्थिति में एक नया रस उत्पन्न होता है जो विविधता के कारण ही मिल पाता है। विविधता का गुण सम्पन्नता में मिलता है। वे आलोचक जो इस विविधता में अनिश्चय की झलक पाते हैं शायद उनका विश्वास केवल अपने रूप और आकार के प्रति ही है; क्योंकि विविधता सृष्टि की समग्रता और क्षमता की द्योतक है, उसके बिखराव की नहीं। अनिश्चय की वाणी में बहुधा कायरता व्यक्त होती है और नयी कविता में इस कायरता पर व्यंग करने का एक बड़ा साहस है और साथ ही यथार्थ के कटु से कटु

अनुभव को भोगने की शक्ति भी। इसलिए नयी कविता अपनी विविधता से डरती नहीं क्योंकि विविधता 'प्रजातांत्रिक' है। अधिनायकत्व में अनिश्चय तो होता ही है, विविधता शायद नहीं होती।

एक बात इस संबन्ध में और कह देना आवश्यक है और वह यह कि जिस आत्मलीनता का आरोप नयी कविता पर बहुधा लगाया जाता है वह वस्तुतः आत्मलीनता का वह रूप नहीं है जो छायावादियों में मिलता है जिसमें केवल ऊहापोहात्मक आत्मवृत्त में सीमित कठिन और जटिल ग्रन्थियों के सिवा कुछ नहीं है।

नहीं उस भांति मैं डूबा
चलाये हाथ, लहरों से लड़ा
मानी नहीं मैंने पराजय अन्त तक
विश्वास अपने पर किया
तो क्या हुआ डूबा अगर
क्या पार जाने से इसे कम कहेगा कोई। ——जगदीश गुप्त

नयी कविता को 'अपने पर विश्वास' जिस तत्त्व ने दिया है वह है उसका बोध जो पार जाने की अपेक्षा उस संघर्षपूर्ण क्षण में रत टूट जाने को भी महत्त्व-पूर्ण समझता है, जो उसकी अनुभूतियों के समक्ष समस्त अन्तर्विरोधों के साथ उपस्थित होता है और जिसके प्रति आज का कवि पूर्ण दायित्व के साथ, सम-सामयिकता के 'नितान्त' तत्त्व के साथ जो उसके प्रत्येक क्षण को ओढ़ कर भी मुक्ति की प्रेरणा दे जाता है। यह तीव्र क्षण (intensified moment) और उस क्षण में 'आत्मविश्वास' की आस्था——यही नयी कविता की शक्ति है जिसके बिना उसका मूल्यांकन करना असंभव सा हो जायगा।

प्रश्न आज यह नहीं है कि हम किस व्यापकता का नारा लगा सकते हैं, प्रश्न यह है कि हम कितनी तीव्र अनुभूति के साथ जी सकते हैं। आज के देश-काल में जीने के लिए तीव्र अनुभूति और उस जीवन को अभिव्यक्ति देने के लिए उन अनुभूतियों के बीच अवतरित हर क्षण की तीव्रता का दायित्व——ये दो वस्तुयें हैं जो जीवन को आस्था और आत्मविश्वास दोनों दे सकती हैं। आत्म-विश्वास के साथ जीने में और आत्महीन होकर जीने में मूल्यों का एक विस्तृत अन्तर है। आत्मविश्वास की सार्थकता ही आज के उथल-पुथल-पूर्ण जीवन को संवेदना प्रदान कर सकती है; नहीं तो जिन विषाक्त परिस्थितियों में आज हम जी रहे हैं उन से उबरना कठिन तो है ही उन के प्रति अपने दायित्व को निभाने में हमें विभिन्न आपत्तियों के सामने घुटने टेक देना पड़ेगा। आज का संघर्ष मात्र नैतिक मूल्यान्वेषण का संघर्ष नहीं है वरन् उस मानव प्रतिष्ठा का संघर्ष है जिस

से समस्त नैतिक मूल्य सम्बद्ध हैं। प्रश्न आज यह नहीं है कि यह नैतिक है और वह अनैतिक है, प्रश्न तो यह है कि क्या वर्तमान युग के बीच जीवित होने के नाते मानव विशिष्टता को इतनी प्रतिष्ठा समाज, या धर्म, या शास्त्रों ने दी है कि वह स्वतंत्रचेता मनुष्य के नाते अपने लिए और अपने साथ समाज के लिए भी वे नैतिक मूल्य स्थापित कर सके जो परम्परा और रूढ़ि के नाते विकृत और अपूर्ण हो गये हैं? सब से पहला प्रश्न इस टूटे और बिखरे हुए मानव-व्यक्तित्व का है जिसको बिना फिर से स्वाभिमान और आत्म-विश्वास दिये, नैतिक और अनैतिक का प्रश्न ही उठाना ग़लत है। बालकृष्ण राव ने 'कल्पना' के फरवरी '५७ के अंक में नयी कविता पर विचार करते हुए कहा है :—

"आज का साहित्य नैतिक मूल्यान्वेषण का साहित्य है। उसकी मुखमुद्रा गंभीरता की मुद्रा है, उसकी चेष्टायें एक विचार बोझिल, चिन्ताशील व्यक्ति की अकृत्रिम किन्तु ईषत् अनाकर्षक चेष्टायें हैं। वह अनिश्चय के वातावरण में जी रहा है, ऐसे वातावरण में जहाँ सब कुछ अनिश्चित होने के कारण अपने अस्तित्व की सत्यता का बोध उसे तिनके का सहारा सा जान पड़ता है——इसी कारण वह कुछ असाधारण रूप से अपने अस्तित्व और अपने व्यक्तित्व के प्रति जागरूक है।"

बात वास्तव में यह नहीं है। इसका जो भी रूप बालकृष्ण राव जैसे चिन्तक समझें, किन्तु सच यह है कि अपने व्यक्तित्व की जागरूकता उसी को होती है जिस के सामने जीवन के संघर्षों का कटु अनुभव होने के साथ-साथ यथार्थ और सत्य को आँकने और जाँचने की शक्ति होती है, जिसके पास मूल्यों का प्रश्न होता है, जो जीवन में सक्रिय भाग लेने के साथ-साथ विवेक से मुख नहीं मोड़ता, जो बहुजन रंजनार्थ न जी कर कर्मप्रधान आत्मचेता जीव की दृष्टि के साथ जीना चाहता है। आज का कवि यदि अपने व्यक्तित्व की बात करता है तो इसलिए नहीं कि वह अनिश्चित है अथवा वह केवल मुखमुद्रा बना कर अभिनय करना चाहता है। ये मुद्रायें तो 'बहुजन रंजनार्थ' कवि-सम्मेलनों में वाह-वाह की धूम में झूमने वाले अयथार्थवादी बनाते हैं जिन के पास न कुछ देने को होता है और न कुछ लेने को। व्यक्तित्व का प्रश्न वह उठाता है जिसके पास व्यक्तित्व होता है और जो यह अनुभव करता है कि व्यक्तित्व पर कुछ असामाजिक और अतिवादी मतवादों के कारण चोट पहुँच रही है। अनिश्चय से चोट नहीं पहुँचती, वह तो मात्र एक स्थिति विशेष है। स्थिति विशेष से जो बात पैदा होती है वह तीखी नहीं होती। वास्तव में बात तो यह है कि आज का मानव क्षण-प्रतिक्षण निश्चित शक्तियों द्वारा अपने व्यक्तित्व पर प्रहार होते पाता है। यदि वह हिटलर का शासन था तो भी, और यदि वह स्टालिन का शासन था तो भी, यदि वह ब्रिटिश साम्राज्यशाही

थी तो भी और आज स्वतंत्रता का वातावरण है तो भी साधारण जन के व्यक्तित्व पर ये चोटें मात्र इसलिए पड़ती रही हैं कि समूह-मानव का अभिनय करते-करते आज का व्यक्ति-मानव ऊब गया है। उसको अपने अस्तित्व पर बल इसलिए देना पड़ता है कि वह यह अनुभव करता है कि इस समस्त प्रदर्शन में उसका अस्तित्व बिना जाने-समझे समेट लिया गया है। आज जिस मूल्य के लिए हमें जीना है उसके निर्णय में हमारा अपना कुछ भी नहीं है। केवल बड़े-बड़े नारे हैं, बड़े-बड़े पोस्टर हैं, बड़े-बड़े शब्द हैं, बड़े-बड़े आडम्बर हैं और बड़ी-बड़ी व्यवस्थायें हैं जिन के सामने मनुष्य को केवल एक अस्तित्वहीन पुर्जे के समान दूसरे के इंगति पर चलना पड़ता है। समस्या यह नहीं है कि गंभीर मुद्रायें हमने अपने ऊपर ला दी हैं, वरन् वस्तुस्थिति यह है कि ये मुद्रायें हमारी बनाई हुई हैं और इस झूठे व्यंग्य के साथ कि उन में हमारी अनुभूति है।

अस्तु, आज अस्तित्व का प्रश्न इसलिए उठता है कि हमें सत्य को यथार्थ की सापेक्षता से देखना है, अर्द्ध सत्य की विक्षिप्तता को हटा कर हमें उस विवेक को जागृत करना है जिसे हमने महामानवों और देवदूतों के मोह में खो दिया है, और निरपेक्षता के ढोंग एवम् आडम्बर के विरोध में अपने अस्तित्व की सापेक्षता एवम् अनन्त काल की सापेक्षता में समसामयिक दायित्व का निर्वाह करना है। आज के कवि को 'मा ब्रूयात् अप्रियं' की वाणी अपनानी पड़ती है क्योंकि वह उन प्रतिमाओं को—यदि खण्डित करना नहीं चाहता तो भी—कम-से-कम संग्रहालयों में रख देना चाहता है जिन की उपयोगिता आज के जीवन के समक्ष कुछ नहीं रह गई है। इसीलिए वह स्वर्ग की भी यदि बात करना चाहता है तो वह त्रिशंकु का स्वर्ग नहीं, विश्वामित्र का स्वर्ग नहीं, मानव विवेक से प्राप्त किया हुआ स्वर्ग ही अपनाना चाहता है और स्वर्ग का निर्माण भी विज्ञान के आधार पर करना चाहता है। वह इस बात में भी विश्वास नहीं करता कि अपने अस्तित्व के लिए दो विरोधी कैम्पों के बीच में हाथ जोड़े खड़ा रहे। वह अर्धसत्य का विरोधी है, इसलिए वह चाहे मार्क्सवाद हो चाहे अमरीकावाद, वह दोनों के खण्डन में विश्वास करता है क्योंकि उसका विश्वास मानव विशिष्टता और आत्मविश्वास में है। जिस मनुष्य ने इतिहास की इतनी लम्बी यात्रा समाप्त की है, वह सन्धि-रेखा पर खड़ा होकर कभी इन की और कभी उनकी प्रशस्ति गा कर जीना नहीं चाहता।

नयी कविता सक्रिय मानव चेतना का प्रतिनिधित्व करती है, इसीलिए उसमें यह क्षमता है कि वह अपने अस्तित्व पर ज़ोर देने के साथ-साथ उसके दायित्व को भी वहन कर सके। व्यक्ति स्वातंत्र्य की बात वह इसलिए बार बार उठती है कि आज भी ऐसे मनुष्य जीवित हैं जिन का सारा जीवन केवल असामाजिक

होते हुए भी समाज-चेतना की खोल में बिताया हुआ जीवन रहा है। नयी कविता इसीलिए समन्वय की अपेक्षा औचित्य पर बल देती है क्योंकि समन्वय में उचित अनुचित की बात नहीं उभरती; वरन् उस बन्दर की बात उभरती है जो न्याय करते-करते सारी रोटी खुद हज़म कर जाता है। नग्न यथार्थ से मुँह बिचका कर जो भागते हैं वही समझौते करते हैं; किन्तु जीवन इन झूठे समझौतों से टूटता है, विशृंखल होता है, उसमें न तो शक्ति आती है और न गति।

अंत में जिस बात पर हमें बल देना है वह है समाज और जीवन के साथ-साथ जो असत्य और अमर्यादित कृत्रिमतायें जीवित हैं उनके प्रति नये भावबोध की जागरूक मन:स्थितियों में उस वैज्ञानिक दृष्टि का समर्थन करना जो जीवन को समन्वय से अधिक औचित्य की ओर ले जा सके। नयी कविता में मानव व्यक्तित्व को उभारने और उस में आत्मविश्वास और आस्था के साथ सामाजिक दायित्व की भावना भरने के अंकुर विद्यमान हैं। इन्हें कोई भी प्रचार कुण्ठित नहीं कर सकता, कोई भी विवाद इन उगते अंकुरों के साहस को रोक नहीं सकता; क्योंकि इनका पक्ष यथार्थ का है, इनकी दृष्टि में कौतूहल है और इन की सांसों में संघर्ष की वह धड़कन है जो प्रत्येक क्षण के दायित्व को निभाने की वाणी मुखरित करती है।

संदर्भित पुस्तकें

अज्ञेय—हरी घास पर क्षण भर; बावरा अहेरी, तार सप्तक, त्रिशंकु ।

अजितकुमार, देवीशंकर अवस्थी—कविताएँ (१९५३) ।

कुँअर नारायण—चक्रव्यूह ।

गिरिजाकुमार माथुर—धूप के धान ।

जगदीश गुप्त—नाव के पाँव ।

दुष्यन्त कुमार—सूर्य का स्वागत ।

धर्मवीर भारती—अन्धा युग, ठण्डा लोहा, प्रगतिवाद : एक समीक्षा ।

नन्ददुलारे वाजपेयी—आधुनिक साहित्य ।

बच्चन—प्रणय पत्रिका ।

महादेवी वर्मा—आधुनिक कवि, दीप शिखा, यामा ।

राजेन्द्र किशोर—विविधा, १,२

बैरागी—बदली की बात ।

शान्तिप्रिय द्विवेदी—ज्योति विहग ।

सुमित्रानन्दन पंत—स्वर्णधूलि, अतिमा, ग्राम्या, आधुनिक कवि ।

सूर्यप्रताप सिंह—आस्था ।

Alexander, S.—Artistic Creation and Cosmic Creation.

Caudwel, C.—Studies in a Dying Culture; Further Studies in a Dying Culture.

Croce, B.—My Philosophy; The Essence of Aesthetics.

Durant, Will—The Story of Philosophy.

Durrell, Lawrence—Key to Modern Poetry.

Eliot, T. S.—Sacred Wood; The Use of Poetry and the Use of criticism; Selected Prose.

Huxley, Julian—Man in the Modern World.

Marx and Angels—Marxism.

Murrey, Middleton—The Problem of Style.

Read, H.—Collected Essays in English Criticism; The Meaning of Art; Poetry and Anarchism.

Strachy, John—Fascism and Culture.

Help Books

Arnold, Mathew.—Culture and Anarchy.

Banduin.—Psycho-analysis of Aesthetics.

Bergson.—Tune & Free Will.

Cherny Sheusky, C.—Selected Philosophical Essays.

Coates, J. B.—The Crisis of Human Person.

Durell, Lawrence.—Key to Modern Poetry.

Eliot, T. S.—Drama and Poetry.

James, William—Essays in Radical Empiricism; Pragmatism.

Lewiss, C. J.—Image.

Lucus, F. L.—Literature and Psychology.

Presscott, F. C.—The Poetic Mind.

Raymond, G. L.—The Essentials of Aesthetics.

Richardson, C. A.—Knowledge, Reality & Life.

Routh, H. V.—English Literature and Ideas in the 20th Century.

Russell, Bertrand—Mycticism and Logic.

Santyana, G.—Reason in Art; The Sense of Beauty.

Spender, Stephen—Creative Element.

U.N.E.S.C.O.—Freedom and Culture.

पत्र-पत्रिकाएँ

आलोचना, दिल्ली

कल्पना, हैदराबाद

धर्मयुग, बम्बई

नई कविता, दिल्ली-प्रयाग

निकष, प्रयाग

नये पत्ते, प्रयाग

पाटल, पटना

प्रतीक, इलाहाबाद

युग चेतना, लखनऊ

राष्ट्रवाणी, पूना

हंस, बनारस

अनुक्रमणिका

(क) लेखक

(ख) विषय

कई वर्षों से इस बात की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है कि नयी कविता के विकास के साथ-साथ उसका विवेचनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया जाय ताकि वे नये संदर्भ और नये भाव-स्तर समझे जा सकें जिनके आधार पर आधुनिक कवि की भावना परम्परागत शिल्प और कथ्य से पृथक् सर्वथा नये धरातल विकसित करना श्रेयस्कर समझती है। समय-समय पर आलोचकों की विचित्र और विभिन्न सम्मतियों को पढ़ते रहने से और उनके निष्कर्षों में निहित अपूर्ण और एकांगी सम्मतियों से मैं यह अनुभव करता रहा हूँ कि नयी कविता की आन्तरिक अथवा मूल प्रेरणा पर ध्यान न देकर बहुधा हमारे आलोचक इधर-उधर की बातों में उलझ जाते हैं और उसकी वास्तविक भाव-स्थिति को नहीं समझ पाते अथवा समझने की चेष्टा ही नहीं करते।···साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसके प्रत्येक नये मोड़ के प्रति आलोचकों ने सन्देह प्रकट किये हैं, किन्तु उन मोड़ों में यदि ईमानदारी और सच्चाई रही है तो उन्होंने कटु से कटु आलोचना के बावजूद भी अपना नया मार्ग प्रशस्त किया है।···

—लक्ष्मीकान्त वर्मा

मूल्य : ६०.००